व्याकरण-शास्त्र में समासों की शाब्दबोध-व्यवस्था

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फ़िल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्ता

दिनेशप्रसाद मिश्र

निर्देशक

डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव
प्रोफ़ेसर एवम् अध्यक्ष,
संस्कृत-विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
वैक्रमाब्द २०४६

पुरोवाक्

अङ्गीकृतं कोटिमितं च शास्त्रं, नाङ्गीकृतं व्याकरणं च येन ।
न शोभते तस्य मुखारविन्दं, सिन्दूरबिन्दुर्विधवा ललाटे ।।[1]

बाल्यकाल में पढ़ा गया यह श्लोक मुझे पूरे विद्यार्थी जीवन में व्याकरण - अध्ययन की दिशा में प्रवृत्त रहने की प्रेरणा देता रहा है, फलस्वरूप स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद व्याकरण में ही शोध कार्य करने की इच्छा मेरे द्वारा व्याकरण, दर्शन, साहित्य, ज्योतिष तथा अन्यान्य शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित गुरुवर्य प्रो० (डा०) सुरेशचन्द्र जी श्रीवास्तव के समक्ष व्यक्त की गयी, जिसे उन्होंने न केवल सहृदयता पूर्वक स्वीकृति प्रदान की, अपितु 'व्याकरण शास्त्र में समासों की शाब्द-बोध व्यवस्था' विषय का निर्धारण करते हुए, मुझे अपने स्नेहसिक्त चरणों में बैठकर व्याकरण के मर्म को समझने का अवसर प्रदान किया ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का अङ्गभूत विषय 'शाब्द बोध' का व्याकरण दर्शन में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है । व्याकरण संस्कार-सम्पन्न शब्द का प्रयोग करने से धर्म उत्पन्न होता है, जिससे जीव के समस्त कल्मष क्षीण हो जाते हैं । महर्षि पतञ्जलि ने तो यहाँ तक कहा है कि शास्त्र के अनुसार भली प्रकार जाने गये एक शब्द का भी यदि प्रयोग किया जाए, तो वह लोक परलोक में सभी कामनाओं की पूर्ति करने वाला होता है ।

"एक: शब्द: सम्यग्ज्ञात: शास्त्रान्वित:, सुप्रयुक्त: स्वर्गेलोके च कामधुग् भवति । जो व्यक्ति प्रकृति प्रत्यय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके, भली प्रकार शब्द के अर्थ को समझता है और वाणी रूपी रथ पर सवार होकर, प्रशस्त मार्ग पर चलता है तथा संस्कृत शब्द को ही मोक्ष का साधन मानकर सुचारू वाणी बोलता है, वह अपने अभीष्ट परम सुख को प्राप्त कर लेता है -

'नाकमिष्टं सुखं यान्ति सुयुक्तैर्बद्धवाग्रथैः ।
अथ पत्काषिणो यान्ति ये विक्कम्भितभाषिणः ।।'

समास भी शब्द ही है अतः उनका सम्यक् अर्थ-बोध भी लौकिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति की दृष्टि से अभीष्ट है । सम्भवतः पूजनीय गुरूवर्य डा0 श्रीवास्तव द्वारा उक्त विषय का निर्धारण कर उसमें शोध-कार्य करने हेतु प्रवृत्त करना उसी अभीष्ट प्राप्ति के लिये संलग्न रहने का सङ्केत है ।

वस्तुतः 'समासों के अर्थबोध' जैसे दूरूह विषय का ज्ञान प्राप्त करना कम से कम मुझ जैसे अल्पज्ञ व्यक्ति के लिये सर्वथा असम्भव कार्य था किन्तु गुरूवर्य की महती कृपा से असम्भव भी सम्भव हुआ फलस्वरूप मैं शोध - प्रबन्ध प्रस्तुत कर सका हूँ । वस्तुतः अनेकानेक शास्त्रों के प्रकाश स्तम्भ गुरूवर्य प्रो0 श्रीवास्तव ने व्याकरण, न्याय एवं मीमांसा शास्त्र की अनेकानेक जटिलतम गुत्थियों को भलीभाँति सुलझाकर अपने ज्ञान के प्रकाश से मेरे गहन अज्ञान - तिमिर को आलोकित किया । व्याकरण सदृश अनेकानेक शास्त्रों की गुत्थियों को सुलझाना उन्हीं के बस की बात है, जिसका लाभ मुझे पग-पग पर मिलता रहा है, जिससे मै इस दुरूह तथा श्रमसाध्य विषय का अनुशीलन कर सका हूँ । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने का श्रेय एकमात्र पूजनीय गुरूवर्य को ही है क्योंकि उनकी कृपा के बिना मुझ जैसा अल्पज्ञ इस महोदधि को पार करने में सर्वथा असमर्थ ही था । उनकी इस अहेतु की कृपा के लिये कृतज्ञता ज्ञापन की औपचारिकता का निर्वाह करने की धृष्टता महान कृतघ्नता होगी ।

मेरे भविष्य के प्रति सदैव चिन्तित रहने वाले पूजनीय पितृव्य व्याकरणाचार्य पं0 श्री चन्द्र किशोर जी मिश्र का सहयोग सदैव कृतज्ञता पूर्वक स्मरणीय है ।वस्तुतः प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उन्हीं के संकल्प,प्रेरणा,सान्निध्य एवं आशीर्वाद का ही प्रतिफल है ।

जिसके बिना न तो मेरे शैक्षणिक जीवन की पूर्णता ही सम्भव थी और न शोध कार्य करने की कल्पना ही । जिसके लिये मैं उनका आजीवन ऋणी रहूँगा । अस्तु मैं उनके प्रति भी आभार प्रदर्शित कर धृष्टता करने का दुःसाहस नहीं कर सकता ।

अग्रज श्री जगदीश प्रसाद मिश्र का भी शोध-प्रबन्ध की पूर्णता हेतु प्राप्त सहयोग किसी स्थिति में भी उपेक्षणीय नहीं है, क्योंकि वे न केवल पारिवारिक जिम्मेदारियों से मुझे पूर्णतया विरत रखते हुए निरन्तर शोध कार्य पूर्ण करने की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देते रहे अपितु आर्थिक दृष्टि से भी सम्पन्न बनाये रखकर दुनियावी समस्याओं से मुझे सदैव मुक्त रखा, जिसने शोध कार्य की पूर्णता में निश्चित ही महती भूमिका अदा की है, जिसके लिये कृतज्ञता ज्ञापित करना उनके द्वारा प्रदत्त स्नेह एवं सौहार्द्य सहयोग की अवहेलना करना ही होगा ।

संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डा० रामकिशोर शास्त्री, डा० कौशल किशोर श्रीवास्तव तथा डा० शङ्कर दयाल द्विवेदी द्वारा समय समय पर प्रदान किये गये सहयोग का शोध प्रबन्ध की पूर्णता में अपना महत्व है, अस्तु प्राप्त सहयोग के लिये उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

मित्रवर डा० अमरेश त्रिपाठी, डा० रामसेवक दुबे, श्री विवेक श्रीवास्तव असिस्टेण्ट प्रोफेसर इम्फाल यूनिवर्सिटी, श्री रामेश्वर त्रिपाठी, शरद रस्तोगी, रमेश राय, कमलेश पाण्डेय, रामबदन पाण्डेय, हरिशङ्कर पाण्डेय एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय छात्रसंघ के पूर्व अध्यक्ष श्री कमलेश तिवारी तथा कु० दिव्या झा एवं कु० रश्मि ने शोध सामग्री के संकलन एवं शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने हेतु समय-समय पर प्रोत्साहन देते हुए जो सहायता प्रदान की है उसके लिये आधार मेरा अधिकार है अथवा मेरे प्रति उनकी सहज स्नेहसिक्त भावनायें - - - । फिर भी उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ ।

इसके अतिरिक्त जिन मनीषियों की कृतियों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सहयोग प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में लिया गया है, उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

अन्त में शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करते हुए यह कह सकने की तो हिम्मत नहीं कर सकता कि प्रस्तुत शोध कार्य पूर्ण है, पूर्ण हो भी नहीं सकता फिर भी अपेक्षा करता हूँ कि भविष्य में इस दिशा में होने वाले शोध के लिये पर्याप्त सहायक सिद्ध होगा । यदि ऐसा हुआ तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय के सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष श्री चन्द्रप्रकाश कर्तव्यनिष्ठ शोधकक्ष सहायक श्री राजनारायण पाण्डेय एवं पुस्तकालय के अन्यान्य कर्मचारीयों के स्नेहसिक्त सहयोग के लिए आभार व्यक्त करता हूँ ।

शोध प्रबन्ध का स्वच्छता पूर्ण टङ्कण पूरे मनोयोग के साथ श्री उमा शंकर पाल ने अत्यल्प समय में किया है, जिसके लिये उनके प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ ।

विनयावनत
दिनेश प्रसाद मिश्र
{दिनेश प्रसाद मिश्र}

नाग बासुकी मन्दिर
दारागंज {इलाहाबाद}
श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, वैक्रमाब्द 2045

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठाङ्क

प्रथम अध्याय

शाब्दबोध: स्वरूप एवं प्रक्रिया

शाब्द बोध: स्वरूप एवं प्रक्रिया

मानव-जीवन में शब्द का अप्रतिम स्थान है । समाज में घटित होने वाला कोई भी परिवर्तन चाहे वह जिस रूप में हो शब्द के साथ ही स्वरूप ग्रहण करता है । वृक्ष से पत्ते के टूटने एवं किसी वस्तु को एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान में रखने जैसे कार्यों में भी शब्द उत्पन्न होता है । तात्पर्य यह है कि लोक-व्यवहार के संचालन के लिये शब्द एक अनिवार्य तथा प्रमुख साधन है । इस शब्द या वाक् शक्ति का गौरव-गान करते हुए ऋग्वेद में इसकी व्यापकता की तुलना ब्रह्म की व्यापकता से की गयी है । प्रख्यात वैयाकरण भर्तृहरि ने वाक्शक्ति को वक्ता के साथ ही साथ द्रष्टा के रूप में भी चित्रित किया है । उनका मानना है कि वाक्शक्ति न केवल बोलती है वरन् देखती भी है साथ ही विभिन्न रूपों से युक्त यह संसार इसी वाक्शक्ति में निबद्ध है और इसी ही के विभागों पर संसार का व्यवहार आधारित है ।[1] शब्द के महत्व का प्रतिपादन करते हुए आचार्य दण्डी ने कहा है कि यदि यह संसार शब्द नामक ज्योति से आलोकित न होता तो समस्त त्रैलोक्य गहन अन्धकार में विलीन हो जाता ।[2] वाक्शक्ति के उच्चरित शब्द श्रोता को अपने अर्थ की प्रतीति कराता हुआ शाब्द - बोध को सम्पन्न करता है ।

1- वागेवार्थं पश्यति वाग् ब्रवीति वागेवार्थं निहितं सन्तनोति ।
वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेतदेकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते ।। [वा॰प॰ 1·1·119

2- इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ।। काव्यादर्श पृ॰ 4

शाब्द-बोध का स्वरूप :- वैयाकरण सम्प्रदाय में दो मुख्य पदार्थों के परस्पर अन्वय से होने वाले ज्ञान को शाब्द-बोध कहते हैं ।

'रामः गच्छति' वाक्य में दो पद हैं, साथ ही दोनों के अर्थ भी पृथक्-पृथक् हैं । जब इन दोनों पदों के सम्मिलित रूप को अर्थ-बोध कराना होता है तब इन पदों के अर्थों का परस्पर संसर्ग या अन्वय होता है । इसी संसर्ग या अन्वय बोध का नाम शाब्द बोध है । इसे ही वाक्यार्थ-बोध, अन्वयबोध आदि कहा जाता है । 'शाब्द-बोध' शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार शब्द से उत्पन्न ज्ञान शाब्द बोध कहलाता है ।[1] वाक्यपदीयकार आचार्य भर्तृहरि ने माना है कि वृत्तियों ﴾ शक्ति, लक्षणा एवं अन्य ﴿ के माध्यम से पदजन्य पदार्थ के स्मरण रूप कारण से उत्पन्न कार्य ﴾ज्ञान﴿ शाब्द-बोध कहलाता है ।[2]

वक्ता के वाक्योच्चारण के अनन्तर श्रोता कर्णेन्द्रिय के माध्यम से वाक्यगत शब्दों का प्रत्यक्ष ज्ञान करता है । उसके अगले क्षण श्रोता को उच्चरित वाक्य से तत्तत्पदों से स्मरित तत्तत्पदार्थों का ज्ञान होता है । फिर उन सारे पदार्थों का परस्पर अन्वय होकर जो ज्ञान होता है-वही श्रोता द्वारा सुने गये वाक्य का शाब्द - बोध, अन्वयबोध या वाक्यार्थबोध होता है ।

वाक्य सुनने पर सभी को समान रूप से शाब्द-बोध नहीं होता है । वक्ता द्वारा प्रयोग में लायी गयी भाषा से अनभिज्ञ श्रोता द्वारा उच्चरित वाक्य का श्रावण प्रत्यक्ष होने पर भी शाब्द बोध नहीं होता है । वक्ता द्वारा प्रयुक्त भाषा का जानकार ही उस वाक्य से ज्ञान प्राप्त कर सकता है । इसीलिये शब्द श्रवण के अनन्तर

1- अत्र व्युत्पत्तिः शब्दाज्जायमानो बोधः शाब्दबोधः इति ।
﴾त॰प्र॰परि॰4 पृ॰3﴿ न्यायकोश पृ 873

2- शाब्दबोधलक्षणं तु शक्तिलक्षणान्यतरसंबन्धेन पदजन्यपदार्थस्मृतित्वावच्छिन्न - कारणतानिरूपितकार्यत्वम् । ﴾वा0 4﴿ । न्यायकोश पृ0 873

और शाब्द बोध के पूर्व उसके लिये तत्तत्पदार्थों के स्मरण की अपेक्षा होती है । तत्तत्पदार्थों का स्मरण उसे ही होता है जिसे पद एवं उसके अर्थ तथा इन दोनों के सम्बन्ध का ज्ञान रहता है । एक भाषाभिज्ञ को अन्य भाषागत शब्दों उनके अर्थों तथा उनके बीच के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है । परिणाम स्वरूप पद सुनने पर भी उसे उन पदार्थों का स्मरण नहीं होता और शाब्दबोध नहीं हो पाता । जैसे कि स्पष्ट है - 'रामः गच्छति' संस्कृत भाषा का वाक्य है जो दो पदों से मिलकर बना है तथा दोनों पदों का अर्थ भिन्न-भिन्न है । इस वाक्य को सुनकर संस्कृत भाषाभिज्ञ श्रोता वाक्यगत दोनों पदों के अर्थ का स्मरण कर उनके परस्पर अन्वय द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लेता है । किन्तु संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ श्रोता वाक्यगत पदों उनके अर्थों एवं उनके परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान न होने के कारण श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से उनका प्रत्यक्ष करने पर भी, ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता, उसे प्रत्यक्षकृत वाक्य से शाब्द बोध नहीं हो पाता । अतः किसी भी भाषा के वाक्यार्थ बोध के लिये श्रोता को उक्त भाषा-भिज्ञ होना अति आवश्यक है ।

संस्कृत-भाषा-भिज्ञ समस्त शब्दों को धातुओं से उत्पन्न मानते हैं । यद्यपि नैरुक्त आचार्य गार्ग्य तथा कुछ वैयाकरण आचार्य केवल यौगिक शब्दों को ही धातु से निष्पन्न मानते हैं किन्तु गार्ग्य को छोड़कर प्रायः सभी नैरुक्त आचार्य तथा शाकटायन प्रभृति वैयाकरण आचार्य यह मानते हैं कि समस्त शब्द धातुओं से बने हुये हैं अर्थात् समस्त पदों का मूल कोई न कोई धातु ही है ।[1] महाभाष्य में में भी इस मन्तव्य का प्रतिपादन उक्त आचार्यों का नामोल्लेख करते हुए किया गया है ।[2] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'धातुजंनाम' वार्तिक का भाष्य कर समस्त

1- तत्र 'नामान्याख्यातजानि' इति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च ।
न सर्वाणि इति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके । निरुक्त 1.4

2- नाम च धातुजम् आह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम् । महाभाष्य 3.3.1

शब्दों को ही धातु से उत्पन्न सिद्ध किया है । अतः समस्त शब्दों की उत्पत्ति धातु से मानना ही उचित है । यहाँ पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि आखिर समस्त पदों के मूलभूत धातु का क्या अर्थ है ?

धात्वर्थ का प्रतिपादन विभिन्न मतानुयायियों ने अपने-अपने ढंग से किया है । वस्तुतः संस्कृत भाषा के समस्त पद दो अर्थवत् इकाइयों के संयोजन से बने हैं । इनमें प्रथम तथा मूलभूत इकाई धातु तथा दूसरी इकाई तिङ् अथवा कृत् प्रत्ययों के संयोग से बने शब्दों में संयोजित धातु तथा तिङ् या कृत् प्रत्ययों के विशेष अर्थ के साथ ही साथ समस्त पदों में धातु सामान्य तथा तिङ् अथवा कृत् सामान्य का अर्थ भी विद्यमान रहता है । समस्त पदों के मूल में धातु को स्वीकार करते हुए विभिन्न मतावलम्बी आचार्यों ने उसके अर्थ का प्रतिपादन अपने-अपने ढंग से किया है । एक ओर जहाँ मीमांसक आचार्य धातु का अर्थ केवल फल को मानते हुए व्यापार को प्रत्ययार्थ तथा भावना को आख्यातार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं वहीं दूसरी ओर नैयायिक आचार्यों में प्राचीन नैयायिक केवल व्यापार को धात्वर्थ तथा कृति को आख्यातार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु नव्य नैयायिक आचार्य फल एवं व्यापार दोनों को ही धातु का अर्थ तथा कृति को आख्यात का अर्थ मानते हैं । वैयाकरण आचार्य फल एवं व्यापार दोनों को ही धात्वर्थ मानते हैं ।

मीमांसक मत :- मण्डन मिश्र पार्थसारथि मिश्र आदि मीमांसक आचार्य धातु का अर्थ केवल फल मानते हैं । वे तिङन्त पदों को आख्यातान्त तथा तिङ् प्रत्ययों को आख्यातनाम से सम्बोधित करते हैं । वैयाकरण आचार्यों द्वारा मान्य धात्वर्थ व्यापार को मीमांसक आचार्य धात्वर्थ न मानकर आख्यातान्त (तिङन्त) पदों के अंशभूत आख्यात (तिङ् प्रत्ययों) का अर्थ मानते हैं ।[1] पच् धातु

1- मीमांसकाः "फलं धात्वर्थो व्यापारः प्रत्ययार्थः" इति वदन्ति ।
प॰ल॰म॰पृ॰ 133

एवं तिप् प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न पचति इत्यादि आख्यात पदों में पच् आदि धातुओं का अर्थ 'पाक' फल मात्र है तथा 'तिप्' प्रत्यय पाकज क्रिया में होने वाले व्यापारों फूत्कारत्व, अधः सन्तापनत्व इत्यादि का बोध कराते हैं ।

महर्षि जैमिनि ने आख्यात पद की परिभाषा करते हुए कहा है कि जिन पदों से सिद्ध अर्थ की प्रतीति न होकर साध्यार्थ की प्रतीति होती है, उन्हें आख्यात कहते हैं ।[1] निरूक्तकार यास्क ने भी भाव प्रधान पद को आख्यात कहा है ।[2] आख्यात पदों के भावार्थक होने के कारण ही आचार्य जैमिनि ने आख्यात पदों को कर्म भी कहा है ।[3]

मीमांसक आचार्यों ने भावप्रधान आख्यात पदों के अंश तिपादि प्रत्ययों द्वारा बोधित व्यापार को 'भावना' संज्ञा से अभिहित किया है, अर्थात् मीमांसक आचार्यों की दृष्टि में आख्यातार्थ भावना है, भावना ही व्यापार है । इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए वैयाकरण आचार्य कौण्डभट्ट ने कहा है कि व्यापार ही भावना है तथा उसी को क्रिया और उत्पादना नाम से भी सम्बोधित किया जाता है । अर्थात व्यापार, भावना, क्रिया एवं उत्पादना ये चारों पद पर्याय है ।[4] व्यापार का अभिप्राय यहाँ साध्यत्वेन विवक्षित अर्थात् सिद्ध होने जा रही क्रिया से है ।[5] यथा पचति में पात्रों का अग्नि पर रखना, अग्नि जलाना, वस्तु

1- येषां तूत्पत्तावर्थे स्वप्रयोगो न विद्यते तान्याख्यातानि । मी॰शा॰भा॰2॰1॰4

2- भावप्रधानमाख्यातम्। निरूक्त: 1॰1॰1

3- भावार्था: कर्मशब्दा: । मी॰ शा॰ भा॰ 2॰1॰1

4- व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया । वै॰भू॰सार॰ धात्वर्थ प्र॰का॰ 5

5- व्यापारस्तु भावनाऽभिधा साध्यत्वेनाऽभिधीयमाना क्रिया । वै॰भू॰सा॰धा॰प्र॰का॰ 2 में

के गलने या न गलने की परीक्षा करना आदि सकल क्रिया कलाप 'व्यापार' कहलाते हैं तथा 'पचति' इत्यादि आख्यात पदों से ही बोधित होते हैं। व्याकरण शास्त्र सम्मत इसी व्यापार को ही मीमांसक आचार्य 'भावना' नाम से द्योतित करते हैं। भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय में कहा है - चाहे सिद्ध हो चुका हो या सिद्ध न हुआ हो परन्तु जिसे साध्यत्वेन कहना अभीष्ट हो तथा जिसका स्वरूप किसी क्रम का आश्रय करता हो उसे क्रिया कहते हैं।[1] साध्यत्वेन कही जाने वाली क्रिया किसी अन्य क्रिया की अपेक्षा नहीं रखती। यथा - 'पाक:' एवं 'पचति' दोनों एक ही धातु से निष्पन्न होते हैं तथा दोनों की धातु एवं अर्थ एक जैसे हैं किन्तु पाक: कहने पर किसी अन्य क्रिया की अपेक्षा होती है जबकि 'पचति' कहने पर किसी अन्य क्रिया की अपेक्षा नहीं होती। इसी से स्पष्ट होता है कि 'पचति' आदि में क्रिया साध्यत्वेन कही जा रही है तथा पाक: आदि में सिद्धत्वेन। दूसरी क्रिया की अपेक्षा न होना ही क्रिया की साध्यावस्था का लक्षण है। साध्यावस्था में क्रिया {व्यापार} असत्वभूत {अद्रव्यभूत} रहती है।[2] इसी को लेकर वाक्यपदीयकार ने कहा है कि तिङन्तपदों से असत्वभूत क्रिया कही जाती है। अर्थात् जब क्रिया द्रव्य के स्वभाव को धारण कर लेती है तब विभक्ति आदि का योग होकर 'पाक:' इत्यादि पदों का प्रयोग होता है। किन्तु द्रव्य के स्वरूप को न धारण कर चुकी क्रिया का प्रतिपादन 'पचति' इत्यादि तिङन्त पदों के माध्यम से ही किया जाता है।

1- यावत् सिद्धमसिद्धंवा साध्यत्वेनाऽभिधीयते।
आश्रित-क्रम रूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते।। वा॰व॰तृ॰क॰क्रि॰स॰ श्लोक।

2- तथा च क्रियान्तराऽऽकाङ्क्षाऽनुत्थापकताऽवच्छेदकरूपं
साध्यत्वम्। तद्रूपवत्वम् असत्वभूतत्त्वम्। वै॰भू॰सार॰ धात्वर्थ प्र॰ का 2

स्पष्ट है मीमांसकों द्वारा मान्य भावना व्यापार क्रिया एवं उत्पादना का ही पर्याय है । वैयाकरण आचार्य जिस बात का कथन 'व्यापार के नाम से करते हैं उसी को मीमांसक आचार्य भावना नाम से अभिहित करते हैं ।[1]

मीमांसक आचार्य आख्यात पदों का अर्थ भावना स्वीकार करते हैं । उनका मानना है कि आख्यात पदों का धात्वंश फल एवं तिपादि प्रत्ययांश भावना (व्यापार) अर्थ के बोधक होते हैं ।[2] वे वैयाकरणों की इस मान्यता का, कि धातु फल एवं व्यापार तथा तिङ्न्तादि प्रत्यय कर्ता एवं कर्म आदि के अर्थविबोधक होते हैं, को स्वीकार नहीं करते । उनके मत में धातु का अर्थ केवल फल है व्यापार नहीं । व्यापार तिङ् का वाच्य है । वे प्रकृति एवं प्रत्यय से युक्त पदों के प्रयोग एवं प्रत्ययों के अर्थों की प्रधानता, वैयाकरण आचार्यों की भांति स्वीकार करते हुए भी उसे केवल नाम पदों तक ही सीमित मानते हैं और आख्यात पदों को उनसे सर्वथा मुक्त बताते हैं । उनका कहना है कि प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तत्र प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्- यह नियम पाचक पाठक आदि नाम पदों के लिये ही है, आख्यातपदों के लिये नहीं ।[3] आख्यात पदों का वाच्यार्थ तो भावना ही है । इसी को स्वीकार करते हुए ही निरूक्तकार ने आख्यात पदों में भावना (व्यापार) की प्रधानता स्वीकार की है ।[4]

1- सत्व-स्वभावमापन्ना व्यक्ति नार्मभिरूच्यते ।
असत्व-भूतो भावश्च तिङ् पदैरभिधीयते ।। वा॰प॰2॰195

2- किन्तु आख्यातवाच्यैव सा भावना, न धातोः । वै॰भू॰सा॰धा॰प्र॰का॰ 7 में

3- यत्त प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतइति । तत् कर्मनिमित्तेषु नामपदेषु पाचक, लावक इत्येवमादिषु । आख्याते तु न क्रिया प्रधानतः । किं तर्हि । भाव प्रधानमाख्यातम् । मी॰शा॰भा॰1॰1॰22

4- भावप्रधानमाख्यातम् । निरूक्त॰ 1॰1॰1

मीमांसक आचार्य वैयाकरणों की इस मान्यता का भी खण्डन करते हैं कि तिपदि प्रत्यय कर्ता एवं कर्म के बोधक होते हैं । उनका मानना है कि तिङ्• प्रत्यय भावना का बोध कराते हैं न कि कर्ता एवं कर्म का जैसा कि वैयाकरण मानते हैं । यद्यपि पचति इत्यादि आख्यात पदों से भावना के साथ ही साथ कर्ता का भी बोध होता है किन्तु वह आख्यात पद का शाब्दार्थ नहोकर तात्पर्यार्थ होता है जिसे वैयाकरण आचार्य प्रतीति के कारण स्वीकार करते हैं । यह प्रतीति तिङ्• प्रत्ययों से न मानकर उनके भावना ॄव्यापारॄ अर्थ के साथ ही लक्षणा अर्थापत्ति या प्रथमान्त पद के द्वारा भी कर्तादि अर्थ की प्रतीति कर सकते हैं । यथा – 'देवदत्तः पचति' इत्यादि वाक्यों में पचति के साथ प्रथमान्त पद देवदत्तः आदि संयुक्त होता है और उन प्रथमान्त पदों से भी हमें कर्त्ता आदि की प्रतीति हो जाती है । क्योंकि साथ आये हुये पद का वाक्यार्थ में प्रयोग किया जाता है । इसी प्रकार लक्षणा एवं अर्थापत्ति द्वारा भी कर्तादि अर्थों की प्राप्ति हो जाती है ।[1] अतः तिङ्•प्रत्यय कर्ता एवं कर्म के बोधक हैं यह मानना उचित नहीं है । वैयाकरण आचार्य तिङ्•प्रत्ययों के कर्ता एवं कर्म के बोधक होने के प्रमाण रूप में लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः ॄ3•4•69ॄ एवं कर्तरि कृत् ॄ 3•4•67 ॄ दो पाणिनि सूत्र प्रस्तुत करते हैं । उनका कहना है कि 'लः कर्मणि च•' सूत्र में चकारद्वय से 'कर्तरि कृत्' इस पूर्व सूत्र से दो बार 'कर्तरि' की अनुवृत्ति कर 'लकार सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्ता में तथा अकर्मक धातुओं से भाव और कर्त्ता में होते हैं' यह अर्थ निष्पन्न होता है । मीमांसक आचार्य शबर स्वामी वैयाकरणों के उक्त मत को अस्वीकार करते हुए प्रतिपादित

1– नन्वनयोराख्यातार्थत्वे किम्मानम् ? प्रतीतेर्लक्षणया आक्षेपात् प्रथमान्तपदाद्वा सम्भवादितिचेत् । वै•भू•सा•धा•प्र•पृ•28

करते हैं कि पाणिनि कृत सूत्र लः कर्मणि॰ एवं 'कर्तरि कृत ' कर्त्ता एवं कर्म में लकार का विधान नहीं करते अपितु उनका कथन कर्ता एवं कर्म की संख्या को द्योतित करने के लिये किया गया है और ऐसी स्थिति में पाणिनि के ये दोनों सूत्र उनके अन्य दो सूत्रों 'बहुषु बहुवचनम् ' एवं द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने के साथ एक वाक्यता स्थापित कर कर्ता एवं कर्म की संख्या को अभिहित करने हेतु लकार का विधान करते हैं । अर्थात् महर्षि पाणिनि उक्त चारों सूत्रों के माध्यम से एक कर्त्ता में, दो कर्त्ताओं में, बहुत से कर्त्ताओं में तथा एक कर्म में दो कर्मों॰ में, बहुत से कर्मों में क्रमशः एकत्व, द्वित्व एवं बहुत्व की विवक्षा में लकार का विधान करते हैं, न कि तिङ्॰ प्रत्ययों से कर्त्ता एवं कर्म के अभिधान करने हेतु । अतः मीमांसक आचार्य तिङ्॰ प्रत्ययों का अर्थ कर्ता एवं कर्म न मानकर भावना (व्यापार) स्वीकार करते हैं ।[1] इसी आधार पर उन्होंने अपने सिद्धान्त 'धातु का अर्थ केवल फल तथा

1- अपि च नैव कर्त्ता प्रत्ययार्थः कर्म वेत्याचार्या आहुः । ननुकर्तरि कर्मणि च लकारः श्रूयते ? नासौ कर्तरि कर्मणि वा श्रूयते । किन्त्वेकस्मिन्नेकवचनं द्वयोर्द्विवचनं बहुषु बहुवचनमिति तत्रापरं वचनम् । तेनैवमभि सम्बन्धः क्रियते । एकस्मिन कर्तरि द्वयोः कर्त्रोः, बहुषु कर्तृषु - इति । एवं कर्मण्येकत्वादि सम्बन्धः । तत्र नैवं भवति, कर्तरि भवत्येकस्मिंश्चेति कथं तर्हि । कर्त्र्येकस्मिन्नेकवचनं कर्तुरेकत्वे । एवं द्वित्वे बहुत्व कर्मणि च । एवं वर्ण्यमाने लौकिक न्यायानुगतः सूत्रार्थो वर्णितो भवति । सूत्राक्षराणि च न्यायानुगतानि भवन्ति ।

मी॰शा॰भा॰ 3॰4॰13

आख्यात {तिङ्} का अर्थ भावना {व्यापार} होता है' का प्रतिपादन किया है। भावना {व्यापार} को आख्यातार्थ निरूपित करने वाले मीमांसकाचार्य मण्डन मिश्र के कथन को उद्धृत करते हुए 'भाट्टतन्त्र रहस्यम्' में प्रत्ययार्थ {तिङ् प्रत्ययों का अर्थ} व्यापार {भावना} बताया गया है।[1] आचार्य पार्थसारथि मिश्र ने व्यापार सामान्य को ही आख्यातार्थ के रूप में स्वीकार किया है।[2]

स्पष्ट है कि समस्त मीमांसक आचार्य चाहे वह प्रभाकर मतानुयायी हों या कुमारिल मतानुयायी आख्यात पदों के अर्थ के रूप में भावना {व्यापार} को स्वीकार किया है तथा अपने तर्कों के माध्यम से तिङ् प्रत्ययों का अर्थ कर्ता या कर्म मानने वाले तथा व्यापार {भावना} को धातु का अर्थ मानने वाले अन्य मतानुयायियों के सिद्धान्तों का खण्डन किया है।

समीक्षा :- वैयाकरण तथा नैयायिक आचार्य धातु का अर्थ फल एवं व्यापार दोनों को मानते हैं। जब कि मीमांसक फल को धातु का अर्थ मानते हैं किन्तु व्यापार को वे तिङ् प्रत्ययों {आख्यात} का अर्थ मानते हैं। परिणामस्वरूप उनके मत को असंगत मानने वाले वैयाकरण आचार्य उक्त मत का खण्डन करते हैं। यथा -

वैयाकरण आचार्य कहते हैं कि मीमांसक मत मानने में 'लः कर्मणि' सूत्र का अर्थ संगत नहीं बैठता।[3] इस सूत्र में 'कर्तरि कृत्' सूत्र से कर्तरि की अनुवृत्ति कर

1- मण्डनमिश्राः तावत् विक्लित्यादिरूपं फलमेव धात्वर्थः, तदनुकूल फूत्कारादिरूपो व्यापारस्तु सर्वोऽपि व्यापारत्वेन प्रत्ययार्थः, फलस्य च तं प्रति प्रकारत्वमित्याहुः। भाट्टतन्त्ररहस्यम् 58

2- अतो व्यापारसामान्यमेवाख्यातार्थ इति पार्थ सारथि मिश्राणां मतं।
भाट्टतन्त्ररहस्यम् पृ० 62

3- तन्न 'लः कर्मणि' {पा०3.4.69} इत्यादि सूत्र विरोधापत्तेः। प०ल०म०पृ० 133

लेने पर ल: कर्मणि च० सूत्र लकारों [तिप् आदि प्रत्ययों] का विधान कर्ता तथा कर्म अर्थ में करता है । अतः तिङ् प्रत्ययों का अर्थ कर्ता तथा कर्म ही होगा न कि व्यापार ।[1] साथ ही पच् आदि धातुओं में से किसी एक ही धातु के साथ संयुक्त होने वाले भिन्न-भिन्न प्रत्ययों से बने पदों में विभिन्न प्रत्ययों का अर्थ एक ही व्यापार मानना होगा । यथा – पचति, पक्ष्यति 'पक्ववान्' आदि पदों में निहित तीन भिन्न-भिन्न प्रत्ययों क्रमशः ति, स्यति, तवान् आदि में एक ही व्यापार 'फूत्कारादि' का बोध कराने वाली शक्ति की कल्पना करनी होगी, जो अत्यन्त दुष्कर एवं गौरवदोष युक्त होगी । किन्तु उक्त समस्त प्रयोगों में विद्यमान एक धातु में ही 'व्यापार' का बोध कराने वाली शक्ति को स्वीकार करना उचित तथा लाघवजनक होगा ।[2]

तिङादि प्रत्ययों का अर्थ व्यापार मानने पर वैयाकरण आपत्ति उठाते हुए कहते हैं कि यदि तिङन्त क्रिया रूपों में निहित तिङ् प्रत्यय व्यापार का अर्थ बोध कराते हैं तो ऐसी दशा में गच्छति, पठति एवं पचति जैसे पदों में, जिनमें एक ही प्रत्यय तिप्' विद्यमान है; एक ही 'व्यापार' का अर्थबोध होना चाहिए किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता । गच्छति, पठति एवं पचति का तिप् प्रत्यय क्रमशः गमनादि, पठनादि एवं फूत्कारादि विभिन्न 'व्यापारों' का बोध कराता है ।

1– लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः [3·4·69] इति सूत्रमेव मानम् ।
अत्रहि चकारात् कर्तरि कृत् [3·4·67] इति सूत्रोक्तं कर्तरि 'इत्यनुकृष्यते ।
बोधकतारूपां तिबादिशक्तिं' तत्स्थानित्वेन कल्पिते लकारे प्रकल्प्य लकाराः कम कर्मणि कर्तरि चाऽनेन विधीयन्ते । वै·भू·धा·प्र·पृ· 30,31

2– किञ्च पचति, पक्ष्यति, पक्ववान् इत्यादौ फूत्कारादि प्रतीतये तत्रानेक – प्रत्ययानां शक्ति कल्पनापेक्षया एकस्य धातोरेव शक्ति कल्पनोचिता ।
प·ल·म· पृ· 133

इस स्थिति के समाधान के लिये मीमांसक कह सकते हैं कि गम्, पठ् एवं पच् धातु के साथ तिङ् प्रत्यय का अर्थ क्रमशः गमनादि, पठनादि एवं फूत्कारादि व्यापार अर्थ होता है किन्तु ऐसा मानने पर ऐसी ही कल्पना प्रत्येक प्रत्यय के सम्बन्ध में करनी होगी जो अत्यधिक दुष्कर तथा अयुक्तियुक्त होगी ।[1] व्यापार को धात्वर्थ स्वीकार कर लेने पर यह समस्या स्वतः दूर हो जायेगी अतः अलग से कुछ कहने की आवश्यकता ही न होगी ।

यदि भावना (व्यापार) को धातु का अर्थ नहीं मानेंगे तो धातुओं की सकर्मक एवं अकर्मक व्यवस्था भी न बन सकेगी ।[2] धातु के अपने अर्थ फल से भिन्न अधिकरण में व्यापार को बतलाने वाली अथवा धातु के अपने अर्थ व्यापार से भिन्न अधिकरण में फल का कथन करने वाली धातुयें सकर्मक होती हैं ।[3] तथा धातु के अर्थ फल एवं व्यापार जब दोनों एक ही अधिकरण में स्थित रहते हैं तो धातु अकर्मक होती है ।[4] सकर्मक एवं अकर्मक धातुओं का यह लक्षण व्यापार को प्रत्ययों का अर्थ मानने पर व्यवस्थित रूप से घटित नहीं हो सकता । मीमांसक कह सकते हैं कि उक्त परिभाषाओं में 'स्वार्थ' शब्द के स्थान पर 'प्रत्ययार्थ' शब्द रख देने से उक्त दोष का समाधान हो जायेगा । वे सकर्मक एवं अकर्मक की परिभाषा करते हुए कहते हैं - प्रत्यय के अर्थ व्यापार से भिन्न अधिकरण में रहने वाले फल की वाचक

1- किं च 'पचति', 'पक्ष्यति,' 'पक्ववान्' इत्यादौ फूत्कारादि प्रतीतये तत्रानेक - प्रत्ययानां शक्तिकल्पनापेक्षया एकस्य धातोरेवशक्ति कल्पनोचिता । किञ्च फूत्कारादेः प्रत्ययार्थत्वे 'गच्छति' इत्यादौ तत्प्रतीति-कारणाय तद्बोधे 'पचि' समभिव्याहारस्यापि कारणत्व कल्पनेऽतिगौरवम् । परम•ल•म•पृ• 133

2- (अ) अपि च भावनाया अवाच्यत्वे धातूनां सकर्मकत्वाऽकर्मकत्वविभाग उच्छिन्नःस्यात् । वै•भू•सा•धा•नि•पृ• 84

(ब) किं च सकर्मकाकर्मक-व्यवहारोच्छेदापत्तिः । प•ल•म•पृ• 135

3- स्वार्थ फल व्यधिकरण व्यापार वाचित्वं स्वार्थ व्यापार व्यधिकरण फल वाचकत्वम् वा सकर्मकत्वं । वै•भू•सा•धा•नि•पृ• 84

4- स्वार्थ व्यापार समानाधिकरण फल वाचकत्वमकर्मकत्वम् । प•ल•म• पृ• 136

धातुएं सकर्मक है ।[1] तथा प्रत्यय के अर्थ व्यापार के ही अधिकरण में रहने वाले फल की वाचक धातुएं अकर्मक है ।[2] इसी प्रकार मीमांसकों के मत में कर्ता तथा कर्म की परिभाषाओं में भी प्रत्यायार्थ शब्द रखकर प्रत्ययार्थ 'व्यापार' के आश्रय को 'कर्ता' और प्रत्ययार्थ व्यापार से भिन्न अधिकरण वाले फल के आश्रय को 'कर्म' कहा जा सकता है । "परन्तु प्रत्ययार्थ रूप व्यापार का आश्रय कर्ता है ।"[3] इस परिभाषा को मानने पर 'घटं भावयति' जैसे प्रयोगों में दोष आ सकता है । क्योंकि वहां प्रत्ययार्थ का आश्रय घट नहीं है । इस प्रकार जब उसकी कर्ता संज्ञा नहीं होती तो कर्म संज्ञा भी नहीं होगी क्योंकि पाणिनि का सूत्र "गति बुद्धि॰" वाधित करता है । ऐसी स्थिति में कर्म संज्ञा के अभाव में 'घट' भावयति' प्रयोग नहीं बन सकेगी परन्तु इसका निराकरण इस रूप में किया जा सकता है कि 'गति बुद्धि॰" सूत्र के द्वारा 'घट' की कर्मसंज्ञा न होने पर भी 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इस सूत्र के आधार पर 'घट' की कर्म संज्ञा हो जायेगी क्योंकि णिच् प्रत्यय का अर्थ जो प्रेषण व्यापार उसके अधिकरण से भिन्न अधिकरण वाले फल का घट आश्रय है । अतः वह कर्म है इस प्रकार से सकर्मक और अकर्मक की व्यवस्था तो बन जाती है किन्तु प्रयोग में कर्ता उक्त है या अनुक्त है । इसको बतलाने वाली अभिधान और अनभिधान की व्यवस्था नहीं बनेगी । यह व्यवस्था प्रत्यय का अर्थ कर्ता या कर्म मानने से ही बनती है ।

इस समस्या के समाधान के लिये मीमांसक कह सकते हैं कि कर्तृवाच्य में प्रत्ययार्थ व्यापार अपने आश्रय कर्ता का आक्षेप करेगा जिससे कर्तृवाच्य में कर्ता

1- प्रत्ययार्थ व्यापार व्यधिकरण फलवाचकत्वं सकर्मकत्वं । प॰ल॰म॰पृ॰ 135

2- प्रत्ययार्थ व्यापार समानाधिकरण फलवाचकत्वमकर्मकत्वम् । प॰ल॰म॰पृ॰ 135

3- प्रत्ययार्थ व्यापाराश्रयत्वं कर्तृत्वम् । प॰ल॰म॰पृ॰ 135

उक्त हो जायेगा तथा कर्मवाच्य में प्रधान भूतफल अपने आश्रय कर्म का आक्षेप करेगा जिससे कर्म वाच्य में कर्म भी उक्त हो जायेगा । इस प्रकार पाणिनि की 'अभिहित' तथा अनभिहित की व्यवस्था में कोई दोष नहीं आयेगा । परन्तु मीमांसकों का यह समाधान नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि आक्षिप्त वस्तु का अर्थ प्रधानतया भासित होता है । मीमांसक भी यह मानते हैं कि जाति से आक्षिप्त 'व्यक्ति' प्रधान रूप से भासित ही होता है । इस प्रकार यहाँ भी व्यापार के द्वारा आक्षिप्त कर्ता तथा कर्म की ही प्रधानता माननी होगी 'व्यापार' की नहीं अर्थात 'व्यापार' को अप्रधान या गौण मानना होगा । इस रूप में यदि व्यापार को गौण मान लिया गया तो 'आख्यात क्रिया प्रधान होता है ।'[1] यास्क के इस कथन से विरोध उपस्थित होता है । जबकि मीमांसक आचार्य भी यास्क के कथन को स्वीकार करते हैं ।[2] अत: यास्क के कथन के विरुद्ध होने के कारण मीमांसक मत स्वीकार्य नहीं है । साथ ही व्यापार के आक्षेप के द्वारा कर्ता तथा कर्म की बात स्वीकार कर लेने पर पाणिनि का "ल: कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्य: " सूत्र द्वारा कर्ता तथा कर्म में लकारों का विधान करना व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि उनका कथन तो क्रमश: व्यापार एवं फल के द्वारा ही हो जायेगा ।

व्यापार को धातु का अर्थ न मानकर तिङ्‌ प्रत्ययों का अर्थ मानने पर प्रेरणार्थक प्रयोगों में और भी कठिनाइयाँ उपस्थित होती है । यथा - 'गुरु: शिष्याभ्यां पाचयति' में प्रयोजक गुरु के व्यापार को 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ मानना होगा क्यों कि प्रयोजक के व्यापार के कथन के लिये ही 'णिच्' प्रत्यय का विधान किया गया है

1- भाव प्रधानमाख्यातं सत्वप्रधानानि नामानि । निरुक्त ।•।•।

2- आख्याते तु न कर्ता क्रिया प्रधानत: । किं तर्हि ?
भावप्रधानमाख्यातम् । शवर मी•मां• ।।•।•22

इसलिये प्रयोज्य व्यापार आख्यात का अर्थ होगा । ऐसी स्थिति में मीमांसकों के अनुसार संख्या का अन्वय आख्यातार्थ व्यापार में होगा, शिष्य में नहीं, फलत: शिष्य में द्विवचन का अन्वय तथा 'पाचयति' में एक वचन का अन्वय नहीं होगा ।[1] साथ ही गुरु जो प्रयोजक है वह अनुक्त होगा क्योंकि आख्यात प्रयोज्य के व्यापार को कहेगा न कि प्रयोजक के व्यापार को । ऐसी स्थिति में प्रयोजक के अनुक्त होने से गुरु में प्रथमा विभक्ति न होकर तृतीया विभक्ति होगी । तथा प्रयोज्य शिष्य के उक्त होने पर उसमें तृतीया के स्थान पर प्रथमा विभक्ति की प्राप्ति होगी । जो सर्वथा असंगत है ।

व्यापार को धात्वर्थ न मानकर प्रत्ययार्थ मानने पर 'ण्वुल' आदि कृत् प्रत्ययों के दो दो अर्थ व्यापार तथा कारक मानने होंगे । इस प्रकार इन प्रत्ययों को कर्ता तथा व्यापार दोनों का वाचक मानना होगा, जिसमें विशेष गौरव है । यदि मीमांसक कहें कि उक्त प्रत्ययों का कर्ता, व्यापार अर्थ न मानकर कर्ता कर्मादि को ही प्रत्ययार्थ माना गया है तो ऐसी स्थिति में यदि वे 'घञ्' आदि कृत प्रत्ययों को व्यापार का वाचक नहीं मानेंगे तो ल्युट् प्रत्यय से निष्पन्ना 'गमनम्' जैसे शब्द गमन व्यापार को न प्रकट कर 'संयोग' मात्र के वाचक होंगे । इस दशा में जिस प्रकार 'ग्राम: संयोगवान्' यह प्रयोग होता है उसी प्रकार 'गामो गमनवान्' यह प्रयोग भी होने लगेगा जो उचित नहीं है ।[2] इसके अतिरिक्त यदि व्यापार को प्रत्ययार्थ मान लिया गया तो 'घ ' आदि प्रत्यय भी व्यापार का कथन करेंगे । व्यापार से अपने कर्ता का आक्षेप होगा, फलत: कर्त्ता उक्त हो जायेगा और उसमें प्रथमा विभक्ति होने लगेगी । परिणाम यह होगा कि 'देवदत्तेन पाक:' के स्थान पर 'देवदत्त: पाक:' जैसा प्रयोग होने लगेगा जो अभीष्ट नहीं है ।

1- एवंच सङ्ख्याया: स्ववाचकाख्यातार्थव्यापारे अन्वयिन्येव अन्वयात् 'शिष्याभ्याम्' इति द्विवचनायत्रि: । पाचयति इत्येकवचनानापत्तिश्च । प०ल०म०पृ० 138

2- किञ्च भावविहितघञादीनां व्यापारावाचकत्वे 'ग्रामो गमनवान्' इत्याद्यापत्ति: । प०ल०म०पृ० 137

इस प्रकार स्पष्ट है कि धातु का अर्थ फल तथा प्रत्यय का अर्थ व्यापार मानने वाले मीमांसकों का मत युक्तियुक्त न होकर अनेक दोषों से युक्त है अतः वह स्वीकार्य नहीं है ।

नैयायिक मत :- नैयायिक आचार्य फल और व्यापार दोनों से धातु का अर्थ मानते हैं,[1] लेकिन कुछ आचार्य मात्र 'व्यापार' को ही धात्वर्थ मानते हैं ।[2] साथ ही वे तिपादि प्रत्ययों के अर्थ वैयाकरणों द्वारा मान्य 'कारक' एवं मीमांसकों द्वारा मान्य 'व्यापार' को अस्वीकार कर तिपादि का वाच्यार्थ 'कृति' या 'यत्न' मानते हैं । उनका मानना है कि यदि वैयाकरणों की भाँति 'कर्ता' को तिपादि प्रत्ययों का अर्थ माना जायेगा तो 'कृतिमान' को अर्थ मानना होगा तथा 'कृतिमान' में अनन्त 'कृतियों' के समाविष्ट रहने से उन सबको तिपादि प्रत्ययों का अर्थ मानना होगा जिसमें गौरव होगा । अतः लाघव के लिये 'कृति' को ही प्रत्ययार्थ मानना उचित है । यद्यपि कर्ता के समान अनन्त कृतियों को भी वाच्य मानने की स्थिति उत्पन्न हो सकती है परन्तु समस्त कृतियों में 'कृतित्व' जाति एक होने से उसे ही वाच्यार्थ मानने पर सारा गौरव दूर हो जाता है और लाघव बना रहता है ।[3]

नैयायिक आचार्य आख्यात पदों में तिपादि प्रत्ययों के अर्थ 'कृति' को विशेष्य अर्थात प्रधान तथा धात्वर्थ फल तथा व्यापार को विशेषण अर्थात् अप्रधान मानते हैं ।[4] ऐसा मानने पर 'प्रकृति तथा प्रत्यय का साथ-साथ उल्लेख किये जाने

1- यत्तु तार्किकाः फलव्यापारौ धात्वर्थः । प॰ल॰म॰पृ॰ 160

2- व्यापारमात्रस्य धात्वर्थत्वात् । व्युत्पत्तिवादः पृ॰ 184

3- लकाराणां कृतौ एव शक्तिः, लाघवात्, न तु कर्तरि, कृतिमतः कर्तृत्वेन तत्रशक्तौ गौरवात् । प॰ल॰म॰पृ॰ 160

4- आख्यातार्थे धात्वर्थो विशेषणम्, प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयोः सहार्थत्वे प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात् । प॰ल॰म॰पृ॰ 160

तथा प्रकृत्यर्थ के गौण होने तथा प्रत्ययार्थ के प्रधान होने का नियम भी ठीक से लागू होता है । 'पचति' आदि आख्यात पदों में पच् आदि धातु 'प्रकृति' तथा 'तिप्' आदि प्रत्यय है । अत: उनके अर्थों तिपादि प्रत्ययों के अर्थ 'कृति' को ही प्रधान मानना उचित है ।

नैयायिक आचार्यों की मान्यता है कि शाब्दबोध में धात्वर्थ की प्रधानता न होकर प्रथमान्त पद का अर्थ मुख्य होता है । अर्थात प्रथमा विभक्त्यन्त पदों का 'कर्ता' आदि अर्थ प्रधान एवं विशेष्य तथा प्रत्ययों का अर्थ विशेषण तथा गौण होता है ।[1] कार्तृवाच्य में कर्ता में प्रथमा विभक्ति होती है अत: अर्थ में कर्ता की ही प्रधानता होती है । इसी प्रकार कर्मवाच्य में कर्म में प्रथमा विभक्ति होती है अत: यहाँ पर अर्थ में उसी प्रथमान्त कर्म की ही प्रधानता होगी । इस सिद्धान्त के अनुसार 'चैत्र: पचति: ' इस वाक्य का शाब्द बोध होगा - विक्लित्ति के अनुकूल व्यापारानुकूल जो 'कृति' {यत्न} उसका आश्रय चैत्र ।' इसी प्रकार 'चैत्रेन पच्यते' इस वाक्य का शब्द बोध चैत्र निष्ठ कृतिजन्य, व्यापार जन्य विक्लित्ति वाला अर्थ होगा ।[2]

स्पष्ट है कि नैयायिक शाब्द-बोध के सन्दर्भ में तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं । जिनमें प्रथम - प्रत्यय का अर्थ कृति अथवा यत्न है । द्वितीय धातु का अर्थ प्रत्ययार्थ का विशेषण है तथा प्रत्ययार्थ विशेष्य ही है । तृतीय - शाब्दबोध में प्रथमान्त पद का अर्थ मुख्य होता है, व्यापार अथवा फल नहीं ।

1- {अ} प्रथमान्तार्थे आख्यातार्थो विशेषणम् । प॰ल॰म॰पृ॰ 160

{ब} अपि च आख्यातार्थ प्राधान्ये तस्य देवदत्तादिभि: समम्
अभेदाऽन्वयात् प्रथमान्तस्य प्राधान्याऽनुपपत्ति: । वै॰भू॰सा॰धा॰नि॰पृ॰58

2- तथा च 'चैत्र: पचति' इत्यादौ 'विक्लृत्यनुकूल व्यापारानुकूलकृतिमा॑न्‌-
श्चैत्र' इति बोध: । प॰ल॰म॰पृ॰ 161

<u>समीक्षा :-</u> नैयायिकों द्वारा मान्य सिद्धान्त 'फल और व्यापार' धात्वर्थ हैं - यद्यपि वैयाकरण आचार्यों के सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है किन्तु उनके अन्य सिद्धान्त प्रत्ययों का अर्थ कृति है, धातु का अर्थ तियादि प्रत्ययों के अर्थों का विशेषण होता है तथा शाब्द बोध में प्रथमाप्रविभक्तान्त पद का अर्थ मुख्य होता है, वैयाकरण आचार्यों की मान्यताओं के पूर्णतः विपरीत है । परिणामतः वैयाकरण आचार्य नैयायिकों की मान्यताओं का प्रबल तर्कों के माध्यम से खण्डन करते हैं । यथा -

वैयाकरण आचार्यों का कथन है कि यदि नैयायिक सिद्धान्त 'प्रत्यायार्थ कृति {यत्न} है' स्वीकार किया जाय तो ऐसी स्थिति में 'त्वं पठसि,' 'अहं पठामि' जैसे प्रयोगों में युष्मद् तथा अस्मद् सर्वनामों के साथ तिपादि प्रत्ययों का समानाधिकरण्य न हो पाने से मध्यमपुरुष तथा उत्तम पुरुष की व्यवस्था नहीं बन पायेगी ।[1] क्योंकि पाणिनि ने 'युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः'[2] तथा 'अस्मद्युत्तमः'[3] इन दो सूत्रों के द्वारा समान अधिकरण होने पर युष्मद् तथा अस्मद् सर्वनाम के साथ क्रमशः मध्यम पुरुष तथा उत्तम पुरुष की व्यवस्था बतायी है । अर्थात् युष्मद् तथा अस्मद् सर्वनाम द्वारा कहे जाने वाले 'कारक' के द्योतन के लिये तिङ् प्रत्ययों का प्रयोग किये जाने पर युष्मद् एवं अस्मद् के साथ क्रमशः मध्यम पुरुष तथा उत्तम पुरुष का प्रयोग होगा । तिङ् का अर्थ कारक मानने पर यह पुरुष व्यवस्था ठीक बन जाती है किन्तु यदि तिङ् का अर्थ कृति माना जाता है तो युष्मद् तथा अस्मद् सर्वनामों की तिङ् प्रत्ययों के साथ वाच्यार्थ भिन्न-भिन्न {युष्मद् तथा अस्मद् का वाच्यार्थ

1- युष्मद् - अस्मदोर्लकारेण सामानाधिकरण्याभावात् पुरुष - व्यवस्थानापत्तेः ।
प॰ल॰म॰पृ॰ 164

2- पा॰ सू॰ 1·4· 105

3- पा॰ सू॰ 1·4· 1·7

क्रमश: मध्यम पुरुष तथा उत्तम पुरुष एवं तिङ्प्रत्ययों का वाच्यार्थ कृति ३ होने के कारण दोनों के मध्य समानाधिकरण्य सम्बन्ध न बन पाने से मध्यम पुरुष एवं उत्तम पुरुष विषयक व्यवस्था ही न बन पायेगी ।

प्रत्यय का अर्थ कृति ३यत्न३ मानने पर तिङन्त पदों की ही भांति कृदन्तपदों से भी कृतिमात्र का बोध होगा । ऐसी स्थिति में 'पचन्तं चैत्रं पश्य' तथा 'पक्ते चैत्रायदेहि' जैसे वाक्यों में शतृ और शानच् प्रत्यय भी 'कृति' मात्र का ही बोध करा सकेंगे जबकि इनसे 'कर्म'सम्प्रदान' आदि कारकों का बोध होना चाहिये ।[1] इस सम्बन्ध में नैयायिकों का यह कथन कि उक्त प्रयोगों में 'कृति' मात्र का बोध होने पर कृति का अन्वय आश्रय-आश्रयीभाव से 'पचन्तं' में कर्म के रूप में तथा 'पक्ते' में 'सम्प्रदान' के रूप में हो जायेगा । किन्तु यह उचित नहीं है । क्योंकि 'पचन्' यदि कृति मात्र का बोध कराता है 'पचन्तम्' में नाम और अर्थ का अन्वय कृति से भिन्न अर्थात् कर्तृत्व अर्थ में नहीं हो सकता । जबकि नाम और अर्थ का सदा अभेदान्वय होता है, यह नियम सर्वत्र लागू होता है ।[2] अत: उक्त प्रयोगों में 'अभेद' सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य कोई भी सम्बन्ध - 'आश्रय-आश्रयीभाव' आदि नहीं स्वीकार किया जा सकता । इस सम्बन्ध में नैयायिकों का यह कथन कि तिङ् आदि प्रत्ययों का अर्थ कृति एवं शतृ आदि कृत् प्रत्ययों का अर्थ कर्ता होता है' मानने से समस्या का समाधान तो हो जाता है । किन्तु तिप् और शतृ आदि प्रत्यय तो लकार के स्थान पर प्रयुक्त होने के कारण उसी के अर्थ का बोध कराते हैं । उनका ३शतृ और तिङ् प्रत्ययों का३ अपना कोई अर्थ ही नहीं है । ऐसी स्थिति में एक ही 'लकार'

1- 'पचन्तं चैत्रं पश्य' पक्ते देवदत्ताय देहि 'इत्यादौ' शतृ-शानच् आदिनाम् अपि तिपादिवत् लादेशाविशेषेण तेभ्य: कृतिमात्र बोधायत्तेश्च । प॰ल॰म॰पृ॰ 164

2- नामार्थ योरभेदान्वय: अथवा नामार्थयोर्भेदेन साक्षादन्वयोऽव्युत्पन्न: । ,, 164

3- अन्यायश्चानेकार्थत्वम् । प॰ल॰म॰पृ॰ 164

'शतृ प्रत्ययान्त शब्द में 'कारक' तथा तिङ् प्रत्ययान्त पदों में कृति का बोध कराकर अपनी द्व्यार्थकता को द्योतित करेगा जो उचित नहीं है । क्यों कि एक ही शब्द की अनेकार्थकता को अनुचित माना गया है । फिर जहाँ एक अर्थ ही मानने से काम चल सकता है वहाँ दो अर्थ मानने में व्यर्थ का गौरव ही होगा ।

नैयायिकों ने 'लः' कर्मणि च०' [1] सूत्र के कर्तृ तथा कर्म पदों को भाव प्रधान मानकर उनका अर्थ कर्तृत्व एवं कर्मत्व किया है । अर्थात् कर्तृवाच्य में इनका अर्थ 'कर्तृत्व' एवं कर्मवाच्य में कर्मत्व होता है । इसीलिये कर्मवाच्य में भी कर्तृवाच्य की ही भांति प्रथमान्त पद का अर्थ प्रधान होता है । इसके विपरीत 'कर्तरिकृत'[2] सूत्र में विद्यमान 'कर्तरि' पद को धर्म प्रधान मानने पर सूत्र का अर्थ - कृत प्रत्यय कर्ता के वाचक हैं होगा । किन्तु 'लः कर्मणि' सूत्र में 'कर्तरि कृत्' सूत्र से 'कर्तरि' की अनुवृत्ति कर कर्तृ पद को भावप्रधान मानना तथा उसी को 'कर्तरिकृत' सूत्र में धर्म प्रधान मानना सर्वथा अयुक्तियुक्त है जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

प्रत्ययों का अर्थ कृति मानने से 'रथः गच्छति' इत्यादि प्रयोगों में रथ के अचेतन होने तथा उसमें चेतन के धर्म 'कृति' के सर्वथा अभाव होने के कारण लक्षणा माननी पड़ेगी । यह लक्षणा का आश्रय लेना एक प्रकार का अनावश्यक गौरव है ।[3] साथ ही प्रत्यय का अर्थ कारक न होने पर उक्त अनुक्त व्यवस्था भी न बन पायेगी । यहाँ पर नैयायिकों का यह कथन कि 'अनभिहिते' में पाणिनि का लक्ष्य 'अनभिहित कारके' न

1- पाणिनि सूत्र 3.4.69

2- पाणिनि सूत्र 3.4.67

3- किञ्च कृति वाच्यत्वे 'रथो गच्छति' इत्यादौ आश्रये लक्षणास्वीकारे गौरवापत्तिः ।

प०ल०म०पृ० 170

होकर 'अनभिहिते' में संख्याके' है, युक्तियुक्त नहीं है । क्योंकि अभिधान कृत् तद्धित तथा समास से होता है ।[1] इनमें कोई भी संख्या का अभिधान नहीं करता । अतः सूत्र 'अनभिहिते' का अर्थ 'अनभिहिते संख्याके' न होकर 'अनभिहिते कारके' ही होगा ।

कृति अथवा एक प्रकार का सामान्य व्यापार है[2] जिसका कथन धातु के द्वारा ही किया जाता है - धातु के वाच्यार्थ में ही यह सामान्य व्यापार (यत्न भी समाविष्ट रहता है, क्योंकि नैयायिक आचार्य भी व्यापार तथा फल दोनों को ही धात्वर्थ मानते हैं । अतः कृति अथवा यत्न को प्रत्ययार्थ मानना उचित नहीं है । क्योंकि शब्दार्थ वह होता है जो अन्य द्वारा ज्ञात न हो । इस सम्बन्ध में एक नियम है - 'वाक्य के किसी शब्द का वाच्यार्थ वही हो सकता है जो उस वाक्य के किसी अन्य शब्द का वाच्यार्थ न हो ।' सर्वत्र लागू होता है ।[3] कर्मकर्तरि प्रयोगों में सौकर्य का अतिशय दिखाने के उद्देश्य से कर्ता के व्यापार की अविवक्षा कर दी जाती है जिससे अन्य कारक भी कर्ता बन जाते हैं । यथा - 'स्थाली पचति' इस प्रयोग में सौकर्य का अतिशय दिखाने के उद्देश्य से स्थाली के अधिकरण की अविवक्षा कर दी गयी है । जिससे स्थाली के कर्ता होने में स्थाली स्थित यत्न को पच धातु कहती है । अतः स्थाली स्वतंत्र होने के कारण करती है ।[4] यहाँ पर यत्न का तात्पर्य व्यापार सामान्य ही है । अन्यथा अचेतन स्थाली में चेतन के धर्म कृति अथवा यत्न की सम्भावना ही न नहीं है क्योंकि यत्न तो चेतन का ही गुण है । अतः अचेतन स्थाली उसका आश्रय हो

1- न च 'अनभिहिते' (पा॰ 2·3·1) इति सूत्रे 'अनभिहित संख्याके' इत्यर्थवर्णनम् - इति वाच्यम्, कृत्तद्धितसमासैः संख्याभिधानस्य अप्रसिद्धत्वात् । प॰ल॰म॰पृ॰ 170

2- (अ) यत्न शब्देन व्यापारसामान्यम् । नागेश महाभाष्य 1·4·23

(ब) किं च यत्नोऽपि व्यापारसामान्यं धातु एव लभ्यते । प॰ल॰म॰पृ॰ 170

3- अनन्य लभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात् । प॰ल॰म॰पृ॰ 170

4- एवं तर्हि स्थालीस्थे यत्ने कथ्यमाने स्थाली स्वतंत्रा । महाभाष्य 1·4·23

ही नहीं सकती । इस प्रकार जब व्यापार सामान्य 'कृति {यत्न} का बोध धातु से हो जाता है तो उसे आख्यात अर्थात् लकारों { लिङ् प्रत्ययों } का अर्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

वैयाकरणों की दृष्टि में नैयायिकों की मान्यता 'तिङ् का अर्थ विशेष्य अर्थात प्रधान तथा धातु का अर्थ तिङर्थ का विशेषण अर्थात् अप्रधान होता है,' भी स्वीकार करने योग्य नहीं है । वैनैयायिकों द्वारा मान्य सिद्धान्त के मूल में 'प्रकृति प्रत्ययौ सहार्थ ब्रूतस्तयो: प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्' परिभाषा है । अर्थात् प्रकृत्यर्थ और प्रेत्ययार्थ दोनों सदैव एक साथ उपस्थित होते हैं तथा दोनों अर्थों में प्रत्ययार्थ की प्रधानता होती है । परन्तु इस नियम के सार्वभौम नियम न होने के कारण नैयायिक मत युक्तियुक्त नहीं है । क्योंकि इस नियम का क्षेत्र केवल कृत् एवं तद्धित प्रत्यय तक ही सीमित है । यहाँ प्रत्यय के अर्थ की प्रधानता का तात्पर्य प्रत्यय के वाच्य अर्थ की प्रधानता से है । जो प्रत्यय किसी विशेष अर्थ के वाच्य हैं वे ही प्रधान होते हैं परन्तु जो प्रत्यय केवल द्योतक होते हैं उनका अर्थ प्रधान नहीं होता ।[1] इसीलिये 'अजा' कहने पर 'टाप' प्रत्यय के द्योत्य अर्थ स्त्रीत्व की प्रधानता न होने से, स्त्रीत्व विशिष्ट पशु विशेष अर्थ का ही प्रधान रूप से बोध होता है । स्त्रीत्व के बोधक प्रत्यय द्योतक होते हैं ।[2] यदि वे वाचक होते तो प्रधान होने के कारण 'अजत्व विशिष्ट स्त्री' का बोध होता है । किन्तु ऐसा नहीं होता । अत: धातु का अर्थ प्रत्यय के अर्थ का विशेषण होता है । तथा विशेष्य प्रत्ययार्थ होता है, मानना ठीक नहीं है । इसीलिये पाणिनि ने प्रधान प्रत्ययार्थ वचनों का खण्डन किया है ।[3]

1- तत्रापि प्रत्यय-वाच्यस्यैव अर्थस्य प्राधान्यम् । द्योत्यस्य तु अप्राधान्यमेव ।
प·ल·म·पृ 173

2- अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत् स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये टाप् स्यात् । सि·कौ·सू·454

3- प्रधान प्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् । पा· 1·2·56

साथ ही प्रत्यायार्थ को प्रधान बतलाने वाला प्रकृति प्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्' एक सामान्य नियम है, जिसका अपवाद 'भाव प्रधानमाख्यातं सत्वप्रधानानि नामानि' अर्थात् 'आख्यात भाव प्रधान होता है तथा नाम सत्व प्रधान' एक विशेष नियम है जो उक्त नियम को बाधित करता है । इसलिये तिङ्न्त पदों के शाब्द बोध में धात्वर्थ ही प्रधान होता है प्रत्ययार्थ नहीं । इस सिद्धान्त की पुष्टि भाष्यकार ने पाणिनि सूत्र 'प्रशंसायां रूपप्'[1] के भाष्य में बड़े ही स्पष्ट शब्दों में की है ।[2]

नैयायिक आचार्य 'भावप्रधानं आख्यातं' में आख्यात पद का अर्थ तथा 'भाव प्रधानम्' पद में बहुव्रीहिसमास के स्थान पर षष्ठी तत्पुरुष मानकर उसका अर्थ 'भावस्य प्रधानम्' (भाव का प्रधान) मानकर 'तिङ् भाव प्रधान होता है' का प्रतिपादन करते हैं । यह मान्यता सर्वथा असंगत है । क्योंकि 'आख्यातं पद का अर्थ सर्वत्र वैयाकरणों एवं नैरुक्तों की दृष्टि में 'तिङन्त' पद ही होता है केवल तिङ् प्रत्यय नहीं । इसका स्पष्ट प्रमाण है कि भाष्यकार ने 'उणादयो बहुलम्'[3] सूत्र 'सर्वयाख्यातजं नाम' कह कर आख्यात पद का प्रयोग धातु के अर्थ में किया है । यास्क ने भी निरुक्त के आरम्भ में पदों का विभाजन करते हुए नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात का नाम लिया है । यहाँ पर उल्लिखित आख्यात पद किसी भी हालत में तिङ् प्रत्ययों मात्र का बोधक नहीं हो सकता वरन् वह तिङन्त पद है । वास्तव में भाव प्रधानमाख्यातम्' में आख्यात पद का अर्थ तिङन्त पद ही है । साथ ही यदि यास्क का मन्तव्य आख्यात पद से तिङ्

1- पाणिनि सूत्र 5. 3. 66

2- सिद्धं तु क्रिया प्रधानत्वात् । क्रिया प्रधानं आख्यातं भवति । एका च क्रिया । द्रव्य प्रधानं नाम । कथं पुनर्ज्ञायते । क्रियाप्रधानं आख्यातं द्रव्यप्रधानं नाम इति ।
महाभाष्य 5.3.66

3- पाणिनि सूत्र 3.3.1

प्रत्यय ही होता तो उन्होंने 'आख्यात भाव प्रधान होता है तथा नाम द्रव्य प्रधान' इस विशिष्ट नियम को बनाने की आवश्यकता ही न होती क्योंकि लिङ्‌र्थ के प्रधानता का नियम 'प्रकृति प्रत्ययौठ' पहले से ही था। इसलिये यास्क आदि के इस विशेष नियम के कारण लिङ्‌न्त पदों में क्रिया की प्रधानता अर्थात् धात्वर्थ की प्रधानता माननी चाहिये न कि लिङ्‌प्रत्ययों के अर्थ की।[1] अत: तिङन्त पदों के अर्थ बोध में धातु का अर्थ प्रधान होता है प्रत्यय का नहीं यही मानना उचित है।

नैयायिकों के मत में प्रथमा विभक्त्यन्त पद का अर्थ शाब्द-बोध में मुख्य विशेष्य होता है[2] व्यापार अथवा फल गौण होते हैं। वैयाकरण आचार्य नैयायिकों के शाब्द-बोध सम्बन्धी प्रथमान्त विशेष्क-शाब्द बोध को असंगत मानते हुए उसकी अयुक्ति युक्तता का प्रतिपादन करते हैं। उनका कहना है कि यदि नैयायिकों के इस मत को स्वीकार कर लिया जाय तो 'पश्य मृगोधावति' जैसे वाक्य ही नहीं बन पायेंगे। क्योंकि नैयायिकों की दृष्टि में 'पश्य मृगो धावति' का शाब्द बोध होगा - 'देखना रूप जो व्यापार उसके अनुकूल जो यत्न उसके आश्रयतुम'।[3] तथा पश्य क्रिया का कर्म होगा 'मृगोधावति' तथा उसका शाब्द-बोध होगा - अन्य स्थान से संयोग रूप जो 'फल' उसके 'अनुकूल' जो 'यत्न' उसका आश्रय मृग।

इस प्रकार नैयायिकों द्वारा मान्य मतानुसार शाब्दबोध में धावति की प्रधानता न होकर 'मृग' की प्रधानता है क्योंकि वह प्रथमान्त है। इसलिये पश्य क्रिया के कर्म होने तथा प्रधान होने के कारण कर्मणि द्वितीया सूत्र के अनुसार 'मृग' पद के साथ द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होगा। फलत: 'मृग:धावति' के स्थान पर 'मृगं धावति' प्रयोग को

1- तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानी मानि भवन्ति, तत्रैतन्नामाख्यात योर्लक्षणं प्रदिशन्ति। भाव प्रधानमाख्यातं सत्व प्रधानानि नामानि। निरुक्त० 1·1·1·

2- "प्रथमान्तार्थ-मुख्य-विशेष्यको बोध:"- तार्किक मते। प०ल०म०पृ० 176

3- अन्य देश संयोगानुकूलधावनानुकूलकृतिमन्मृगकर्मक प्रेरणाविषयीभूतं

स्वीकार करना पड़ेगा । साथ ही 'पश्य मृगं धावति' यह प्रयोग भी समाप्त हो जायेगा ।क्योंकि 'मृगं' के द्वितीयान्त होने के कारण 'धावति' का प्रथमा से भिन्न विभक्ति के साथ सामानाधिकरण्य हो जायेगा । जिसका परिणाम यह होगा कि प्रथमातिरिक्त विभक्तियों के सामानधिकरण्य में नित्य शतृ तथा शानच् का विधान[1] किये जाने के कारण सदैव 'पश्य मृगं धावन्तम्' प्रयोग ही होगा और 'पश्य मृगोधावति' जैसे प्रयोग सदैव के लिये विलुप्त हो जायेंगे ।

वैयाकरणों के अनुसार इस वाक्य का प्रधान अर्थ है - देखना रूप क्रिया अथवा व्यापार उस प्रधानभूत देखने क्रिया का कर्म है 'मृग का दौड़ना' तथा इस देखने क्रिया का कर्ता है तुम, जिसको देखने के लिये वक्ता प्रेरितकर रहा है । अत: वैयाकरणों की दृष्टि में इस वाक्य का शाब्द बोध होगा - मृगकर्तृक धावनकर्मक प्रेरणाविषयी-भूत तू है कर्ता जिसका ऐसा दर्शन ।[2] यहाँ मृगोधावति में विशेष्यभूत धावन अर्थ का वाचक धावति पद क्रिया है । प्रातिपदिक नहीं । अत: प्रातिपदिक न होने के कारण उसके साथ द्वितीया विभक्ति नहीं होती, कर्मत्व की प्रतीति सम्बन्ध के द्वारा हो जाती है ।[3] क्रियायें भी अन्य क्रियाओं की कर्ता कर्म आदि हो सकती है । इसमें भूवादयो: धातव:[4] सूत्र का भाष्य ही प्रमाण है ।[5]भर्तृहरि ने भी कहा है - जैसे अनेक

1- लट: शतृशानचावप्रथमा समानाधिकरणे । पा॰ 3॰2॰124

2- मृगकर्तृकधावन कर्मक प्रेरणा विषयीभूत त्वत्कर्तृकं दर्शनम् । प॰ल॰म॰पृ॰ 176

3- धावतीत्यस्य प्रातिपदिकत्वाभावान्न द्वितीया, कर्मत्वन्तु संसर्गमर्यादया भासते ।
प॰ल॰म॰पृ॰ 176

4- पा॰ सू॰ 1॰3॰1

5- का एषा वाचो युक्ति: । 'भवति पचति,' 'भवति पक्ष्यति' 'भवति अपाक्षीत्' ?
एषैषा वाचो युक्ति: - पच्यादय: क्रिया भवति क्रियाया: कर्त्र्यो भवन्ति ।
महाभाष्य 3॰3॰1

सुवन्त तिङन्त के विशेषण हो सकते हैं वैसे ही अनेक तिङन्त भी तिङन्त के विशेषण हो सकते हैं ।[1] इसी कारण 'भवति पचति', 'भवति पक्ष्यति' आदि प्रयोग मिलते हैं ।

इस आक्षेप का उत्तर देते हुए नैयायिक कह सकते हैं कि 'पश्य मृगो धावति' वाक्य में 'मृगोधावति' की एक साथ तो कर्म संज्ञा है किन्तु मृग प्रातिपदिक की अकेले कर्म संज्ञा नहीं है । परन्तु वैयाकरण आचार्य नैयायिकों के इस समाधान को असंगत ठहराते हुए इस बात को स्पष्ट करते हैं कि 'मृग' तथा 'धावति' दोनों कीही अलग-अलग 'कर्म' संज्ञा होनी चाहिए । क्योंकि कारकों का अन्वय साक्षात् तथा आश्रय द्वारा दो प्रकार से होता है । इसीलिये 'कटं भीष्मं कुरू' इस वाक्य में विशेष्यभूत कट शब्द से साक्षात् कर्म होने के कारण द्वितीया विभक्ति होती है तथा 'भीष्म' शब्द से आश्रय द्वारा द्वितीया विभक्ति हुई है ।[2] इससे यह प्रमाणित होता है कि 'मृगोधावति' वाक्य में दोनों ही पद कर्म हैं । किन्तु 'धावति के क्रिया पद होने तथा प्रातिपदिक न होने के कारण उसके साथ द्वितीया विभक्ति नहीं होती परन्तु 'मृग' शब्द के प्रातिपदिक होने के कारण द्वितीया विभक्ति अवश्यमेव होगी तथा 'पश्य मृगं धावति' जैसा असाधु प्रयोग होने लगेगा ।[3] 'मृग' के साथ द्वितीया विभक्ति का प्रयोग उसी प्रकार अनिवार्य होगा जिस प्रकार 'राज्ञः पुरूषम् आनय' इस वाक्य में 'आनयन' क्रिया के कर्म एवं विशेष्य 'पुरूष' शब्द के साथ द्वितीया विभक्ति संयुक्त होती है ।

1- सुबन्तम् हि यथानेकं तिङन्तस्य विशेषणम् ।
तथा तिङन्तमप्याहुस्तिङन्तस्य विशेषणम् ।। वा॰ प॰ 2॰6

2- नैष दोषः । अथवा कट एवं कर्म भीष्मादयोऽपि । तत्र कर्मणीत्येव सिद्धम् ।
महाभाष्य 2॰3॰1

3- तस्माद् 'धावतिमृगः' इत्यत्रोभयोः कर्मत्वे धावतीत्यस्य प्रातिपदिकत्वाभावात् विशेषणत्वेनान्यम् निराकाङ्क्षत्वाच्च द्वितीयोत्पत्त्यभावेऽपि मृगशब्दात् द्वितीया दुर्वारैवेत्यवेहि इति । प॰ल॰म॰पृ॰ 18

अतः इस दोष के कारण नैयायिकों का सिद्धान्त 'प्रथमान्तार्थ मुख्य विशेष्यक शाब्द-बोध' न मानकर वैयाकरण सम्मत धात्वर्थ मुख्य विशेष्यक शाब्द बोध मानना ही उचित है ।

वैयाकरणमत :- वैयाकरण आचार्यों की मान्यता है कि फल और व्यापार धातु के अर्थ होते हैं तथा आख्यात पदों में निहित तिङ् प्रत्यय कर्ता, कर्मादि का अर्थ बोध कराते हैं । वस्तुतः कोई भी आख्यात पद क्रियारूपों के दो अंशों के परस्पर संयोजन से बनता है । यथा - पचति, पठति आदि आख्यातपद पच् एवं पठ् धातु में तिप् प्रत्यय के संयोग से बने हैं । अतः इन आख्यात पदों के पच् एवं पठ् आदि अंश को धात्वंश हतप् आदि प्रत्ययों को तिङंश कहलाता है । यद्यपि पच् एवं पठ् आदि धातुये धातु विशेष के रूप में परस्पर भिन्न है तथा इस रूप में उनका अर्थ विशेष भी एक दूसरे से भिन्न है । किन्तु इन समस्त धातुओं में सदैव विद्यमान रहने वाली 'धातुत्व' जाति के आधार पर किंचित् साम्यता होने के कारण धातु सामान्य के रूप में एक है । फलतः आख्यात पदों में विद्यमान रहने वाले धात्वंश का अर्थ भी सामान्य रूप से एक होता है और वह है - फल और व्यापार ।[1] फल और व्यापार को समझने के लिये 'देवदत्तास्तण्डुलान् पचति' उदाहरण का सहारा लिया जा सकता है । इस वाक्य में देवदत्त द्वारा आग प्रज्वलित करने तथा चावल युक्त पात्र को अग्नि पर रखने से लेकर चावलों के गलने तक किया जाने वाला क्रिया कलाप व्यापार है तथा चावल का गलना फल है । और यह फल तथा व्यापार धातु के अर्थ हैं ।

वैयाकरण आचार्यों की प्राचीन तथा नवीन परम्परा धातु के अर्थ फल और व्यापार के स्वरूप को लेकर विभाजित है प्राचीन वैयाकरण आचार्य फलानुकूल यत्न सहित

1- (अ) फलव्यापारयोर्धातुः । वै॰भू॰सार धा॰ निर्णय॰ पृ॰ 14

(ब) क्रियावचनो धातुः, भाववचनो धातुः । महाभाष्य 2·3·1

व्यापार को धातु का अर्थ मानते हैं । वे फल और व्यापार को धातु के पृथक्-पृथक् अर्थ के रूप में ग्रहण करते हैं । इसी लिये 'फलव्यापारयोर्धातु में राश्रये तु तिङ् स्मृताः' इस कारिका में 'फल व्यापारयोः' पद में द्विवचन का प्रयोग किया गया है । महाभाष्यकार का 'द्व्यर्थः पचिः' कथन इसी तथ्य को भी द्योतित करता है । महाभाष्यकार ने 'भूवादयो धातवः' (1.3.1) सूत्र की व्याख्या करते हुए धातु के अर्थ के रूप में फल और व्यापार दोनों को स्वीकार किया है । विक्लित्ति को पच् धातु का अर्थ मानकर उन्होंने फल का कथन किया है । तथा ईहा, चेष्टा एवं व्यापार को पर्यायवाची कहा है ।[1] कौण्डभट्ट ने विक्लित्ति (गलने) को पच् धातु का (अर्थ) फल कहा है ।[2] इसी भाव का प्रतिपादन भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय में किया है ।[3] इससे 'फलानुकूलो यत्न सहित व्यापारो धात्वर्थः' यह भाव सहज ही निकल आता है ।

किसी क्रिया के द्वारा फल प्राप्ति तक अनेक व्यापार होते हैं । यथा - पाक क्रिया में, अग्नि प्रज्वलित करना, उस पर पात्र रखना, आग में फूंक मारना तथा चावल के पकने न पकने का परीक्षण करना आदि अनेक व्यापार होते हैं । परन्तु इन व्यापारों का कथन करने वाली धातु के अर्थ अनेक नहीं होते क्योंकि धातु के अर्थ व्यापार से तात्पर्य ऐसी क्रिया से है जो साध्य हो न कि सिद्ध । इसी साध्यक्रिया को व्यापार, भावना, क्रिया, उत्पादना आदि नामों से द्योतित किया जाता है । भर्तृहरि ने भी व्यापार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो कुछ भी सिद्ध अथवा असिद्ध साध्य रूप से विवक्षित होता है वह उत्पत्ति के कारण क्रमभाव को प्राप्त हुआ क्रिया

1- क्रियावचनो धातुः । का पुनः क्रिया ? ईहा का ? चेष्टा । का पुनश्चेष्टा ? व्यापारः । x x x अर्थोऽपि कश्चिद् गम्यते-विक्लित्तिः कर्तृत्वमेकत्वंच ।
महाभाष्य 1.3.1

2- फलं विक्लित्यादि । वै.भू.सा.धा.नि.पृ. 16

3- यस्यार्थस्य प्रसिद्ध्यर्थमारभन्ते पचादयः ।
तत्प्रधानं फलं तेषां न लाभादि प्रयोजनम् । वा.प.उपग्रह समुद्देशः का. 18

कहलाता है तथा क्रम से उत्पन्न होने वाले अनेक अवयवीभूत व्यापार ही संकलनात्मक अखण्ड बुद्धि से समूह रूप में गृहीत होने पर क्रिया कहलाते हैं ।[1] इसी लिये ये पाक क्रिया हेतु कार्यरत व्यक्ति से 'क्या कर रहे हो' पूछने पर पका रहा हूँ आदि ही उत्तर प्राप्त होते हैं । वस्तुत: पचति आदि का प्रयोग अनेक व्यापारों तथा एक व्यापार दोनों के लिये किया जाता है ।[2]

साध्य और सिद्ध का लक्षण :- वस्तुत: व्यापार रूप क्रिया स्वरूप भेद से दो प्रकार की होती है - सिद्धस्वभाव एवं साध्यस्वभाव । तिङ्न्त पदों से ज्ञात होने वाली क्रिया साध्य स्वभाव कहलाती है । यथा - पचति एवं कृदन्त पदों वाली क्रिया सिद्धस्वभाव कहलाती है । यथा पाक: आदि ।

जिस क्रिया का श्रवण कर अर्थबोध के लिये उसे किसी अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा नहीं होती साध्य कहलाती है । पचति आदि क्रियापदों के अर्थ बोध के लिये किसी अन्य क्रिया पदों की अपेक्षा नहीं होती अत: वे साध्य क्रियायें हैं । इसी दृष्टि से साध्य का लक्षण करते हुए कौण्डभट्ट ने कहा है - दूसरी क्रिया की आकाङ्क्षा का न उठना ही साध्यावस्था है । अर्थात् जिसका प्रयोग करने पर दूसरी क्रिया की आकाङ्क्षा नहीं होती वह साध्य कहलाती है ।[3] पाक: करने पर करोति आदि अन्य

1- यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते ।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते ।। वा॰3 कि॰स॰ ।
गुणभूतैरवयवै: समूह: क्रमजन्मनाम् ।
बुद्ध्या प्रकल्पित: भेद: क्रियेति व्यपदिश्यते । वा॰3 कि॰ स॰ 4

2- एकदेशे समूहे वा व्यापाराणां पचादय: । स्वभावत: प्रवर्तन्ते तुल्यरूपं समाश्रिता:
वा॰3 सा॰ 8

3- क्रियान्तराकाङ्क्षानुत्थापकतावच्छेदकरूपं साध्यत्वम् । तद् रूपत्वम् असत्वभूतत्वम् ।
हेलाराज वा॰प॰ 3 का॰ ।

(ब) पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रम प्रभृत्यपवर्ग पर्यन्तम् ।
निरुक्त 1·1·1

क्रियाओं की आकाङ्क्षा होती है, किसी कारक की आकाङ्क्षा नहीं होती जिसके उच्चारण करने पर किसी अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा हो, जो कारक के रूप में क्रिया से अन्वित हो तथा दूसरे कारक के साथ जिसका अन्वयन हो सके वह सिद्ध है ।[1] पाक: घट: आदि पदों में इस लक्षण के अनुसार सिद्धत्व विद्यमान है । यही साध्यावस्था और सिद्धावस्था के मध्य अन्तर है । जब क्रिया साध्यावस्था में होती है उसे अर्थबोध के लिये किसी अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा नहीं होती किन्तु क्रिया के सिद्धावस्था में होने पर अन्य क्रियाओं को जानकर ही उसका अर्थबोध किया जा सकता है । इस प्रकार 'पचति' में पच् धातु द्वारा वाच्य पाक क्रिया साध्यावस्था में तथा घ दिप्रत्ययों द्वारा वाच्य 'पाक:' में क्रिया सिद्धावस्था में रहती है । इसी को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने धातुरूप से निबद्ध क्रिया को साध्यभाव तथा घ दिप्रत्ययों द्वारा निबद्ध क्रिया का सिद्धभाव कहा है ।[2]

वस्तुत: साध्यता एवं सिद्धता ही आख्यात और नाम के विभेदक तत्व है । इसीलिये आचार्य यास्क ने जिन पदों से सत्व (सिद्धत्व) प्रधान रूप से प्रकट होता है उन्हें नाम तथा जिनसे असत्व (साध्यत्व) प्रकट होता है उन्हें आख्यात कहा है । इसी भाव को भर्तृहरि ने सत्वभावापन्न वस्तु नाम पदों से तथा असत्वभावापन्न तिङ् पदों द्योतित होता है, ऐसा प्रतिपादित किया है ।[3]

1- सिद्धत्वम् - क्रियान्तराकाङ्क्षोत्थापकतावच्छेदकवैजात्यवत्वेसति ।
कारकत्वेन क्रियान्वयित्वे सति कारकान्तरान्वया योग्यत्वम् । प•ल•म•पृ• 144

2- साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूप निबन्धना ।
सिद्धभावस्तु यस्तस्या: स घञादिनिबन्धन: ।। वा•3•कि•स•का• 48

3- सत्वस्वभावमापन्ना व्यक्तिर्नामभिरुच्यते ।
असत्वभूतो भावश्च तिङ् पदैरभिधीयते ।। वा•प•3 क्रि•स•का• 47

नवीन वैयाकरणों की दृष्टि में फल और व्यापार के लक्षण : प्राचीन वैयाकरणों से किञ्चित् भिन्न है । यथा -

फल का लक्षण :- धातु से कर्ता में प्रत्यय होने पर उस धातु से उत्पन्न तथा उस धातु में रहने वाली विशेष्यता द्वारा निरूपित विशेषणता जिसमें हो वह फल है । यथा - 'पचति' आख्यात पद में पच् धातु से तिङ् प्रत्यय कर्ता में हुआ है तथा पच् धातु के अर्थ अर्थात् अग्नि प्रज्वलन आदि व्यापार समूह से उत्पन्न एवं उस धातु के अर्थ अर्थात् व्यापार में रहने वाली विशेष्यता द्वारा निरूपित विशेषणता - फल प्रकारता व्यापार विशेष्यता विक्लिप्ति में है अत: विक्लित्ति फल है । कर्म में प्रत्यय होने पर व्यापार विशेषणक और फल विशेष्यक बोध होता है । अर्थात् फल व्यापार जन्य होने के कारण विशेष्य होते हुए भी कर्तृवाच्य में विशेषण बनता है तथा धात्वर्थ रूप व्यापार को विशेषित करता है ।

धात्वर्थ फल को यदि धात्वर्थ जन्य न कह कर मात्र धात्वर्थ रूप व्यापार को विशेषित करने वाला ही कहा जाय अर्थ फल को केवल विशेषण के रूप में ही स्वीकार किया जाय तो 'वृक्षात् पत्रं भूमौ पतति' जैसे प्रयोगों में पत् धातु के अर्थ में विभाग तथा संयोग दोनों में फलत्व जाति की अतिव्याप्ति हो जायेगी । क्योंकि विभाग विशेषण बनकर पत्धातु के अर्थ संयोग को विशेषित करता है । विभाग जन्य संयोग ही यहाँ व्यापार है । इसलिये विभाग संयोगरूप व्यापार का विशेषण बन जाता है ।[2] परन्तु फल को धात्वर्थ जन्य कह देने पर फलत्व में विभाग की अतिव्याप्ति नहीं होगी ।

1- फलत्वं च तद् धात्वर्थ - जन्यत्वे सति कर्तृ-प्रत्यय समाभिव्याहारे तद् धात्वर्थ निष्ठ - विशेष्यता - निरूपित प्रकारतावत्त्वम् । प॰ल॰म॰पृ॰ 127

2- विभागजन्य संयोगादिरूपे पतत्यादिधात्वर्थे विभागसंयोगयो: फलत्ववारणायोभयम् । प॰ल॰म॰पृ॰ 127

क्योंकि विभाग धात्वर्थ रूप संयोग से जन्य नहीं है अपितु वह संयोग का जनक है । अतः पत् गम् आदि धातुओं का अर्थ विभागानुकूल व्यापार नहीं न होकर संयोगानुकूल व्यापार है । अर्थात् फल विभाग न होकर संयोग ही है ।

<u>व्यापार का लक्षण :-</u> नवीन वैयाकरण आचार्यों के अनुसार - धातु के अर्थ फल का उत्पादक होते हुए जो धातु का वाच्य अर्थ हो,[1] व्यापार कहलाता है । यथा - पच् आदि धातु के अर्थ फल विक्लित्ति इत्यादि को उत्पन्न करने वाले फूत्कारादि व्यापार धातु के वाच्य अर्थ होने के कारण व्यापार है । यहाँ पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि विक्लित्ति को उत्पन्न करने वाले नाना व्यापार यदि पच् धातु के वाच्य हैं तो पच् धातु अनेकार्थक हो जायेगी । इसका समाधान हो जाता है । यथा- पच् धातु के अर्थ फूत्कारादि व्यापारों को बुद्धि विशेष एक साथ संयोजित कर अनेक अवान्तर क्रियाओं के होने पर भी उन सब के उद्देश्य विक्लित्ति रूप फल का बोध कराता है ।[2]

अतः पच् आदि धातुयें किसी एक क्रिया की बोधक न होकर सकल व्यापार समूह की वाचक होती है । जैसे - तद् इ म् आदि शब्द अनेक पदार्थों का बोध कराते हैं - स वानरः, सा लता, घटमस्ति तमानय, पटमस्ति तमानय, इत्यादि । परन्तु उन सब पदार्थों का बोध कराने पर भी तद्, इदम् आदि पद एक बुद्धि विशेष के कारण अनेकार्थक नहीं होते । ठीक इसी प्रकार पच् आदि धातुयें भी बुद्धि विशेष के कारण व्यापार समूह का बोध कराने पर भी नानार्थक नहीं कही जाती ।

1- धात्वर्थ फलजनकत्वे सति धातुवाच्यत्वम् । प॰म॰पृ॰ 129

2- न च नानार्थताऽऽपत्तिः । तदादिन्यायेन बुद्धि विशेषादेः शक्यतावच्छेदकानाम् अनुगमकस्य सत्त्वात् । वै॰भू॰सार॰ पृ॰ 22

नागेश मत :- कौण्डभट्ट आदि प्राचीन वैयाकरण आचार्य फल और व्यापार दोनों को अलग-अलग धातु का अर्थ मानते हैं, जबकि नवीन वैयाकरण आचार्य पूर्व वैयाकरणों के उक्त मत को न स्वीकार कर[1] धातु को 'फलानुकूल व्यापार' तथा 'व्यापार जन्य फल' का बोधक मानते हैं । उनका कहना है कि फल और व्यापार में धातु की पृथक्-पृथक शक्ति मानने पर अर्थ के अनुसार कभी व्यापार को उद्देश्य एवं फल को विधेय तथा कभी फल को उद्देश्य तथा व्यापार को विधेय मानना होगा ।[2] यथा 'नीलोघट:' में कभी 'नील:' उद्देश्य तथा 'घट:' विधेय और कभी 'घट:' उद्देश्य एवं 'नील:' विधेय होता है । धातु के दो अर्थ मानने पर एक पद में दो व्युत्पत्तियाँ माननी पड़ेंगी । फलत: फल विशेषणक व्यापार विशेष्यक शाब्द बोध में धातु के साथ सम्बद्ध होने वाले कर्तृवाचक प्रत्यय कारण होंगे तथा व्यापार विशेषणक फल विशेष्यक शाब्द बोध में धातु के साथ सम्बद्ध होने वाले कर्मवाचक प्रत्ययों को कारण मानना पड़ेगा ।[3] साथ ही धातु के दो भिन्न-भिन्न अर्थ होने से उन अर्थों की दृष्टि से धातुओं दो प्र,क प्रकार की 'शक्ति' एवं दो प्रकार के बोध जनकता सम्बन्ध मानने होंगे, जो उचित नहीं है ।[4] इसलिये फल एवं व्यापार दोनों को धातु का पृथक्-पृथक् अर्थ न मानकर व्यापार विशिष्ट फल अथवा फल विशिष्ट व्यापार को धातु का अर्थ मानना ठीक होगा ।

1- फलव्यापारयोर्धातोः पृथक् शक्तावुद्देश्य विधेय भावेन अन्वया पत्तिस्तयोः स्यात्
प॰ल॰म॰पृ॰ ।3।

2- पृथग् उपस्थितयोस्तथा अन्वयस्य औत्सर्गिकत्वात् । प॰ल॰म॰पृ॰ ।3।

3- तथाहि फल विशेषणक व्यापारबोधे कर्तृप्रत्यय-समभिव्याहृत धातुजन्योपस्थितिः कारणम् ।
व्यापार विशेषणक फल बोधे कर्म प्रत्यय समभिव्याहृत धातुजन्योपस्थितिः कारणम् ।
प॰ल॰म॰पृ॰ ।3।

4- धातोरर्थद्वये शक्तिद्वयकल्पनं, धातोर्बोधजनकत्व सम्बन्ध द्वय-कल्पनं चातिगौरवम् ।
प॰ल॰म॰पृ॰ ।3।

नागेश – मत की समीक्षा :– वैयाकरण परम्परा नागेश भट्ट द्वारा प्रतिपादित फल विशिष्ट व्यापार अथवा व्यापार विशिष्ट फल को धातु के अर्थ के रूप में न स्वीकार कर फल एवं व्यापार दोनों को पृथक् पृथक् रूप में धातु का अर्थ मानते हैं । नागेश मत की आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि यदि फल विशिष्ट व्यापार अथवा व्यापार विशिष्ट फल को धातु का अर्थ मानेंगे तो फल और व्यापार दोनों स्वतन्त्र पदार्थ न होकर पदार्थ के एक देश होंगे फलस्वरूप उनमें कर्ता एवं कर्म का अन्वय नहीं होगा क्योंकि ये स्वतन्त्र पदार्थ न होकर पदार्थ के एक देश । हैं जबकि कोई भी पदार्थ दूसरे सम्पूर्ण पदार्थ के साथ अन्वित हुआ करता है न कि पदार्थ के एक देश के साथ ।[1] अतः कर्म एवं कर्ता के परस्पर अन्वय के लिये आवश्यक है कि फल एवं व्यापार दोनों को धातु का स्वतन्त्र अर्थ माना जाय । साथ ही नागेश तथा अन्य वैयाकरणों में आख्यात पदों के अर्थ में व्यापार तथा फल की प्रधानता को लेकर मतभेद है । नागेशादि नवीन वैयाकरण आख्यात पदों के अर्थ में धातु के अर्थ के रूप में कर्तृ प्रत्यय में व्यापार तथा कर्म प्रत्यय में फल को प्रधान मानते हैं जबकि प्राचीन वैयाकरण आचार्यों की दृष्टि में आख्यात पदों में सदैव धात्वर्थ व्यापार प्रधान होता है ।[2] धात्वर्थ के व्यापार प्रधान होने की स्थिति में 'पचति' पद का अर्थ – एक निष्ठ पाकानु – कूल व्यापार तथा 'पच्यते' पद का अर्थ – एक निष्ठ विक्लित्ति के अनुकूल व्यापार होगा । नागेशादि मत में धात्वर्थ को व्यापार प्रधान मानने के कारण 'पचति' पद का अर्थ तो प्राचीन वैयाकरणों की ही भांति है किन्तु 'पच्यते' पद का अर्थ – व्यापार जन्य एकनिष्ठ विक्लित्ति है ।

1– पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन ।

2– फल समानाधिकरण व्यापार वाचकत्वम् अकर्मकत्वम् ,
क्वचित्तु फलांशाभावाद् अकर्मकत्वम् । यथा – अस्ति आदौ केवलं सत्तादिरेवार्थः । फलांशस्य सूक्ष्मदृष्ट्याऽप्यप्रतीतेः । प॰ल॰म॰पृ॰ 148

इस दृष्टि से कौण्डभट्टादि अभिमत सिद्धान्त ही युक्तियुक्त होने के कारण स्वीकार करने योग्य है । क्योंकि नागेश द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त में नागेश के ही शब्दों से विरोध है । जैसे कि सकर्मकत्व एवं अकर्मकत्व के विवेचन के प्रसंग में नागेश ने कहा है - फल तथा व्यापार के एक अधिकरण में रहने पर धातु अकर्मक होती है । आगे पुन: कहते हैं कहीं कहीं पर तो फल अंश के सर्वथा अभाव के कारण अकर्मकता मानी जाती है । जैसे 'अस्ति' आदि क्रियापदों में केवल सत्ता आदि ही अर्थ है क्योंकि इनमें फल अंश की प्रतीति सूक्ष्म दृष्टि से भी नहीं हो पाती । इन दोनों कथनों में विरोध स्पष्ट है अत: प्राचीन वैयाकरणों की दृष्टि में नागेश का मत स्वीकार करने योग्य नहीं है ।

निष्कर्ष :- वैयाकरणों द्वारा मान्य धातु के अर्थ फल और व्यापार दोनों हैं किन्तु व्यवहार में देखा जाता है कि व्यापार क्रिया में सदैव विद्यमान रहने के कारण धातुओं का अर्थ है । फल सकर्मक धातुओं का अर्थ तो होता है । किन्तु अकर्मक धातुओं में वर्ग की अविद्यमानता के कारण धातु का अर्थ फल नहीं होता । वैयाकरणों के अनुसार फल का आश्रय ही कर्म होता है । अर्थात् जहां कर्म नहीं होता वहां फल भी नहीं होता । ऐसी स्थिति में अकर्मक धातुओं को फलरहित ही मानना पड़ेगा । तात्पर्य यह है कि सकर्मक धातुओं से फल और व्यापार दोनों की प्रतीति होती है किन्तु अकर्मक धातुयें केवल व्यापार का ही बोध कराती हैं । इसीलिये नागेश ने 'फल और व्यापार धातु के अर्थ है' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए अकर्मक धातु की परिभाषा में यह स्वीकार की है कि अकर्मक धातुओं में फलांश की प्रतीति अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर भी नहीं होती । इसीलिये अस्ति, भवति आदि अकर्मक धातुयें केवल सत्ता रूप व्यापार मात्र की वाचक होती है ।

प्राचीन वैयाकरण आचार्यों ने नागेश के उक्त कथन को अपनी आलोचना को आधार बनाया है उनका आरोप है कि एक ओर तो नागेश अकर्मक धातु में फल

और व्यापार की एक अधिकरण में विद्यमानता की बात करते हैं वहीं दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि अकर्मक धातु में कहीं कहीं फलांश की भी प्रतीति नहीं होती ।

किन्तु नागेश के मत में यह आरोप लगाना उचित नहीं है क्योंकि नागेश ने उक्त कथन के द्वारा कुछ स्थितियों विशेष का उल्लेख किया है । साथ ही नागेश का मत 'आत्मनः क्यच्'[1] सूत्र के पतञ्जलि कृत भाष्य से समर्थित भी है[2]। अतः नागेश का ही मत तथ्यों की सुसंगत व्याख्या करने एवं भाष्यसम्मत होने के कारण स्वीकार्य है ।

1- पा॰ सू॰ 3॰1॰8

2- इह भवन्तस्तावदाहुः । न भवितव्यमिति । किं कारणम् ?
समानार्थेन वाक्येन भवितव्यं प्रत्ययान्तेन च ।
यत्रवेहार्थो वाक्येन गम्यते - इष्ट पुत्रः इष्यते पुत्र इति नासौ जातचित् प्रत्ययान्तेन इति । महाभाष्य 3॰1॰8

शाब्द-बोध की प्रक्रिया :- नैयायिक, मीमांसक एवं वैयाकरण आचार्य समान रूप से, वृत्तियों के माध्यम से, वाक्यगत पदजन्य, पदार्थ के स्मरण तथा आकाङ्क्षादि सहकारी कारणों के सहयोग से उत्पन्न ज्ञान को शाब्दबोध मानते हैं । न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार आचार्य विश्वनाथ ने शाब्दबोध के स्वरूप एवं उसकी प्रक्रिया के सम्बन्ध में पद के ज्ञान को कारण, शब्द के अर्थ की स्मृति को द्वार या व्यापार, शब्द की वृत्ति के ज्ञान को सहकारी कारण तथा शाब्द-बोध को फल कहा है ।[1] मानमेयोदयकार नारायणभट्ट ने शाब्द-बोध को पद जन्य पदार्थ स्मरण द्वारा उत्पन्न ज्ञान कहा है ।[2] इसी प्रकार वैयाकरण आचार्य भर्तृहरि ने भी शाब्द-बोध को उस कार्य के रूप में स्वीकार किया है जो शब्द शक्तियों के माध्यम से पदजन्य पदार्थ के स्मरण से उत्पन्न हुआ है ।

स्पष्ट है कि शाब्द-बोध की प्रक्रिया के सन्दर्भ में नैयायिक मीमांसक एवं वैयाकरण मान्यतायें लगभग समान है । समस्त आचार्य शाब्दबोध रूप फल में पद के ज्ञान को करण, पदजन्य पदार्थ स्मृति को व्यापार या द्वार तथा शब्द-शक्ति ज्ञान को सहकारी कारण माना है । अतः इन्हीं आधारों पर शाब्द-बोध की प्रक्रिया को व्याख्यायित किया जा सकता है । यथा -

शाब्दबोध में करण :- आचार्यों ने शाब्द-बोध के प्रति पद ज्ञान को करण माना है ।[3] किन्तु पद ज्ञान को शाब्दबोध के प्रति करण मानने के पूर्व प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर करण क्या है ? तथा पद क्या है ?

1- पदज्ञानन्तु करणम् द्वारन्तत्र पदार्थधीः।
शाब्द-बोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणीम् ।। न्या॰ सि॰ मुक्ता॰ 81

2- तत्र तावत् पदैर्ज्ञातिः पदार्थ स्मरण कृते ।
असन्निकृष्ट वाक्यार्थज्ञानं शाब्द मितीर्यते । मानमेयोदय पृ॰ 93

3- पदज्ञानन्तु करणम् । न्या, सि॰ मु॰ शब्द खण्ड का॰ ।

अनेकानेक आचार्यों ने 'करण' के स्वरूप का प्रतिपादन किया है । वस्तुत: शास्त्रों में उल्लिखित 'कारण' व्यावहारिक 'करण' का ही एक रूप है किन्तु यह 'करण' किसी कार्य का सामान्य कारण न होकर उसका असाधारण कारण होता है ।[1] वैयाकरण आचार्यों के अनुसार – क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त सहायक कारण करण करण कहलाता है ।[2] अर्थात् 'करण' 'कारण' का ही एक रूप है जो कार्य के प्रति अनन्यतम तथा प्रमुख होता है ।

वैयाकरण आचार्य पाणिनि ने 'पद' के स्वरूप को निर्धारित करते हुए सुबन्त एवं तिङन्त शब्दो को पद कहा है ।[3] नैयायिक आचार्यों ने भी वैयाकरणों की मान्यता के अनुरूप ही विभक्त्यन्त शब्दों को पद कहा है ।[4] विभक्तयन्त का तात्पर्य सुप् एवं तिङ् प्रत्ययों से ही है । तर्कसंग्रहकार ने शक्त को पद कहा है ।[5] शक्त का अर्थ है वह वर्ण समूह जो शक्ति का आश्रय हो । शक्ति कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं वरन् पद का पदार्थ के साथ सम्बन्ध ही है । अन्यत्र निरूक्त में चार प्रकार के नाम, आख्यात, उपसर्ग

1– साधकतमं करणम् । पा॰ 1॰4॰42

2–(क) स्वनिष्ठ व्यापाराव्यवधानेन फलनिष्पादकम् । इदमेव साधकतमम् । ल॰म॰पृ॰ 32

(ख) प्राचनिनैयायिकमते व्यापारवदसाधारणं कारणम् । न्या॰कोष॰पृ॰ 200

(ग) नवीन नैयायिकमते फलायोग व्यवच्छिन्नं कारणम् । न्याय कोश पृ॰ 200

3– सुप्तिङन्तं पदम् । पा॰

4– ते विभक्त्यन्ता: पदम् । गौ॰ 2॰2॰60

5– शक्तम् पदम् । तर्कसंग्रह

एवं निपात को पद स्वीकार किये गये हैं ।[1] वाक्यपदीय के टीकाकार उक्त चारों के अतिरिक्त कर्मप्रवचनीय नामे पाँचवे प्रकार का भी पद माना है । पद की उक्त समस्त परिभाषाओं का अन्तर्भाव पाणिनि कृत पद की परिभाषा 'सुप्तिङन्तं पदम्' के अन्तर्गत हो जाता है । अतः सुबन्त एवं तिङन्त शब्दों को ही पद कहना उचित है ।

एक ओर जहाँ प्राचीन नैयायिक तथा वैयाकरण आचार्य ज्ञायमान पद को ही शाब्दबोध का 'करण' माना है, वहीं दूसरी ओर नव्य नैयायिक 'ज्ञायमान पद को शाब्द बोध के करण' के रूप में अयुक्तियुक्त सिद्ध करते हुए पद-ज्ञान को शाब्द-बोध के कारण के रूप में स्वीकार किया है ।

उदयन प्रभृत्ति प्राचीन नैयायिक तथा वैयाकरण आचार्य ज्ञायमान पद को ही शाब्द बोध का प्रमुख कारण माना है । उनकी दृष्टि में पद के श्रवण मात्र से ही पदार्थ स्मृति हो जाती है अतः ज्ञायमान पद ही प्रधान कारण है ।

किन्तु नव्य नैयायिक आचार्य 'पद ज्ञान को शाब्द-बोध के प्रमुख कारण के रूप में स्वीकार कर पूर्वाचार्यों के मत को असंगत ठहराया है । उनका कहना है कि वस्तुतः पद का ज्ञान ही शाब्द-बोध का मूल कारण है, ज्ञायमान पद नहीं ।[4]

1- तद् यानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्ग - निपाताश्च तानीमानि भवन्ति । निरूक्त - 1.1.1

2- कर्मप्रवचनीयं पञ्चमम् इति हेलाराज आहु । न्या० को० पृ० 462

3- प्राचीन नैयायिकैः पदस्यैव ज्ञायमानस्य शाब्दबोधकरणता स्वीकृता । नवीनैश्च पदज्ञानस्येत्येतावानस्ति अनयोर्विशेषः । शा०बो०वि०पृ० 5।

4- पदज्ञानं तु इति । न तु ज्ञायमानं पदं करणं पदाभावेऽपि मौनिश्लोकादौ शाब्दबोधात् ।
न्या० सि० मु०श०ख० पृ० 2

क्यों कि यदि ज्ञायमान पद को शाब्द बोध का मुख्य कारण माना जाय तो उच्चरित शब्द का श्रवण कर श्रोता को अर्थबोध तो हो जायेगा, किन्तु लिपि के माध्यम से व्यक्त विचारों एवं हस्त विन्यास द्वारा अभिव्यक्त विचारों का किसी भी रूप में अर्थबोध सम्भव नहीं होगा। परिणामस्वरूप लिपि में निबद्ध मौनिश्लोकादि तथा हस्तविन्यासादि के माध्यम से गूँगे व्यक्ति द्वारा व्यक्त विचारों का बोध किसी भी रूप में सम्भव नहीं होगा और वे अर्थहीन हो जायेंगे। जबकि लिपिबद्ध मौनश्लोकादि का तथा हाव भाव प्रदर्शन के माध्यम से व्यक्त विचारों का बोध हमें होता है। अतः ज्ञायमान पद को शाब्दबोध का मूल कारण मानना युक्तियुक्त नहीं है। इसके विपरीत 'पद के ज्ञान' को शाब्द बोध का मूल कारण मानने पर उक्त समस्या का निदान हो जाता है। फलतः पदोच्चारण के अभाव में भी लिपि में निबद्ध पदों एवं हाव भाव प्रदर्शन की चेष्टा में निहित पदों का ज्ञान हो जाता है और उनके द्रष्टा को अर्थ बोध होता है।[1] अतः ज्ञायमान पद को शाब्दबोध का मूल कारण न मान कर पद-ज्ञान को ही शाब्द-बोध का प्रधान कारण मानना उचित है।

किन्तु वैयाकरण आचार्य पद ज्ञान को शाब्द-बोध के प्रति कारण नहीं मानते वरन् ज्ञायमान पद को ही शाब्द बोध के मुख्य कारण के रूप में स्वीकार करते हैं।[2] वे इसके विरोध में नव्य नैयायिकों द्वारा उठायी गयी समस्या का समाधान करते हुए कहते हैं कि पद अपनी सत्ता मात्र से ही अर्थबोध करा देता है। अतः

1- पदज्ञानस्य कारणत्वे तु न दोषः लिप्या हस्तचेष्टया च पदज्ञानस्योत्पादनात् ततः शाब्दबोधोत्पत्तेर्निर्बाधित्वात्। शा॰शो॰ति॰ पृ॰ 53

2- तच्चेदं {पदज्ञानमेव करणम्} न रोचते शाब्दिक मूर्धन्येभ्यः, स्मृत्यादि परोक्षस्थले स्फोटात्मकशब्दस्यानभिव्यञ्जनेन शाब्दबोधोऽनुपयोगात्।
पाणिनीय व्याकरणे प्रमाण समीक्षा
पृ॰ 202

मौनिश्लोक तथा हस्त चेष्टा आदि के अर्थबोध के लिये पद के ज्ञान को शाब्द बोध का 'करण' मानने की आवश्यकता नहीं है । वरन् उनके भावों में, लिपि तथा चेष्टा में निहित ज्ञायमान पद ही अपनी सत्ता मात्र से ही अर्थबोध कराते हैं । ऐसा मानना ही उचित तथा युक्तियुक्त है ।

<u>शाब्दबोध में व्यापार :-</u> नैयायिक आचार्यों ने शाब्द-बोध में पदार्थ ज्ञान को व्यापार माना है । विश्वनाथ प चानन के अनुसार पद के ज्ञान से जन्य या उत्पन्न पद के अर्थ का स्मरण ही व्यापार कहलाता है । यथा - घट का ज्ञान करने में घट पद के ज्ञान से उत्पन्न घट पदार्थ { कम्बुग्रीवादिमद् वस्तु } का स्मरण रूप ही व्यापार मानना चाहिए । किन्तु यदि इसके स्थान पर मात्र पदार्थोपस्थिति को ही व्यापार मानेंगे तो पद का ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को प्रत्यक्ष आदि के द्वारा पदार्थोपस्थिति हो जाने पर भी शाब्द बोध होने लगेगा जो संगत नहीं है ।[1]

वैयाकरण आचार्यों ने भी 'पदनिष्ठ वृत्ति के ज्ञान से उत्पन्न पदार्थ ज्ञान को ही शाब्द बोध का व्यापार माना है ।' महाभाष्यकार पत जलि ने भी इसका समर्थन किया है ।[2]नव्य वैयाकरण नागेश भी व्यापार के इसी स्वरूप को स्वीकार करते हुए वाक्यार्थ में पदार्थ ज्ञान को कारण माना है ।[3]

1- पदजन्य पदार्थस्मरणं व्यापार: । अन्यथा पदज्ञानवत: प्रत्यक्षादिना पदार्थोपस्थि तावपि शाब्दबोधाऽपत्ति: । न्या॰सि॰मु॰श॰ख॰पृ॰ 3

2- नेत्याह-सर्वथावरकालैवेति । वर्णानामुपदेशस्तावत्, उपदेशोत्तरकाला-इत्संज्ञा,इत्संज्ञोत्तरकाल: 'आदिरन्त्येन सहेता' इति प्रत्याहार:, प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसंज्ञा, सवर्णसंज्ञोत्तरकालमणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्यय इति । सैषोपदेशोत्तर काला अवरकाला सती वर्णानामुत्पत्तौ निमित्तत्वाय कल्पयिष्यते, इत्येतन्न । म॰भा॰ 1॰1॰67

3- अवरकालैवेति । वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानस्य कारणत्वादिति भाव: । म॰भ॰प्र उद्योत॰ 1॰1॰67

यद्यपि महाभाष्यकार पतंजलि एवं उद्योतकार नागेश ने शाब्दबोध में पदार्थज्ञान की हेतुता {कारणता} मात्र का कथन किया है, न कि पद निष्ठ वृत्ति के ज्ञान से उत्पन्न पद ज्ञान रूप व्यापार की । किन्तु वृत्तिज्ञान की भी पदार्थज्ञान में कारणता होने के कारण महाभाष्यादि में पदार्थज्ञान का ही कथन करना 'पदनिष्ठवृत्ति के ज्ञान से उत्पन्न पदार्थज्ञान रूप व्यापार' को ही द्योतित करता है ।

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने भी पदनिष्ठ वृत्ति के ज्ञान से उत्पन्न पदार्थ ज्ञान को ही व्यापार माना है, किन्तु वे व्यापार {पदार्थ ज्ञान} को अनुभवरूप न मा मानकर स्मरणरूप मानते हैं । यह स्मरण रूप व्यापार संस्कारों के उद्बुद्ध हो जाने पर ही उत्पन्न होता है तथा स्वयं उत्पन्न होकर शाब्द बोध को जन्म देता है । इस प्रकार स्पष्ट है कि भर्तृहरि स्मृति रूप पदार्थ ज्ञान को ही व्यापार माना है ।[1] भूषणकार कौण्डभट्ट ने व्यापार की उक्त परिभाषा को स्वीकार किया है ।[2]

नव्य वैयाकरण आचार्य नागेश पदार्थ की उपस्थिति को शाब्द बोध में कारण {व्यापार} न मानकर पद के ज्ञान से उद्बुद्ध पदार्थ विषयक संस्कार को कारण मानते हैं । यद्यपि संस्कार में श्रावण प्रत्यक्ष हुए पदज्ञान से उत्पन्न व्यापार का साक्षात्कार नहीं होता फिर भी उसकी विशेषता से युक्त स्मरण में आए हुए भाग में उसके ही द्वारा उत्पन्न शक्ति ज्ञान से उत्पन्न होने पर स्मृति में आए संस्कार विशेष में उसका आरोप किये जाने पर व्यापार का लक्षण 'जन्य होते हुए तज्जन्य का जनक होना सर्वथा घटित होता है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पदार्थ ज्ञान को ही वैयाकरण आचार्यों ने शाब्द-बोध का व्यापार माना है भले ही वह अनुभवरूप हो या स्मृति रूप किन्तु इन दोनों में वैयाकरण शिरोमणि नागेश द्वारा स्वीकृत स्मृति रूप पदार्थज्ञान ही व्यापार है । यह महाभाष्य के अनुरूप होने के कारण उचित तथा स्वीकरणीय है ।[3]

1- संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः । शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः
वा॰प॰2॰317॰18

2- विषयतया शाब्दबोधं प्रति तदंशविषयकवृत्ति जन्योपस्थिति हेतुरिति वाच्यम् ।
वै॰भ॰सा॰श॰नि॰

वृत्ति का स्वरूप :- शब्द और अर्थ का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा वृत्ति शब्द के अर्थ की प्रकाशक होती है । उसके इसी स्वरूप को दृष्टि में रखकर आचार्यों ने वृत्ति को शाब्द-बोध में कारण माना है ।[1] शक्तिवाद में गदाधर भट्टाचार्य ने संकेत एवं लक्षणा को वृत्ति पद से ग्राह्य माना है । जिसे प्राय: समस्त नैयायिक आचार्यों ने स्वीकार किया है । किन्तु वैयाकरण लक्षणा को पृथक् शक्ति के रूप में स्वीकार नहीं करते । व्याकरण शास्त्र में कहीं - कहीं पर वृत्तियों के रूप में प्रसिद्धा एवं अप्रसिद्धा का उल्लेख किया गया है । जिनमें प्रसिद्धा तो अभिधा के रूप में ही वर्णित है, किन्तु अप्रसिद्धा के नाम से जिसका वर्णन किया गया है उसे लक्षणा कहा जा सकता है ।

वैयाकरण आचार्य शाब्द बोध को उत्पन्न करने वाले पद एवं पदार्थ के सम्बन्ध को वृत्ति बताते हैं । इस वृत्ति के द्वारा संस्कार का उद्बोध होता है जो शाब्दबोध को जन्म देता है ।[3] नागेश के अनुसार - किसी उच्चार्यमाण शब्द का श्रवण कर श्रोता को होने वाले अर्थ बोध में शब्द का ज्ञान एवं शब्द की घटपटादि विषयक वृत्ति का ज्ञान अर्थात् उक्त पद से किस अर्थ का बोध कराना अभीप्सित है ये दो अवान्तर कारण होते हैं । और यही दोनों श्रोता द्वारा सुने गये वाक्य का अर्थ - बोध कराते हैं । परन्तु शब्द का ज्ञान तथा उसमें रहने वाली वृत्ति का ज्ञान इन दोनों को यदि स्वतन्त्र रूप से पृथक-पृथक शाब्द बोध का कारण

1-(अ) तत्रापि वृत्त्या पदजन्यत्वबोध्यम् । न्याय० सि०मु० शब्द खण्ड पृ० 3
(ब) पदनिष्ठ वृत्तिज्ञानजन्यपदार्थज्ञानमेव स: । पाणिनीय व्याकरणे प्रमाण समीक्षा पृष्ठ 203

2- संकेतो लक्षणा चार्थे पद वृत्ति: । शक्तिवाद प्र0 का0 पृ० ।

3- शाब्द बोध जनक पदपदार्थ सम्बन्धत्वम् इत्याहु: ।- - - - ।
शाब्दिक मते वृत्त्या संस्कारो जन्यते । कल्पिका च
वृत्तिस्मृति: शाब्दबुद्धिरेव वा इति ज्ञेयम् । ल०म०स्फोट० से न्या०को०पृ० 796-797 में उद्धृत

माना जाय, कि नैयायिक आचार्य मानते हैं तो अनावश्यक विस्तार होगा ।[1] अतः वैयाकरण आचार्य वृत्ति विशिष्ट शब्द के ज्ञान को अर्थ प्रतीति अथवा शाब्द बोध में में कारण मानते हैं । इस रूप में केवल एक ही कारण 'वृत्ति विशिष्ट पद के ज्ञान' की कल्पना करनी पड़ती है - दो कारणों की नहीं । वैयाकरणों के मत में यह लाघव है । अतः वृत्ति शाब्द बोध का कारण तथा शाब्द बोध वृत्ति का कार्य है ।

वृत्ति प्रकार :- शाब्द बोध में सहायक ये वृत्तियाँ शक्ति, लक्षणा एवं व्यञ्जना भेद से तीन प्रकार की होती हैं ।[2] साहित्य दर्पणकार भी वृत्ति के यही तीन भेद स्वीकार करते हैं । किन्तु नैयायिक आचार्य संकेत {शक्ति} एवं लक्षणा भेद से वृत्ति को द्विविध ही मानते हैं वे व्यञ्जना को पृथक् वृत्ति न मानकर लक्षणा में उसका अन्तर्भाव मानते हैं ।[3] किन्तु काव्यशास्त्रियों के मत में व्यञ्जना का अन्तर्भाव लक्षणा के अन्तर्गत कर लेना उचित नहीं है क्योंकि कभी-कभी पदों का अर्थ शक्ति एवं लक्षणा के द्वारा ज्ञात नहीं हो पाता, ऐसी स्थिति में व्यञ्जना को मानना ही पड़ता है । व्यञ्जना भी वृत्ति का एक भेद है । इन वृत्तियों शक्ति {अभिधा} लक्षणा एवं व्यञ्जना के द्वारा प्रकट होने वाले अर्थों को क्रमशः अभिधेय, लक्ष्य तथा व्यंग्य कहा जाता है ।[4]

1- तद् धर्मावच्छिन्न-विषयक शाब्द बुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मावच्छिन्न - निरूपित - वृत्ति विशिष्ट ज्ञानं हेतुः । प॰ल॰म॰पृ॰ 17

2- सा च वृत्तिः त्रिधा - शक्ति, लक्षणा व्यञ्जना च । प॰ल॰म॰पृ॰ 24

3- न्यायमते वृत्ति द्विविधा संकेतः लक्षणा चेति {शक्तिवाद} {तर्क०} । प्रकारान्तरेण वृत्तिर्द्विविधा मुख्या गौणी च । तत्राद्या शब्दशक्तिः । सैव संकेत इत्युच्यते । द्वितीया तुलक्षणा इति ।

4- तदुक्तम् वाच्योर्थोभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः । व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य वृत्तयः ।। साहित्य दर्पण परि॰ श्लोक ।।

शक्ति :- शास्त्रों में शक्ति के लिये अभिधा शब्द का भी प्रयोग मिलता है, किन्तु 'शक्ति' शब्द अभिधा से प्राचीन है क्योंकि उसका उल्लेख ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है ।[1] यद्यपि 'शक्ति' या अभिधाकी सत्ता निर्विवाद है, समस्त मतावलम्बी उसे एक स्वर से स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके स्वरूप आश्रय एवं विषय के सम्बन्ध में विभिन्न शास्त्रकारों के मध्य मतवैभिन्य है । नैयायिक, मीमांसक एवं वैयाकरण आचार्यों ने शक्ति के विभिन्न पक्षों पर व्यापक दृष्टि डाली है तथा उनका गम्भीर विवेचन किया है । यथा -

नैयायिकों द्वारा मान्य शक्ति स्वरूप एवं उसकी समीक्षा

नैयायिकों के अनुसार पद के साथ पदार्थ का सम्बन्ध ही शक्ति है । पद के साथ पदार्थ के 'इस पद से यह अर्थ जाना जाय' या 'यह पद इस अर्थ का ज्ञान कराये' इस प्रकार के ईश्वरेच्छा रूप सम्बन्ध को शक्ति कहते हैं ।[2] अर्थात नैयायिकों आचार्य 'शक्ति' को ईश्वरेच्छा रूप मानते हैं ।[3] यदि यह कहा जाय कि देवदत्त - यज्ञदत्तादि आधुनिक नामों में 'ईश्वरेच्छा' नहीं होती अत: ईश्वरेच्छा रूप शक्ति न होने के कारण 'देवदत्तयज्ञदत्तादि' का शाब्द वोध न होना चाहिए, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'एकादशे हृनि पिता नाम कुर्यात्' अर्थात् उत्पत्ति से ग्यारहवें दिन पिता नामकरण संस्कार करे इस श्रुति प्रामाण्य के बल पर "एकादशाह -

---

1- स्तोमेन हि दिविदेवासो अग्निमजीजनेच्छाशक्तिभिरोद[र]सि / प्राग । ऋग्वेद

2- [क] अत्र तार्किका: - 'अस्मात् पदाद् अयम् अर्थो बोद्धव्य:' इत्याकारा इदं पदम् इयम् अर्थं बोधयतु इत्याकार वेश्वरेच्छा शक्तिर लाघवा त । प॰ल॰म॰ पृ॰24

[ख] शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्ध: । स चास्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूप: । न्या॰ सि॰ मु॰ श॰ ख॰ पृ॰ 4

कालिकापित्रु.चारणशब्दजन्य बोधविषय: पित्रादि संकेत विषयो भवतु " इत्याकारक ईश्वरेच्छा होने के कारण आधनिक नामों में भी शक्ति है । साथ ही देवदत्तयज्ञदत्तादि नाम 'पारिभाषिक शब्द' होने के कारण भी इश्वरेच्छा रूप शक्ति से युक्त हैं । अत: ईश्वरेच्छा ही शक्ति या अभिधा है । उसी के आधार या निर्देश पर पद अर्थ वोध कराते हैं ।

ईश्वरेच्छा रूप शक्ति या अभिधा मानने पर उसमें शक्ति तथा संकेत दोनों के एक साथ संकलित हो जाने के कारण पर्याप्त लाघव है जबकि किसी अन्य प्रकार की शक्ति मानने पर 'शक्ति' तथा 'संकेत' इन दोनों पदार्थों की पृथक्-पृथक् कल्पना करनी पड़ेगी जिसमें व्यर्थक का विस्तार होगा जो उचित नहीं है । अत: शक्ति ईश्वरेच्छा रूप ही है ।

किन्तु नव्य नैयायिक शक्ति को ईश्वरेच्छा न मानकर केवल इच्छा ही मानते हैं । क्योंकि शक्ति को ईश्वरेच्छा रूप मानने पर अनेक कठिनाइयां उपस्थित होती है । यथा - जब शब्द ही ईश्वरकृत नहीं है तो उसमें निहित शक्ति से ईश्वरेच्छा कैसे माना जाय । साथ ही अनेकानेक पदार्थों के नित्य नये - नये नामकरण होते हैं , और इन नाम करणों में ईश्वर की कोई इच्छा नहीं होती क्योंकि इनका नामकरण ईश्वर न कर व्यक्ति करता है अत: उनमें ईश्वरेच्छा के होने का प्रश्न ही नहीं उठता । इसी प्रकार अनेक लोग ईश्वर केअस्तित्व को ही नहीं स्वीकार करते,फलत: उनके लिये ईश्वरेच्छा का भी कोई अस्तित्व नहीं है । उक्त स्थितियों में यदि ईश्वरेच्छा को शक्ति माना जाय तो पदों से अर्थ बोध न होना चाहिए किन्तु अर्थ बोध होता है । जिससे प्रमाणित होता है कि शक्ति से कम ईश्वरेच्छा नहीं है इसके विपरीत 'इच्छा' मात्र को शक्ति मानेने पर उक्त विसंगतियों का समाधान हो जाता है । अत: शक्ति को ईश्वरेच्छा मानने के स्थान पर मात्र 'इच्छा' मानना ही उचित है ।[1]

1- नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्ति, किन्तु इच्छैव शक्ति:, तेनाधुनिक - सङ्केतितेऽपि शक्ति रस्त्येवेत्याहु: । न्या॰ सि॰मु॰ श॰ ख॰ पृ॰ 5

वैयाकरण आचार्य, नैयायिकों द्वारा मान्य शक्ति ईश्वरेच्छा (प्राचीन नैयायिकों के अनुसार) या मात्र इच्छा (नव्य नैयायिकों के अनुसार) है को स्वीकार नहीं करते । उनका कहना है कि यदि शक्ति को ईश्वरेच्छा या इच्छा माना गया तो यह भी सिद्ध करना होगा कि इच्छा या ईश्वरेच्छा दो सम्बन्धियों (शब्द तथा अर्थ) के मध्य रहने वाला सम्बन्ध है, किन्तु इच्छा या ईश्वरेच्छा शब्द और अर्थ के मध्य रहने वाला सम्बन्ध है, यह सिद्ध नहीं हो पाता क्योंकि सम्बन्ध के लिये आवश्यक है कि वह अपने से सम्बद्ध सम्बन्धियों में रहते हुए भी दोनों से भिन्न रहते हुए दोनों के सम्बन्ध को प्रकट करें ।[1] परन्तु नैयायिकों द्वारा मान्य शक्ति - इच्छा या ईश्वरेच्छा न तो शब्द में है और न अर्थ में है । और न ही वह उनमें परस्पर किसी प्रकार के आधार - आधेय भाव सम्बन्ध को ही बताती है । अतः ईश्वरेच्छा को न तो सम्बन्ध माना जा सकता है और न शक्ति ही माना जा सकता है ।[2] साथ ही 'ईश्वरेच्छा ही शक्ति है' मानने वाले आचार्यों द्वारा मान्य 'शक्ति एवं संकेत' दोनों एक हैं, यह भी स्वीकारणीय नहीं है । क्योंकि 'ईश्वर संकेत ही श। शक्ति है' इस वाक्य के अनुसार संकेत शक्ति का बोधक है । संकेत घटित है तथा 'शक्ति' उसका घटक । दोनों में असाधाराधेय का सम्बन्ध है अतः दोनों पृथक्-पृथक् हैं ।[3] नैयायिकों भी संकेत को शक्ति का बोधक ही मानते हैं । इसी दृष्टि से

1- सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नो भवति उभयसम्बन्ध्याश्रित्तश्चैकश्च । त॰भा॰अभाव निरूपण ।

2- तन्न । इच्छायाः सम्बन्धिनोराश्रयता - नियामकत्वाभावेन सम्बन्धत्वा सम्भवात् । प॰ल॰म॰पृ॰ 26

3- उक्त ईश्वर सङ्केत एव शक्तिरिति नैयायिक मतं न युक्तम् । अयम् एतच्छब्दः ' 'अत्रास्य शक्तिः' इत्यस्य संकेतस्य शक्तितः पार्थक्येन प्रसिद्धत्वात् । प॰ल॰म॰पृ॰33

नैयायिकों ने कहा है कि ईश्वर ने सृष्टि को प्रारम्भ में महर्षियों तथा देवताओं को साक्षात् शब्दों के अर्थ - विषयक संकेत का ज्ञान दिया । अति संकेत को शक्ति नहीं माना जा सकता है । अर्थात् शक्ति इच्छा या ईश्वरेच्छा नहीं है ।

मीमांसक मत :- मीमांसा शास्त्र में पद एवं पदार्थ के मध्य विद्यमान रहने वाले वाच्य-वाचक भाव रूप सम्बन्ध को ही शक्ति कहते हैं । अर्थ -वाच्य है तथा शब्द वाचक, तथा इन दोनों के मध्य विद्यमान रहने वाला यह वाच्य वाचक सम्बन्ध शक्ति है । यह वाच्य-वाचक या आधार आधेय सम्बन्ध अपने वाच्य एवं वाचक रूप सम्बन्धी पद एवं पदार्थ में रहते हुए भी उन दोनों से पृथक्- रहकर उनके मध्य विद्यमान सम्बन्ध को प्रकट करता है । तथा इनका यह सम्बन्ध स्वभाव सिद्ध है । इसी मन्तव्य का प्रतिपादन भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के 'अनादिर्योग्यता तथा' श्लोक में किया है । अतः पद एवं पदार्थ अर्थात् शब्द एवं अर्थ के मध्य रहने वाला वाच्य-वाचक सम्बन्ध रूपा शक्ति स्वभावतः सिद्ध है, वैयाकरण आचार्य भी इसी रूप में स्वीकार करते हैं, अतः इस मत में कोई दोष नहीं है ।

वैयाकरण मत :- वैयाकरण आचार्य शब्द, अर्थ एवं शब्द तथा अर्थ के मध्य विद्यमान सम्बन्ध को नित्य मानते हैं । भर्तृहरि का मानना है कि शब्द तथा अर्थ में विद्यमान सम्बन्ध तथा योग्यता (शक्ति) दोनों ही अनादिकाल से अनवच्छिन्नरूप में विद्यमान हैं । जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ अपने - अपने विषयों

1- (क) सर्गादिभुवां महर्षिदेवतानाम् ईश्वरेण साक्षादेव कृतः संकेतः ।
तद्व्यवहाराच्चास्मदादीनामपि सुग्रहस्तत् संकेतः । प॰ल॰म॰ पृ॰ 33

(ख) सोऽयं वृद्धव्यवहारः साम्प्रतिकानां संकेतग्रहोपायः । सर्गादि भुवां तु महर्षिदेवतानां परमेश्वरानुग्रहाद धर्मज्ञान वैराग्यैश्वर्यातिशयसम्पन्नानां परमेश्वरेण सुकर एव संकेतः कर्तुम् । तद्व्यवहाराच्च अस्मदादीनामपि सुग्रह संकेतः । न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका 2•1•55

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, एवं गन्ध का बोध अनादिकाल से अनवच्छिन्न रूप से करा रही है, उसी प्रकार शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध तथा उसमें विद्यमान योग्यता(शक्ति) शब्दार्थ का अनादिकाल से निरन्तर बोध करा रही है ।[1] भर्तृहरि की दृष्टि में शक्ति बोध स्वरूपा है । भाष्यकार पतंजलि ने भी कात्यायान के वार्तिक 'सिद्धेशब्दार्थ सम्बन्धे' के भाष्य में उक्त मत का ही प्रतिपादन करते हुए शक्ति को शब्दार्थ का वाचक माना है ।

नव्य वैयाकरण आचार्य नागेश किसी शब्द का किसी अर्थ के साथ सम्बन्ध होने की स्थिति में ही उस शब्द में उस अर्थ की बोधकता स्वीकार करते हैं । शाब्द बोध कराने वाले शब्द और अर्थ के मध्य विद्यमान रहने वाले सम्बन्ध को ही नागेश 'शक्ति' नाम देते हैं ।

नागेश 'शक्ति' को 'वाच्य-वाचक भाव' नाम से भी अभिहित करते हैं । शब्द वाचक तथा अर्थ वाच्य होता है । शब्दों में वाचकत्व धर्म तथा अर्थ में वाच्यत्व धर्म की उपस्थिति समस्त मतों में स्वीकार की गयी है । शब्द और अर्थ के मध्य विद्यमान रहने वाला यह वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध वस्तुत: तादात्म्य सम्बन्ध होता है, जिसका ज्ञापक इतरेतराध्यासि अध्यास होता है । अन्य में अन्य के धर्मों के आरोप कर लेने को अध्यास कहते हैं । वस्तुत: शाब्दबोध में 'शब्द' का अर्थ में तथा अर्थ का शब्द में अध्यास कर लिया जाता है । शब्द तथा अर्थ में एक दूसरे का अध्यास या अध्यारोप कर लेने के कारण ही शब्द तथा उसके अर्थ में सर्वथा 'अभेद' या तादात्म्य होता है । इसीलिये घट पद से निरूपित तादात्म्य से घट रूप अर्थ

1- इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा ।
अनादिर्थै: शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा ।। वा० प० 3•3•29

युक्त है तथा घट रूप अर्थ से निरूपित तादात्म्य से घट शब्द युक्त है - इस प्रकार का व्यवहार होता है । इस प्रकार का अभेद ज्ञान {तादात्म्य सम्बन्ध} ही शक्ति {अभिधा} या वाच्य वाचक भाव का द्योतक है ।

वस्तुतः वाच्य अर्थ तथा वाचक-शब्द दोनों ही वक्ता कीबुद्धि में विद्यमान रहते हैं तथा दोनों में परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध होता है । पदार्थ या वाच्यार्थ के वक्ता की बुद्धि में ही रहने के कारण उनका लौकिक गुण दाहकत्व आदि सत्ता को प्रभावित नहीं कर पाते । शब्द और अर्थ के बुद्धिनिष्ठ होने के सन्दर्भ में एक और हेतु दिया जा सकता है । यथा - यदि पदों को वाह्यार्थ का प्रतिवादक माना जाय तो 'वन्ध्या पुत्र' 'शशश्रृङ्ग' आदि पद कभी व्यार्थक नहीं होंगे फलस्वरूप उनकी प्रातिपदिक संज्ञा न हो सकेगी जिससे उनका व्यवहार में कभी प्रयोग भी नहीं हो सकेगा । अतः इन शब्दों की प्रतिपदिक संज्ञा की सिद्धि तथा उसके आधार पर सुप् आदि विभक्तियों की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि इन्हें अर्थवान् माना जाय अर्थात् इनके अर्थ की उपस्थिति बुद्धि में स्वीकार की जाय ।

भर्तृहरि इत्यादि वैयाकरणों का मानना है कि जिन शब्दों का भी व्यवहार मानव अर्थ प्रकाशन की दृष्टि से करता है उन सबमें यह अर्थबोधक 'शक्ति' रहती है, वे शब्द साधु हों या असाधु अर्थात् वे चाहें संस्कृत के हों या अपभ्रंश के, समस्त व्यवहृत पदों से अर्थ बोध होता है ।

नैयायिक आचार्य केवल साधु शब्दों में ही अर्थबोधक 'शक्ति' की उपस्थिति को स्वीकार करते हैं, उनका मानना है कि असाधु शब्द अर्थ के बोधक नहीं होते, वस्तुतः असाधु शब्द से होने वाले अर्थज्ञान में सर्वप्रथम असाधु पद से साधु पद का स्मरण होता है तत्पश्चात् साधु पद से अर्थज्ञान होता है, अर्थात् असाधु शब्दों में वाचकता शक्ति के न होने पर भी भ्रम के कारण शक्ति की प्रतीति होती है और फलस्वरूप असाधु पदों से अर्थ बोध होता है ।

मीमांसक आचार्यों की भी असाधु पदों द्वारा होने वाले अर्थबोध के सन्दर्भ में यही मान्यता है । उनका मानना है कि सादृश्य के कारण असाधुशब्दों से साधु शब्दों के स्मरण होने पर अर्थ बोध होता है ।[1]

वैयाकरण उक्त मत को स्वीकार नहीं करते, वस्तुत: यदि असाधु पदों का अर्थ बोध भ्रम के कारण होता है तो कभी तो उसकी समाप्ति होनी चाहिए थी परन्तु वह कभी नहीं होती और असाधु पदों से अर्थ बोध होता ही रहता है । साथ ही यदि असाधु पदों को अर्थबोध में अक्षम मान लिया जाये तो समस्त ग्रामीण बोलियां तथा अपभ्रंश भाषा बेकार हो जायेगी, जब कि उनका व्यवहार निरन्तर हो रहा है । अत: स्पष्ट है कि असाधु पद भी साधु पदों की ही भांति अर्थ-बोध में सक्षम होते हैं । वस्तु मानव अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये जिन भी पदों का प्रयोग होता है, उन सबमें अर्थबोधक शक्ति होती है तथा श्रोता का उनसे अर्थ बोध होता है । आचार्य पतंजलि[2] तथा भर्तृहरि[3] ने स्पष्ट रूप से शब्दों तथा अपशब्दों से समान रूप से अर्थविबोध की बात स्वीकार की है । जहां तक मीमांसकों का सम्बन्ध है - यदि असाधु पदों को

1- गोशब्दम् उच्चारयितु कामेन केनचिद् अशक्त्या
गावीत्युच्चारितम् । अपरेण ज्ञातं सास्नादिमान्
अस्य विवक्षित: । तदर्थं गौरित्युच्चारयितु - कामो
गावीत्युच्चारयति । तत: शिक्षित्वा अपरेऽपि
सास्नादिमति विवक्षिते गावीत्युच्चारयन्ति । तेन
गाव्यादिभ्य: सास्नादिमान् अवगम्यते । अनुरूपो
हि गाव्यादि: गोशब्दस्य । मीमांसा दर्शन ।•3•38 की व्याख्या

2- समानायाम् अर्थावगतौ शब्दैश्चापशब्दैश्च धर्म नियम: । महाभाष्य भाग ।•पृ•58

3- अर्थ प्रत्यायनाभेदे विपरीतास्त्वसाधव: । वा•प• ।•27

अर्थ का बोधक नहीं माना जायेगा तो उनका आर्य म्लेच्छाधिकरण (मीमांसा 1•3•4, 8•9) ही असंगत हो जायेगा । उसका अर्थबोध असाधु पदों के अर्थबोधक होने पर ही होता है । अत: स्पष्ट है कि असाधु पद भी साधु पदों की ही भांति अर्थ बोधक होते हैं ।

शक्ति के भेद:- आचार्यों ने शक्ति या अभिधा के तीन भेद स्वीकार किये हैं - रूढ़ि शक्ति, योग शक्ति एवं योग रूढ़ि शक्ति ।[1] अभिधा शक्ति के इन तीनों प्रकारों को पण्डितराज जगन्नाथ ने क्रमश: समुदायशक्ति, केवलावयवशक्ति तथा समुदायावयवशक्ति संकर नाम दिया है ।[2]

रूढ़ि शक्ति :- जहाँ पद के अर्थ में व्याकरणशास्त्र द्वारा निरूपित प्रकृति-प्रत्यय रूप अवयवों के अर्थ का ज्ञान न होता हो, अथवा अवयवार्थ का ज्ञान होने पर भी प्रकृति-प्रत्यय के समुदाय भूत समस्त पद का अर्थ अवयवार्थ से भिन्न होता हो, वहाँ पर पद में रूढ़ि शक्ति मानी जाती है ।[3] यथा - मणि तथा नूपुर आदि पदों में रूढ़ि शक्ति माननी होगी । मणि शब्द मण् धातु से इनि प्रत्यय होकर बनता है । परन्तु इन अवयवों के अर्थ का मणि शब्द के अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है । इसी प्रकार नूपुर के रत्न विशेष अवयवार्थ का 'नूपुर' शब्द के अर्थ अलङ्कार विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

1- सा च शक्ति: त्रिधा - रूढ़ि:, योग: योग रूढ़िश्च । परम ल•म• पृ• 5

2- सेयम् अभिधा त्रिधा - समुदायशक्ति:, केवलावयवशक्ति:, समुदायावयवशक्ति संकरश्च । रसगंगाधर आनन 2 पृ• 126

3- शास्त्रकल्पितावयवार्थ मानाभावे समुदायार्थ निरूपित शक्ति: रूढ़ि: । परमलघु मंजूषा पृ•50

योग शक्ति :- जहाँ पद का अर्थ पदावयवों के अर्थों से युक्त होता है अर्थात् जहाँ पर व्याकरण शास्त्र द्वारा कल्पित प्रकृति-प्रत्यय आदि का अर्थ पद के अर्थ में विद्यमान रहता है वहाँ योग शक्ति मानी जाती है ।[1] यथा - 'पाचक' शब्द पच् धातु से ण्वुल प्रत्यय होकर बनता है, तथा इन दोनों अवयवों का अर्थ ही पाचक शब्द के अर्थ 'पकाने वाला' के रूप में प्राप्त होता है । अतः पाचक आदि पदों में योग शक्ति मानी जाती है ।

योगरूढ़ि शक्ति :- जिन पदों के अर्थ में उसके अवयवों का अर्थ विद्यमान तो रहता है किन्तु पद का प्रधानभूत अर्थ अवयवार्थ से सम्बद्ध होते हुए भी अन्य ही होता है । उन पदों में योगरूढ़ि शक्ति मानी जाती है ।[2] यथा 'पङ्कज' शब्द की व्युत्पत्ति 'पङ्के जायते' रूप में की जाती है । इन दोनों अवयवों का अर्थ पङ्क (कीचड़) में उत्पन्न होने वाला यद्यपि पङ्कज के समुदायार्थ में विद्यमान है किन्तु उसका प्रधान अर्थ कमल है जो पङ्कज शब्द के अवयवार्थ से सम्बद्ध होते हुए भी उससे भिन्न है । अतः पङ्कज शब्द में योगरूढ़ि शक्ति मानी जाती है ।

कुछ आचार्यों ने शक्ति (अभिधा) के चतुर्थ भेद के रूप में 'यौगिक रूढ़ि शक्ति' को स्वीकार किया है किन्तु वैयाकरण आचार्य उसका अन्तर्भाव शक्ति के [illegible] में ही हो जाने के कारण उसे पृथक् से स्वीकार नहीं करते । फिर भी उसका उल्लेख किया जा रहा है । यथा -

यौगिक रूढ़ि :- जहाँ पर कोई पद अनेकार्थक होने के कारण किसी अर्थ विशेष में यौगिक तथा अन्य अर्थ में रूढ़ होता है । उसे यौगिक रूढ़ शब्द तथा उसमें निहित शक्ति को यौगिक रूढ़िशक्ति कहते हैं । यथा - 'अश्वगन्धा' का एक अर्थ औषधि विशेष है जिसका अवयवार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है, तथा अश्व की गन्ध से युक्त अश्वशाला अर्थ में अवयवार्थ विद्यमान है । अतः इन दोनों अर्थों में अश्वगन्धा पद में क्रमशः प्रथम अर्थ में रूढ़िशक्ति तथा द्वितीय अर्थ में यौगिक शक्ति है । अतः दोनों शक्तियों के विद्यमान रहने के कारण ऐसे पदों को यौगिकरूढ़ि शक्ति से युक्त माना जाता है ।

1- शास्त्रकल्पितावयवार्थ निरूपिता शक्तिः योगः । प॰ल॰म॰पृ॰ 50

लक्षणा :- वाक्य में प्रयुक्त पद प्रायः अपनी उपस्थिति मात्र से अभिधाशक्ति के द्वारा अपना अर्थ बोध कराते हैं । किन्तु कभी-कभी वाक्य में प्रयुक्त एक या अनेक पद अभिधा शक्ति के बल पर अपने अभीष्ट अर्थ का बोध नहीं करा पाते, ऐसी स्थिति में सम्बन्धित पद के विवक्षित अर्थ की प्राप्ति के लिये किसी अन्य शक्ति की अपेक्षा होती है । आचार्यों ने शब्दों में विद्यमान, अमुख्य या असंकेतित अर्थ का बोध कराने वाली शब्द शक्ति को लक्षणा नाम से अभिहित किया है ।[1]

समस्त संस्कृत वाङ्मय में लक्षणा को स्वीकार किया गया है, किन्तु उसके लिये भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है । कहीं पर उसे उपचार[2] तो कहीं पर भक्ति[3], जघन्यवृत्ति[4], अमुख्य वृत्ति, अप्रसिद्ध वृत्ति[5] आदि नामों से सम्बोधित किया गया है । 'उपचार' से मिलते जुलते पद 'उपाचरत्'[6] का प्रयोग ऋग्वेद में तथा 'उपचरतीत्यु'[7] का प्रयोग तैत्तिरीय संहिता में भी मिलता है, जिसका संकेत लक्षणा की ही ओर है ।

यद्यपि समस्त वाङ्मय में किसी न किसी रूप में लक्षणा पर विचार किया गया है किन्तु उस पर विचार करते हुए भी उसके स्वरूप को लेकर विभिन्न मतावलम्बियों में मतवैभिन्य है । अतः विभिन्न दृष्टिकोणों को ही दृष्टि में रखकर लक्षणा का विवेचन करना उचित है ।

1- मुख्यार्थबाधतद्योगाभ्यामर्थान्तर प्रतिपादनं लक्षणा । सर्व॰ सं॰ पृ॰ 373

2-{अ} धर्मविकल्पनिर्देशे र्थसदभावप्रतिषेध उपचारछलम् । न्याय सूत्र 1•2•14

{ब} संदिग्धस्तूपचारः । वैशेषिकसूत्र 3•2•13

{स} आपस्तम्बीयधर्मसूत्र 2•1•1

{द} उपचारमात्रं तु भक्तिः । ध्वन्यालोक पृ॰ 149

3-{अ} बहुभक्तिवादिनि ब्राह्मणवाक्यानि भवन्ति । निरूक्त दैवतकाण्ड पृ॰ 825

{ब} ऐतरेय ब्राह्मण 3•20 वैदिक पदानुक्रम कोष पृ॰ 738

4- जघन्यवृत्ति कल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च । प॰ल॰म॰पृ॰ 75

न्याय दर्शन में लक्षणा का स्वरूप :- न्याय दर्शन में गौतम के न्यायसूत्र के अतिरिक्त न्याय ग्रन्थों में न्यायपरिशुद्धि, तर्कामृत, तर्कभाषा, भाषारत्न, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दशक्तिप्रकाशिका, शक्तिवाद तथा व्युत्पत्तिवाद आदि ग्रन्थों में लक्षणा का वर्णन मिलता है। न्यायदर्शन में लक्षणा के स्वरूप को लेकर विशद विवेचन करते हुए लक्षणा का स्वरूप निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। नव्य न्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य गङ्गेश ने लक्षणा के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाले अनेक लक्षणों का उल्लेख 'तत्वचिन्तामणि' में किया है। तत्वचिन्तामणि में कहा गया है कि शब्द के द्वारा शक्य सम्बन्ध से 'अशक्य और असादृश्य' की अन्वय में उपयोगी उपस्थिति ही लक्षणा है।[1] तत्वचिन्तामणि के टीकाकार मथुरानाथ ने उक्त उक्त परिभाषा का कुछ परिष्कार कर एक नयी परिभाषा दी है। जिसके अनुसार शब्द से उत्पन्न होने वाली अन्वयोपयोगी उपस्थिति ही लक्षणा है जिसमें अभिधा और सादृश्य से अलग सम्बन्ध की अपेक्षा हुआ करती है।[2] उक्त परिभाषाओं के अतिरिक्त भी जहाँ कहीं न्यायदर्शन में लक्षणा की परिभाषा दी गयी है सर्वत्र शक्य से सम्बद्ध अर्थ में निहित तात्पर्य को ही परोक्ष-अपरोक्ष रूप में लक्षणा बताया गया है। जिसे दृष्टि में रखते हुए ही आचार्य नागेश ने 'अपने शक्य {वाच्यार्थ} का सम्बन्ध लक्षणा बताया है।[3] नागेश कृत लक्षणा की परिभाषा में विद्यमान 'स्व' पद का अभिप्राय है - अर्थ को कहने में शक्त या समर्थ पद, तथा शक्य पद का अर्थ है - अभिधा वृत्ति के द्वारा कहा गया वाच्यार्थ। इस प्रकार समर्थ पद के वाच्य अर्थ {शक्य} से सामीप्य या सादृश्य आदि किसी प्रकार का सम्बन्ध लक्षणा है। यथा - 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में गङ्गा पद शक्त अर्थात् वाचक पद है जिसका वाच्यार्थ - प्रवाह विशेष है।

1- शब्दा परम्परयाशक्यासदृशान्वयपरोपस्थितिरूपा। तत्वचिन्तामणि पृ॰678-79

2- शक्तिसादृश्यसम्बन्धेनशब्दजन्यान्वयपरोपस्थितिः लक्षणा। तत्वचिन्तामणि रहस्य पृ॰ 679

3- तार्किकाः - स्वशक्यसम्बन्धो लक्षणा। प॰ल॰म॰पृ॰ 63

इस वाच्यार्थ रूप प्रवाह विशेष से तट का सामीप्य सम्बन्ध है । इस रूप में 'प्रवाह विशेष' तथा तट के मध्य रहने वाला सम्बन्ध लक्षणा है तथा लक्ष्यार्थ तट है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि न्याय दर्शन में लक्षणा को 'स्वार्थ सम्बन्ध' माना गया है । वस्तुतः नैयायिकों की मान्यता के अनुसार लक्षणा पद की शक्ति है । उनके अनुसार अभिधा-शक्ति के समान ही लक्षणा भी पद की शक्ति है । जिस प्रकार अभिधा पदनिष्ठ होती है ठीक उसी प्रकार लक्षणा भी पदनिष्ठ होती है, क्योंकि वाच्यार्थ सम्बन्ध ही लक्षणा है ।

मीमांसा दर्शन में लक्षणा का स्वरूप :- मीमांसा विषयक ग्रन्थों में, चाहे वे पूर्व मीमांसा के ग्रन्थ हों या उत्तर मीमांसा के समस्त में प्रायः लक्षणा का विवेचन प्राप्त होता है । पूर्व मीमांसा विषयक ग्रन्थों में से शाबर भाष्य, तन्त्रवार्तिक, तत्वबिन्दु, मीमांसान्यायप्रकाश आदि तथा उत्तर मीमांसा (वेदान्त) विषयक ग्रन्थों में से वेदान्त परिभाषा, वेदान्तसार, वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली, वेदान्तकल्पलतिका आदि लक्षणा के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं ।

मीमांसा दर्शन में वाक्य के बोध्य अर्थ का सम्बन्ध लक्षणा बताया गया है ।[1] मीमांसक आचार्य लक्षणा को मात्र पद की ही वृत्ति न मानकर पद तथा वाक्य दोनों में ही रहने वाली वृत्ति मानते हैं । जिससे लक्षणा के बोध्य पदार्थ तथा वाक्यार्थ दोनों होते हैं । यथा 'गहरी नदी में घोष है' (गभीरायां नद्यां घोषः) इस पद समुदाय में लक्षणा पदार्थ तथा वाक्यार्थ दोनों में ही है । गभीरायां नद्यां घोषः इस वाक्य में लक्षणा को निम्न रूप में स्पष्ट किया जा सकता है । यथा - 'गभीरायां नद्यां' इस पद समुदाय का अर्थ है - गभीराभिन्न नदी और उन दोनों का सामीप्य

1- स्वबोध्य सम्बन्धो लक्षणा । प०ल०म० पृ० 7।

सम्बन्ध तीर से है । यहाँ गभीर तथा नदी इन दोनों पदों की गभीर - नदी-तीर अर्थ में लक्षणा है । केवल गभीर पद की तीर अर्थ में लक्षणा नहीं हो सकती क्योंकि तीर नदी का विशेषण नहीं बन सकता, क्योंकि तीर तथा नदी दोनों एक नहीं है । इसी प्रकार केवल नदी पद की तीर अर्थ में लक्षणा नहीं मानी जा सकती क्योंकि ऐसा मानने पर 'गहरे तीर पर घोष है' यह अर्थ प्राप्त होगा परन्तु गभीर कभी भी तीर का विशेषण नहीं बन सकता, क्योंकि हम जानते हैं कि तीर कभी गहरा नहीं होता है । अतः पूरे वाक्य में लक्षणा कर उसका अर्थ गभीर नदी अर्थात् गहरी नदी के किनारे घर है, अर्थ प्राप्त होगा । इस प्रकार स्पष्ट है कि उक्त उदाहरण में किसी भी रूप में लक्षणा को पद वृत्ति नहीं माना जा सकता, वस्तुतः वह पद वृत्ति के साथ ही साथ वाक्यवृत्ति भी है । वेदान्त परिभाषाकार ने इसी तथ्य को प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में किया है ।[1] इसी प्रकार मीमांसक आचार्यों ने गागाभट्ट ने भाट्टचिन्तामणि में लक्षणा को वाक्यशक्ति के रूप में माना है ।[2] शम्भुभट्ट ने भाट्टदीपिका की टीका में एक एक स्थल पर वाक्य लक्षणा का समर्थन किया है तथा वाक्य में लक्षणा मानने में ही लाघव स्वीकार किया है, क्योंकि पद में लक्षणा मानने पर वाक्यलक्षणा स्थलों पर इतरपदों की वैयर्थ्यापत्ति हो जाने से लक्षणा न हो सकेगी, अतः समूहावलम्बनात्मक स्थलों में वाच्यार्थ सम्बन्ध मात्र से लक्षणा को अङ्गीकार करते हुए वाक्य में लक्षणा मानना अयुक्त न होगी ।[3]

1- लक्षणा च न पदमात्रवृत्तिः, किन्तु वाक्यवृत्तिरपि । यथा गम्भीरायां नद्यां घोषः इत्यत्र गभीरायां नद्यां अतिपदद्वय-समुदायस्य तीरे लक्षणा । वेदान्त परिभाषा आगम परिच्छेद

2- वाक्यार्थे लक्षणेति सिद्धान्तः । भाट्टचिन्तामणि पृ॰ 59

3- अतएव इयं वाक्ये लक्षणा, नैकस्मिन् पदो इतरपदानां वैयर्थ्यापत्तेः, तेषां तात्पर्य - ग्राह कत्वे व विनिगमनाविरहात्.- - - - - अतः पदसमूहावलम्बनात्मक वाक्य एव लक्षणा । - - - - तथापि स्वार्थ सम्बन्धमात्रेणैवेह लक्षणास्वरूपाङ्गीकारेण वाक्ये लक्षणोपादानं नायुक्तम्, अनुभवस्यैव प्रमाणत्वादिति ध्येयम् । भाट्टदीपिका(टीका शम्भुभट्ट) पृ॰ 25

मीमांसक आचार्यों ने लक्षणा के साथ ही साथ एक अन्य वृत्ति गौणी का भी उल्लेख किया है, जिसका अन्तर्भाव नैयायिक लक्षणा के ही अन्तर्गत कर उसे लक्षणा वृत्ति के एक भेद के रूप में ही स्वीकार किया है । शम्भु भट्ट ने भाट्ट दीपिका की टीका में लक्षणा तथा गौणी का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उनमें भेद स्थापित करने का प्रयास किया है । उनका मानना है कि - वाच्यार्थ सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति ही लक्षणा है । किन्तु जब वह लक्ष्यमाण के गुणों के योग की अपेक्षा करती है उसे गौणी वृत्ति कहते हैं ।[1] आचार्य कुमारिल ने भी गौणी तथा लक्षणा का इसी रूप में प्रतिपादन किया है ।[2]

1- लक्ष्यमाण गुणैरिति वार्तिकेन कर्मधारय सम्बन्धः
किन्तु सिंहत्वा नित्य जातिवाचक पदेन या लक्ष्यमाण
व्यक्तिः तन्निष्टगुणैरितिषष्ठी समास एव । भाट्टदीपिका॰टी॰शम्भुभट्ट॰ पृ॰ 119

2- अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते । लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता ।।
तन्त्रवार्तिक पृ॰ 354

वैयाकरण-मत में लक्षणा का स्वरूप :- वैयाकरण आचार्यों ने शब्द वृत्ति के रूप में लक्षणा को कभी भी स्वीकार नहीं किया । पाणिनि कृत अष्टाध्यायी में तो किसी भी रूप में लक्षणा का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु बाद में कात्यायन तथा पत जलि ने अप्रत्यक्ष रूप में लक्षणा का व्याख्यान किया है । बाद में कौण्डभट्ट ने लक्षणा को स्वीकार काने वालों की कटु आलोचना की है । भर्तृहरि तथा नागेश भट्ट भी लक्षणा वृत्ति को स्वीकार नहीं करते किन्तु उसका खण्डन करने के उद्देश्य से विश्लेषण करते हैं ।

लक्षणा के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करने वाले आचार्यों को प्राचीन वैयाकरण तथा नव्य वैयाकरण दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है । प्राचीन वैयाकरणों में पत जलि, भर्तृहरि, कात्यायन, कौण्डभट्ट को तथा नव्य वैयाकरणों में आचार्य नागेश को लिया जाता है । पत जलि ने यद्यपि लक्षणा का नामोल्लेख नहीं किया, किन्तु दो भिन्न पदार्थों में अभेद न हो पाने की स्थिति में भिन्न में अभिन्नता का ज्ञान, अतत् में तत् का ज्ञान, अन्य में अन्य का आरोप कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए 'प्रयोगादाख्यायाम्' सूत्र के भाष्य में कहा है कि ऐसे स्थलों पर तत्स्थता, तद्धर्मता, तत्समीपता, तत्साहचर्य चार तरह से भिन्न पदार्थ का अभेद आरोपित होता है ।[1] वस्तुत: यह आरोप लक्षणा के कारण ही होता है । जिसका परिगणन करते हुए भी पत जलि ने नामोल्लेख नहीं किया ।

वैयाकरण आचार्यों में लक्षणा शब्द का उल्लेख सर्व प्रथम कौण्डभट्ट ने किया है, किन्तु उन्होंने लक्षणा को शब्द वृत्ति के रूप में न स्वीकार कर लक्षणा को पृथक् वृत्ति मानने वालों पर करारा प्रहार किया है ।[2]

1- कथं पुनरतस्मिन् 'स' इत्येतद्भवति ? चतुर्भि: प्रकारैरतस्मिन् 'स' इत्येतद्भवति तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात् तत्साहचर्यादिति । महाभाष्य4·1·48

2- किं च प्रत्यक्षादिजन्योपस्थिते: शाब्दबोधानङ्गत्वाच्छाब्दबोधं प्रतिशक्तिजन्योपस्थिते:, लक्षणाजन्योपस्थितेश्च कारणत्वं वाच्यम् तथा च कार्यकारणभावद्वयकल्पने गौरवं स्यात् । अस्माकं पुन: शक्तिजन्योपस्थितित्वेनैव हेतुतेति लाघवम् ।

वस्तुत: व्याकरण शास्त्र में प्रारम्भ से ही 'अप्रसिद्धा शक्ति' का उल्लेख मिलता है, जिसे शक्ति के एक भेद के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। वैयाकरणों ने इसी अप्रसिद्धा शक्ति में ही लक्षणा का व्यवहार करते थे।[1] आचार्य नागेश ने लघु मंजूषा तथा परमलघु मंजूषा में इस मन्तव्य का स्पष्ट रूप से विवेचन किया है।[2]

अन्य आचार्य जहाँ पर मुख्यार्थ या वाच्यार्थ के ज्ञान के लिये अभिधा शक्ति तथा मुख्यार्थ या वाच्यार्थ के बाधित होने पर लक्षणा शक्ति मानते हैं, वहीं वैयाकरण आचार्य समस्त पदों चाहे वे मुख्य हों या लाक्षणिक दोनों प्रकार के शब्दों के ज्ञान का आधार एक मात्र अभिधा मानते हैं इस सम्बन्ध में वे तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि लोक जिस शब्द में जिस अर्थ की शक्ति मान लेता तत्कालीन तथा तदुत्तरवर्ती समाज भी उस शब्द को उसी अर्थ का वाचक मानता है, और उसे उस शब्द से उसी अर्थ का बोध तब तक होता रहता है जब तक समाज द्वारा उस शब्द को किसी अन्य अर्थ का बोधक मानकर स्वीकार नहीं कर लिया जाता। फलस्वरूप आधिक्य रूप में प्रचलित अर्थ ही प्रसिद्धार्थ, अभिधेयार्थ, वाच्यार्थ, मुख्यार्थ तथा लक्षणार्थ आदि अनेक नामों से जाना जाता है।

1- वैय्याकरणास्तु लक्षणां नाङ्गीकुर्वन्ति। तेषां मते शक्तिरेव द्विविधा प्रसिद्धा अप्रसिद्धा च। तत्र तेषां प्रसिद्धां शक्तिं परे दार्शनिका: शक्तिम् अप्रसिद्धां च शक्तिं लक्षणेति शब्दमात्रे भेद:।
शाब्दबोधविमर्श: पृ॰ 26।

2- तथाहि शक्तिद्विविधा - प्रसिद्धा अप्रसिद्धा च। आमन्दबुद्धिवेद्यात्वं प्रसिद्धात्वम् सहृदय-हृदय मात्र वेद्यात्वं अप्रसिद्धात्वम्। परम ल॰म॰प॰ पृ॰ 77

लक्षणा का मूलस्वरूप :- वस्तुतः प्रत्येक शब्द का कोई न कोई मुख्यार्थ होता है तथा शब्द विशेष अपने अर्थ विशेष में रूढ़ होता है किन्तु कभी-कभी शब्द से प्राप्त होने वाले मुख्यार्थ केस्थान पर अन्य अर्थ की प्राप्ति होने लगती है, जिसे नैयायिक एवं मीमांसक आचार्य लक्ष्यार्थ नाम से अभिहित करते हैं, साथ ही शब्द से मुख्यार्थ के स्थान पर लक्ष्यार्थ का बोध कराने में कारणभूत शक्ति को 'लक्षणा' नाम देते हैं। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि लक्षणा वृत्ति का मूल क्या है, अर्थात लक्षणा वृत्ति शाब्द-बोध कराने के उद्‌देश्य से किस स्थिति में उपस्थित होती है ?

आचार्यों ने शाब्द बोध के सन्दर्भ में लक्षणा की उपस्थिति के लिये दो स्थितियों को उत्तरदायी माना है। जिनमें प्रथम अन्वयानुपपत्ति की स्थिति एवं द्वितीय तात्पर्यानुपपत्ति की स्थिति है।

अन्वयानुपपत्ति:- जहाँ पर वाक्य के पदों का अर्थ की दृष्टि से संगति न बन सके अर्थात् पदों के अन्वय की उपपत्ति न हो सके अथवा वाक्यगत शब्दों से वक्ता के तात्पर्य का बोध न हो सके, ऐसी स्थिति में लक्षणा वृत्ति की उपस्थिति को अवकाश मिलता है, जिसका कारण या मुल वाक्यगत पदों के परस्पर अन्वय की अनुपपत्ति है। अतः ऐसी स्थितियों में अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का मूल माना जाता है।[1]

तात्पर्यानुपत्ति :- कभी-कभी वाक्य गत पदों के वक्ता का तात्पर्य स्पष्ट नहीं हो पाता। फलस्वरूप उस तात्पर्य विशेष की दृष्टि से उन-उन पदों में लक्षणा वृत्ति मानना आवश्यक हो जाता है, अर्थात जहाँ पर वाक्य-गत पदों के संतार्थ से वक्ता का मन्तव्य स्पष्ट नहीं हो पाता, वहाँ तात्पर्य की अनुपपत्ति होने से लक्षणा वृत्ति की उपस्थिति होती है जिसका कारण तात्पर्यानुपपत्ति ही है।[2]

1- अन्वयानुपपत्ति प्रतिसन्धानं च लक्षणाबीजम्। परमलघु मंजूषा पृ॰ 68

2- परन्तु यद्यन्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजं स्यात्तदा यष्टीः प्रवेशयेत्यत्र लक्षणा न स्यात्, यष्टिषु प्रवेशाऽन्वय स्यानुपपत्तेरभावात्। तेन यष्टिप्रवेशे भोजनतात्पर्यानुपपत्या

समीक्षा :- यद्यपि लक्षणा के मूल के रूप में गिनाये गये अन्वयानुपपत्ति तथा तात्पर्यानुपपत्ति दोनों ही स्थितियों में लक्षणा वृत्ति उपस्थित होती है । परन्तु यदि अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का मूल कारण मान लिया जाय तो 'यष्टी: प्रवेशय' जैसे वाक्यों में लक्षणा नहीं होगी क्योंकि यष्टियों में प्रवेश का अन्वय उपपन्न होने के कारण अन्वयानुपपत्ति नहीं है, फलस्वरूप लक्षणा नहीं होनी चाहिए , किन्तु लक्षणा होती है क्योंकि यष्टियों (लाठियों) का भी प्रवेश घर में हो सकता है । जबकि 'यष्टियों' को प्रवेश कराओ कहने का वक्ता का तात्पर्य 'यष्टिधारियों को प्रवेश कराओ' से है, जिसमें तात्पर्य की अनुपपत्ति है । फलत: अन्वय की उपपत्ति होने पर भी तात्पर्य की अनुपपत्ति की स्थिति में लक्षणा होती है ।

इसी प्रकार कभी-कभी वाक्यगत पदों की अन्वयानुपपत्ति वाक्यगत पदों का अर्थ वक्ता के तात्पर्य से भिन्न किसी अन्य अर्थ को मान लेने पर भी दूर हो जाती है । यथा - 'गङ्गायां घोष:' वाक्य में 'घोष' का लक्षणार्थ 'मकर' आदि मान लेने पर भी अन्वय की अनुपपत्ति दूर हो जाती है ।[1] फलस्वरूप कोई भी पद अपने विशिष्ट लक्षणार्थ को न व्यक्त कर श्रोता की इच्छा पर निर्भर करेगा जिससे अन्वय की उपपत्ति के लिये मनमाने अर्थ किये जायेंगे । फलस्वरूप वक्ता का अभिप्राय कुछ होगा और श्रोता उससे कुछ दूसरा अर्थ निकालेगा ।

'अन्वयानुपपत्ति' पक्ष के अतिव्याप्ति दोष से युक्त होने के कारण आचार्यों ने लक्षणा के मूल में तात्पर्यानुपपत्ति को माना है । क्योंकि हम देखते हैं कि 'यष्टी: प्रवेशय' तथा 'काकेभ्यो दधि रक्षिताम्' जैसे वाक्यों में अन्वय कीउपपत्ति हो

1- अन्यथा गङ्गायां घोष: इत्यादौ घोष आदि पदे मकरादि लक्षणापत्ति:, तावताप्यन्वयानुपपत्तिपरिहारात् । ल॰म॰ पृष्ठ 94 एवं प॰ल॰म॰ पृष्ठ 68

जाने पर अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं हो पाती, क्योंकि उससे वक्ता द्वारा चाहे अर्थ को श्रोता नहीं प्राप्त कर पाता । यथा - 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' वाक्य का शाब्दिक अर्थ - 'कौओं से दधि की रक्षा करो' वाक्य में पदों का अन्वय हो जाताहै परन्तु उससे अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वक्ता मात्र कौओं से ही दधि की रक्षा नहीं चाहता अपितु वह समस्त दध्युपधातक जीवों से दधि की रक्षा करने की बात करता है । अतः यहां काक पद का लक्षणार्थ - समस्त दध्युपधातक जीव हैं, इसी अर्थ में वक्ता का तात्पर्य है । अतः अन्वयानुपपत्ति के स्थान पर तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का मूल मानना उचित है ।

वस्तुतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानना उचित है क्योंकि व्यवहार में देखा जाता है कि जहां पर अन्वय की उपपत्ति नहीं होती वहां पर तात्पर्य की उपपत्ति भी नहीं होती किन्तु कुछ ऐसे भी स्थल प्राप्त होते हैं जहां अन्वय की उपपत्ति तो हो जाती है किन्तु तात्पर्य की उपपत्ति न हो पाने के कारण लक्षणा को अवकाश मिलता है, फलस्वरूप लक्षणा मानना आवश्यक हो जाता है । उक्त दोनों स्थितियों में तात्पर्य की अनुपपत्ति ही प्रधान है तथा सार्व है अतः उसी को लक्षणा का बीज मानना उचित है ।[1] क्योंकि जब तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानने से काम चल जाता है तो फिर दोनों अन्वयानुपपत्ति तथा तात्पर्यानुपपत्ति दोनों को लक्षणा का बीज माना जाय ? अर्थात् तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानना संगत है । न्यायसिद्धान्त मुक्तावली में भी तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना गया है ।[2]

1- लक्षणाबीजं तु तात्पर्यानुपपत्तिरेव न त्वन्वयानुपपत्तिः ।
'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र अन्वयानुपपत्तेरभावात् ।
'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तात्पर्यानुपपत्तेरपि सम्भवात । वेदान्त परिभाषा, आगम परिच्छेद ।

2- लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः । न्याय॰ सि॰ मुक्ता॰ शब्द खण्ड पृ॰ 24

लक्षणा के भेद :- यद्यपि वैयाकरण आचार्यों को लक्षणा वृत्ति स्वीकार नहीं है, किन्तु नैयायिकों तथा मीमांसकों के सिद्धान्तों [illegible] के कारण उनकी दृष्टि से वे लक्षणा का भी भेदोपभेद पूर्वक विश्लेषण कर खण्डन करते हैं। प्राचीन वैयाकरण आचार्यों ने स्पष्ट रूप से लक्षणा के सन्दर्भ में विचार नहीं व्यक्त किये, फलस्वरूप प्राचीन व्याकरण शास्त्र में उसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता। नव्य वैयाकरणाचार्य नागेश सर्व प्रथम लक्षणा का विश्लेषण करते हैं, वे लक्षणा को शुद्धा तथा गौणी के रूपमें प्रथमतः विभाजित करते हैं।[1] तदनन्तर इन दोनों वृत्तियों का विभाजन जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था लक्षणा के रूप में पुनः विभाजन करते हैं।[2] कतिपय नैयायिक तथा वेदान्ती आचार्य लक्षणा को जहद् अजहल्लक्षणा के रूप में तथा कुछ अन्य आचार्य लक्षित लक्षणा के रूप में चार भागों में विभाजित करते हैं। एक अन्य दृष्टि से भी लक्षणा को विभाजित करते हुए आचार्यों ने निरूढ़ा तथा प्रयोजन वती दो भेद माने हैं।[3] आचार्य नागेश ने लक्षणा के इन्हीं भेदों का प्रतिपादन वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा में भलीभांति किया है।[4] अस्तु लक्षणा के इन्हीं भेदों का व्याख्यायित किया जाता है।

1- सा द्विधा: - गौणी शुद्धा च। परमलघुमञ्जूषा पृ॰ 63 एवं लघुमञ्जूषा पृ॰ 100

2- प्रकारान्तरेणापि सा द्विविधा - अजहत्स्वार्था जहत्स्वार्था च। प॰ल॰म॰पृ॰ 65 एवं लघु म॰ पृ॰ 100

3- प्रयोजनवती निरूढ़ा च लक्षणा द्विविधा मता। प॰ल॰म॰पृ॰ 74

4- सा द्विविधा - शुद्धा॰, गौणी च। ते च प्रत्येकं द्विविधं जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था च। - - - - एव च लक्षणा प्रकारान्तरेणपि द्विधा सम्पन्ना [illegible] रूढ़ा प्रयोजनवती च। वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा पृ॰ 22 - 23

गौणी लक्षणा :- आचार्यों ने लक्षणा के प्रमुख भेद के रूप में गौणी लक्षणा को मा माना है । मीमांसक आचार्यों ने तो गौणी वृत्ति को लक्षणा के समकक्ष एक पृथक् वृत्ति ही मान लिया है । आचार्य नागेश ने गौणी लक्षणा को परिभाषित करते हुए कहा है । - अपने सादृश्य सम्बन्ध द्वारा वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ को बताने वाली वृत्ति गौणी लक्षणा है । इस लक्षणा का नाम गौणी इसलिये पड़ा कि इस वृत्ति से वे गुण लक्षित होते हैं, जो दो समान पदार्थों या प्राणियों आदि में रहते हैं । इसलिए 'गुणाद्-आगता गौणी' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका गौणी नाम उचित ही है । गौणी लक्षणा सदैव सादृश्य सम्बन्ध पर ही आश्रित रहती है । यथा - 'गौर्वाहीकः' 'वाहीक बैल है' यहाँ गौ पद का अर्थ बैल जिसमें जड़ता आदि अवगुण हैं, जो वाहीक में भी पाये जाते हैं । अतः गौ शब्द से 'सादृश्य' का 'अधिकरण होना' रूप सम्बन्ध के द्वारा 'वाहीक' अर्थ का बोध यहाँ लक्षणा वृत्ति से होता है और यह लक्षणा गौ एवं वाहीक दोनों के गुण सादृश्य पर है अतः गौणी लक्षणा कही जाती है । गौणी लक्षणा के सम्बन्ध में तन्त्रवार्तिककार ने भी यही मत व्यक्त किया है ।[1]

शुद्धा लक्षणा :- शुद्धा लक्षणा की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि - सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध के द्वारा वाच्यार्थ से सम्बन्ध अर्थ को बताने वाली लक्षणा शुद्धा है ।[2] वस्तुतः शुद्धा लक्षणा सादृश्य सम्बन्ध से भिन्न कार्यकरण आदि सम्बन्धों के आधार पर वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ को बताती है क्योंकि इस लक्षणा के समान आरोप आदि का मिश्रण नहीं होता । यथा - 'आयुर्घृतम्' घृत आयुवर्द्धन का कारण है इस वाक्य में कार्यकारण सम्बन्ध के आधार पर घृत शब्द अपने शक्यार्थ घृत से सम्बद्ध आयु का लक्षणा द्वारा बोध कराता है, अतः यहाँ शुद्धा लक्षणा है ।

1- लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता । तन्त्रवार्तिक से काव्य प्रकाश 2.12 में उद्धृत

2- तदतिरिक्त सम्बन्धेन शक्य सम्बन्ध्यर्थ प्रतिपादिका शुद्धा । पल लघु मञ्जूषा पृ 63

शुद्धा एवं गौणी लक्षणा के प्रकारान्तर से जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था दो भेद होते हैं, कतिपय आचार्यों ने इन दोनों भेदों के साथ-साथ जहद् अजहत्लक्षणा एवं लक्षित लक्षणा का भी उल्लेख किया है । अतः यहाँ पर उक्त चारों का विवेचन किया जा रहा है ।

अजहत्स्वार्था लक्षणा :- अजहत्स्वार्था का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - अजहत् अत्यजन् स्वार्थः यां सा अजहत्स्वार्था' अर्थात् वाच्यार्थ अथवा मुख्यार्थ जिस लक्षणा का परित्याग न करे वह लक्षणा अजहत्स्वार्था है ।[1] लक्षणा के स्वरूप को इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है - वाक्यार्थ में शक्यार्थ अथवा वाच्यार्थ की ठीक - ठीक संगति करने के लिये अन्य अर्थ आक्षेप करते हुए भी इस लक्षणा में शब्द अपने वाच्यार्थ को नहीं छोड़ते । इसी कारण इसका अन्वर्थक नाम 'अजहत्स्वार्था' है ।

अजहत्स्वार्था लक्षणा में वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ दोनों का ही क्रिया के साथ अन्वय होता है । यथा - छत्रिणो यान्ति, यष्टीः प्रवेशय, काकेभ्यो दधि रक्षताम आदि उदाहरणों में छत्रिणः, यष्टि एवं काक इत्यादि का वाच्यार्थ क्रमशः छत्रधारी, सैनिक, लाठी एवं कौवा के साथ ही साथ उनके लक्ष्यार्थ छत्रधारी सैनिकों के साथ ही बिना छत्र के भी सैनिक हैं, यष्टि का लक्ष्यार्थ मात्र लाठी न होकर यष्टिधारी पुरुष तथा काक का लक्ष्यार्थ कौवे सहित अन्य दध्युपघातक जीव है अतः यहाँ अजहत्स्वार्था लक्षणा है ।

जहत्स्वार्था लक्षणा :- जहत्स्वार्था का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है - जहति परित्यजन्ति स्वानि (पदानि) यमर्थं स जहत्स्वो (अर्थः) । जहत्स्वो अर्थो यस्या लक्षणायाः सा जहत्स्वार्था, अर्थात् शब्द जिस लक्षणा में अपने अर्थ का परित्याग

1- स्वार्थपरित्यागेन इतरार्थाभिधायिका अन्त्या । परमलघु म० पृ० 66

1- स्वार्थसंवलित परार्थाभिधायिका अजहत्स्वार्था । परम लघु मञ्जूषा पृ 65·

कर दें वह जहत्स्वार्था लक्षणा है । आचार्यों ने जहत्स्वार्था लक्षणा को परिभाषित करते हुए कहा है कि अपने वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग करके दूसरे अर्थ श कथन करने वाली जहत्स्वार्था है, अर्थात् जहत्स्वार्था में लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराने हेतु शब्द अपने वाच्यार्थ का परित्याग कर देता है, अपने वाच्यार्थ का परित्याग कर देने के कारण ही इस लक्षणा को जहत्स्वार्था कहा जाता है ।[1] 'यथा - गौं वाहीकं पाठ्य' इस वाक्य में गौ {बैल} का पाठन क्रिया के साथ अन्वय न होपाने के कारण गौ अपने वाच्यार्थ बैल का परित्याग कर केवल बैल में विद्यमान मूर्खता सदृश गुणों वाले वाहीक अर्थात् वाहीक प्रदेश मे रहने वाले आदमी का कथन करता है जिसके साथ पठन क्रिया की अन्विति हो जाती है । यहाँ पर गौ पद अपने वाच्यार्थ बैल का परित्याग कर सादृश्य आदि के कारण एक नवीन अर्थ को ग्रहण करता है अतः जहत्स्वार्था लक्षणा है ।

<u>जहद्-अजहत्लक्षणा</u> :- कुछ आचार्य जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था लक्षणा दोनों गुणों को मिलाकर जहद् अजहत्लक्षणा के रूप में लक्षणा के तृतीय भेद की उद्भावना करते हैं । इस नाम की व्युत्पत्ति की जाती है । 'जहति अजहति च पदानि स्ववाच्यार्थ यस्यां सा' अर्थात् जिस लक्षणा में शब्द अपने वाच्यार्थ का किंचित् परित्याग तो कर देते हैं किन्तु कुछ मात्रा में उसका बोध भी कराते रहे हैं जहद् अजहत्लक्षणा कहलाती है । इस लक्षणा में वाच्यार्थ का न तो सर्वथा परित्याग ही किया जाता है और न तो पूर्णरूपेण उसका ग्रहण ही होता है ।[2] इस लक्षणा के उदाहरण के रूप में 'ग्रामोदग्धः', 'पट दग्धः' आदि उदाहरण किये जाते हैं, क्योंकि पूरे ग्राम

1- स्वार्थ परित्यागेन इतरार्थाभिधायिका अन्त्या । परमलघु म॰ पृ॰ 66

2- विशिष्टार्थ बोधक शब्दस्य पदार्थैकदेशे लक्षणायां 'जहद् अजहत्लक्षणा' इति व्यवहरन्ति वृद्धाः । वाच्यार्थे किंचिद् अंश त्यागः किंचिद् अंश परिग्रहश्च ।
प॰ल॰म॰ पृ॰ 60

या पूरे वस्त्र के न जलने पर भी ग्राम जल गया तथा वस्त्र जल गया कह दिया जाता है जबकि न तो पूरा ग्राम ही जला होता है और न पूरा वस्त्र ही जला होता है। अतः यहाँ पर पदों के वाच्यार्थ का परित्याग करते हुए भी सर्वथा परित्याग न हो पान एवं वाच्यार्थ को ग्रहण करते हुए भी उसका पूर्ण रूपेग ग्रहण न हो पाने के कारण जहद् अजहल्लक्षणा मानी जाती है।

परन्तु लक्षणा के इस जहद् अजहल्लक्षणा भेद को कतिपय नैयायिक एवं वेदान्ती आचार्यों के अतिरिक्त अन्य लोगों ने स्वीकार नहीं किया है। वेदान्त परिभाषाकार ने स्पष्ट रूप से इसका खण्डन किया है।[1] भाष्यकार पतञ्जलि तथा नागेश को भी यह लक्षणा स्वीकार्य नहीं है। पतञ्जलि ने तो स्पष्ट कहा है कि पूरे समुदाय का कथन करने वाले शब्द उस समुदाय विशेष के अवयवों को कहने के लिये भी प्रयुक्त होते हैं।[2] यथा - पांचाल पूरे प्रदेश का नाम है किन्तु वह प्रान्त के पूर्वी तथा पश्चिमी हिस्सों के लिये भी प्रयुक्त होता है। अतः स्पष्ट है कि जहद् अजहल्लक्षणा का अन्तर्भाव जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था में हो जाने के कारण उसे लक्षणा के पृथक् भेद के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

लक्षित-लक्षणा :- लक्षित लक्षणा की व्युत्पत्ति 'लक्षिते लक्षितस्य वा लक्षणा लक्षित लक्षणा' के अनुसार लक्षित में लक्षणा होने के कारण अथवा लक्षित की लक्षणा होने के कारण इस प्रकार की लक्षणा को लक्षित लक्षणा कहा जाता है। यथा - 'द्विरेफ' पद में सर्वप्रथम दो 'र' वर्ण वाले भ्रमर पद में लक्षणा फिर भ्रमर शब्द की 'भ्रमर' रूप अर्थ में लक्षणा मानी जाती है, अर्थात् जब लक्ष्यभूत भ्रमर शब्द के वाच्य

1- वयं तु ब्रूमः 'सो यं देवदत्तः' 'तत्त्वमसि' इत्यादौ विशिष्टयोर भेदान्वयानुपपत्तौ विशेष्ययोः शक्त्यु पस्थितयोरेव अभेदान्वया विरोधात् 'यथा' घटो नित्यः' इत्यत्र घटवाच्यैकदेशघटत्व अयोग्यघट व्यक्तया सह अनित्यत्वान्वयः। वेदान्त परिभाषा आगम परिच्छेद

2- समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते।
पूर्वे पंचालाः उत्तरे पंचालाः- - - - - । महाभाष्य भाग प॰ 7।

अर्थ भ्रमर में द्विरेफ पद की लक्षणा मानी जाती है । वह लक्षणा लक्षित लक्षणा होतीहै । लक्षणा के इस रूप को प्राचीन नैयायिकों ने ही स्वीकार किया है । नव्य नैयायिक इसे पृथक् वृत्ति न मानकर इसका अन्तर्भाव जहत्स्वार्था में ही कर लेते हैं ।[1]

आचार्य नागेश लक्षणा के भेद लक्षित लक्षणा का स्पष्टतः खण्डन किया है । उनका मानना है कि द्विरेफ जैसे पदों में लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वहाँ पर रूढ़िशक्ति के द्वारा ही भ्रमर आदि अर्थों का ज्ञान हो जाता है । अथवा इस प्रकार के प्रयोगों में योगरूढ़ि मानकर भी अर्थबोध हो जाता है । यथा - भ्रमर पद में विद्यमान दो रे को का भ्रमर रूप अर्थ में आरोप करके द्विरेफ से भ्रमर का ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है । अतः द्विरेफ आदि पदों में लक्षणा को मानने की आवश्यकता नहीं है । फिर जब लक्षणा ही नहीं है तो लक्षित-लक्षणा के लिये कोई स्थान ही नहीं बनता ।

निरूढ़ा लक्षणा :- आचार्यों ने निरूढ़ा लक्षणा का लक्षण देते हुए कहा है - प्रयोजन के अभाव में वाच्यार्थ का अभाव निरूढ़ा लक्षणा है । अर्थात् जहाँ पर प्रयोजन की उपस्थिति न होने के कारण शब्द के वाच्यार्थ को भी न ग्रहण कर लक्षणा द्वारा तात्पर्यसिद्धि हेतु अन्य अर्थ लक्षणार्थ की प्राप्ति की जाती है उस स्थिति में होने वाली लक्षणा को निरूढ़ा लक्षणा कहा जाता है ।[2]

वस्तुतः निरूढ़ा लक्षणा तथा अभिधा शक्ति में कोई मौलिक अन्तर नहीं है दोनों एक ही हैं, क्योंकि जिस प्रकार कोई शब्द पिनी अभिधा शक्ति से तात्पर्यवश किसी अर्थ को व्यक्त करता है, उसी प्रकार निरूढ़ालक्षणा द्वारा भी शब्द तात्पर्यवश ही

1- अत्र द्विरेफादिपदे रेफाद्वय-सम्बन्धो भ्रमर पदे ज्ञायते । भ्रमर पदस्य च सम्बन्धो भ्रमरे ज्ञायते, इति तत्र 'लक्षित लक्षणा' जहल्लक्षणा एव इति नव्य-नैयायिकाः ।
न्यायसिद्धान्त मुक्तावली शब्द खण्ड पृ॰27

2- असति प्रयोजने शक्य सम्बन्धो निरूढ़ा लक्षणा । परमलघुमंजूषा पृ॰ 74

उन अर्थों को व्यक्त करता है । यथा त्वक् शब्द जिस प्रकार से 'चर्म' क[illegible] में प्रसिद्ध है ठीक उसी प्रकार वह 'चर्मेन्द्रिय' अर्थ को भी व्यक्त करता है । अतः निरूढ़ लक्षणा अभिधा ही है । उसे पृथक् से लक्षणा के रूप में मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

प्रयोजनवती लक्षणा :- जहाँ पर शब्द के वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के साथ ही साथ वक्ता का उद्देश्य प्रयोजन को भी बताना होता है, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है । यथा - 'गङ्गायां घोषः' वाक्य से गंगा तट में बस्ती है के साथ - साथ तट में रहने वाली शीतलता तथा पवित्रता आदि का बोध कराना भी यहाँ पर वक्ता को उद्देश्य है । इसी प्रकार 'कुन्ताः प्रविशन्ति' वाक्य में भाले वाले पुरुषों में भाले की तीक्ष्णता का बोध कराना भी वक्ता का प्रयोजन है अतः यहाँ पर लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराने वाली लक्षणा को प्रयोजनवती लक्षणा नाम से अभिहित किया जाता है ।

समासों में लक्षणा :- आचार्यों ने लक्षणा का विवेचन करते समय समासों के शाब्दबोध के सन्दर्भ में लक्षणा वृत्ति के योगदान को भी विषय बनाया है । जहाँ एक ओर नैयायिक तथा मीमांसक आचार्य समासों में वाक्यों की ही भाँति लक्षणा मानते हुए लक्षणा के माध्यम से ही समस्त पदों का शाब्द-बोध करते हैं, वहीं दूसरी ओर वैयाकरण आचार्य किसी भी रूप में लक्षणा को न स्वीकार करते हुए समासों को भी लक्षणा वृत्ति से मुक्त मानते हैं; तथा समासों के शाब्द बोध के सन्दर्भ में नैयायिक तथा मीमांसकों द्वारा मान्य लक्षणा के स्थान पर समासों में विद्यमान रहने वाली शक्ति को ही हेतु मानते हैं । अतः वे समस्त पदों में लक्षणा की विद्यमानता को अस्वीकार करते हुए दृढ़ता पूर्वक खण्डन करते हैं । अतः प्रस्तुत स्थल में समासों में नैयायिक तथा मीमांसक दृष्टि से समासों की विद्यमानता तथा वैयाकरण दृष्टि से उसका निराकरण किया जाता है । यथा -

<u>तत्पुरुष समास में लक्षणा :-</u> मीमांसक तथा नैयायिक आचार्यों का मानना है कि तत्पुरुष समास में लक्षणा होती है यथा 'राजपुरुष' इस तत्पुरुष समास में पूर्व पद राजपदार्थ के साथ पुरुष पदार्थ का स्वत्व सम्बन्ध से अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि निपात से अतिरिक्त नामार्थद्वय का भेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता । यदि अन्वय निपात से अतिरिक्त नार्थों का भेद सम्बन्ध से अन्वय मानेंगे तो राजपुरुष: में भी स्वत्वादिरूप सम्बन्ध से अन्वय बोध होने लगेगा । अतएव राजपुरुष: आदि तत्पुरुष समासों में पूर्वपद राज की राजसम्बन्धी में लक्षणा उसका पुरुष के साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वय कर 'राजसम्बन्ध्यभिन्न पुरुष: ' इत्याकारक शाब्द-बोध होता है इस प्रकार स्पष्ट है कि तत्पुरुष समास में लक्षणा होती है तथा उसी के द्वारा तत्पुरुष समासों का अर्थ बोध होता है ।

किन्तु वैयाकरण आचार्य तत्पुरुष समास में लक्षणा को स्वीकार नहीं करते उनका कहना है कि षष्ठी तत्पुरुष समास 'राजपुरु ' आदि में पूर्वपद राज की राजसम्बन्ध भिन्न पुरुष में लक्षणा स्वीकार की जाती है तो 'राजपुरुष: समस्त पद के विग्रह वाक्य राज्ञ: पुरुष: में भी लक्षणा स्वीकार की जानी चाहिए, क्योंकि समास और उसके विग्रह वाक्य एक ही हैं, दोनों के अर्थ एक ही हैं, किन्तु विग्रह वाक्य में लक्षणा स्वीकार नहीं की जाती, क्योंकि समस्त पद व विग्रह वाक्य में अन्तर आ जाता है । जगदीश भट्टाचार्य ने राज्ञ: पुरुष: में राजपुरुष के मुख्यार्थ के साथ अभेद बाधित

1- तत्पुरुषे तु पूर्वपदे लक्षणा तथाहि राजपुरुष इत्यादौ राजपदार्थेन पुरुषादिपदार्थस्य साक्षान्नान्वयो निपातातिरिक्तनामार्थभेदेनान्वय बोधस्याव्युत्पन्नत्वात् अन्यथा राजा पुरुष इत्यादि तथान्वयबोध: स्यात् न्याय सिद्धान्त मुक्तावली शब्दखण्ड पृ॰ 3

2- राज्ञ: पुरुष इत्यादिवाक्यानां राजपुरुष इत्यादि समास विग्रहत्वं न स्यात् विषमार्थबोधकत्वात्,समानार्थावबोधक वा क्यार्थस्यैव विग्रहत्वात् । समास शक्ति दीपिका पृ॰ 5

होने के कारण राजपद की राज सम्बन्धी अर्थ में लक्षणा मानी है ।[1] किन्तु यदि राजपुरुष के पूर्वपद राज में लक्षणा मानते हैं तो 'विशेषणं विशेष्येण बहुलं' सूत्र द्वारा ही समास सिद्धि हो जाने पर पाणिनि द्वारा 'षष्ठी {2·2·3}' सूत्र का प्रणयन किया जाना ही निष्प्रयोजन है । जबकि पाणिनि कृत प्रत्येक सूत्र का अपना उद्देश्य एवं प्रयोजन है, यह बात नैयायिक भी स्वीकार करते हैं । अतः 'राज्ञः पुरुषः' इस विग्रह वाक्य एवं 'राजपुरुष' समस्त पद में लक्षणा नहीं है;[2] तथा नैयायिकों द्वारा मान्य मत कि तत्पुरुष समास के पूर्वपद में लक्षणा है उचित नहीं है ।[3]

वैयाकरण दृष्टि में समासों में विशिष्ट शक्ति होने के कारण 'राजपुरुषः' इत्यादि समासों तथा राज्ञःपुरुषः इत्यादि वाक्यों का स्वस्वाभिभाव सम्बन्ध के द्वारा 'राजविशिष्ट पुरुष' इत्याकारक शाब्बोध होता है जो 'राज्ञःपुरुषः' वाक्य तथा तत्पुरुष समास के अर्थबोध में लक्षणा को न मानकर समासों में निहित शक्ति को ही हेतु मानना उचित है ।

1- वस्तुतस्तु विरुद्धविभक्त्यनवरुद्धस्य अभेदबोधकत्व व्युत्पत्तेः मुख्यार्थराजाभेदस्य बाधेन राजपदस्य राजसम्बन्धिनि लक्षणा । तर्कामृत पृ॰ 6।

2- लक्षणा राजसम्बन्ध भिन्नः पुरुषः इति बुबोधयिषायां समासस्य, राजसम्बन्ध - वानिति बुबोधयिषायां विग्रहस्येत्यादिप्रयोग नियम सम्भवात् । वैयाकरण भूषणसार पृ॰ 368

3- अपि च 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' मित्यनेनैव नीलोत्पलमित्यदाविव समाससिद्धया षष्ठीति सूत्रप्रणयनमप्रयोजनं स्यात् । अतः पूर्वपदं लाक्षणिकमिति न वाच्यम् । समास शक्ति दीपिका पृ॰7

बहुव्रीहि समास में लक्षणा :- नैयायिक आचार्य वाक्यों की ही भांति बहुव्रीहि समास में भी लक्षणा वृत्ति को स्वीकार करते हैं । वे 'चित्रगु' आदि बहुव्रीहि समास में लक्षणा की उपस्थिति को दो प्रकार से सिद्ध करते हैं । यथा - चित्रगु आदि पदों में चित्रा गावो यस्या सौ चित्रगु: इस बहुव्रीहि समास में 'चित्रगु' का अर्थ होता है 'चित्र गोस्वामी' । यहाँ जब पदों का एकदेशान्वय स्वीकार किया जाता है तब गो पद के लक्ष्य अर्थ गोस्वामी का 'चित्र' पद से अभेदान्वय होगा, और यदि अभेदान्वय स्वीकार न किया गया तो गोपद की चित्रगोस्वमी में लक्षणा चित्रपद को तात्पर्य ग्राहक मान लिया जायेगा ।[1]

बहुव्रीहि समास में लक्षणा मानने वाले नैयायिकों का वैयाकरणों ने खण्डन किया है । वस्तुत: बहुव्रीहि समास में नैयायिक उत्तरपद में लक्षणा मानते हैं, जो उचित नहीं है क्योंकि लक्षणा अवयवी में होनी चाहिए न कि अवयवभूतपदों में ।[2] साथ ही चित्रगु आदि बहुव्रीहि समास में वाचकत्व के अभाव में लक्षणा का होना भी सम्भव नहीं है ।[3]

1- तत्र हि चित्र गुपदादौ यदैक देशान्वय: स्वीक्रियते तदा गोपदस्य गोस्वामिनि लक्षणा, गवि चित्रा भेदान्वय: । यदि तत्रैक देशान्वयो न स्वीक्रियते तदा गोपदस्य चित्रगोस्वामिनि लक्षणा, गवि चि भा भेदान्वय:
न्याय सिद्धान्त मुक्तावली शब्द खण्ड पृ॰ 29

2- ते ह्यवयववर्तिन्या शैक्त्या लक्षणया वा निर्वाह विरह माकलय्य सर्वस्मिन् समासे शक्तिमभ्युपयन्ति । समास शक्ति दीपिका पृ॰ 4

3- न च शक्त्य ग्रहे लक्षण्या तेभ्यो विशिष्टार्थ प्रत्यय: संभवति । अतएव राजादिण - शक्त्यगहे 'राजपुरुष:' 'चित्रगु:' इत्यादौ न बोध: । न च चित्रगुरित्यादौ लक्षणासंभवेऽप्य षष्ठ्यर्थबहुव्रीहौ लक्षणाया असंभव बहुव्युत्पत्तिभ जनापपत्तेरिति वाच्यम् । वैयाकरण भूषण सार पृ॰ 370

द्वन्द्व समास में लक्षणा :- नैयायिक आचार्य द्वन्द्व समास में लक्षणा स्वीकार नहीं करते उनका मानना है कि धवखदिरौ इत्यादि इतरेतरयोग द्वन्द्व स्थल में धव तथा खदिर दोनों का बोध होता है, इसलिये द्वन्द्व में लक्षणा स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।[1] वस्तुत: नैयायिक आचार्यों ने द्वन्द्व एवं कर्मधारय समास में लक्षणा माना ही नहीं है उनका कहना है द्वन्द्व और कर्मधारय से अतिरिक्त समास-स्थलों में सर्वत्र यथायोग तत्तदर्थ में लक्षणा होती है ।[2] द्वन्द्व एवं कर्मधारय समास में लक्षणा न मानने पर भी नैयायिकों ने द्वन्द्व समास के समाहार अर्थ में लक्षणा माना है उनका कहना है कि 'अहिनकुलम्' जैसे पद जो समाहार अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, लक्षणा वृत्ति से युक्त होते हैं । यथा अहिनकुलम में उत्तरपद की अहिनकुल समाहार में लक्षणा का पूर्वपद अहि अहिनकुल के समाहार का बोधक होगा । किन्तु नव्य नैयायिक 'अहिनकुलम्' जैसे समाहार द्वन्द्व समास के उदाहरण में भी लक्षणा नहीं मानते । उनका कहना है कि 'अहिनकुलम्' में अहि एवं नकुल दोनों का बोध होता है किन्तु समाहार का बोध नहीं होता क्योंकि एकवचन से वोधित एकत्व संख्या का प्रत्येक के साथ अन्वय होता है । अत: समाहार अर्थ का बोधक न होने के कारण यहाँ भी लक्षणा नहीं होती ।[3]

वैयाकरण आचार्य समासों में लक्षणा स्वीकार नहीं करते, वे समासों में विशिष्ट शक्ति मानते हैं जिसे समासों का अर्थ वोध होता है ।वस्तुत: समस्त पदों का अर्थबोध विशिष्ट शक्ति के बल पर ही होता है जो समासों में ही निहित होती है ।अत: समासों के अर्थ वोध के लिये समासों में निहित शक्ति को ही हेतु मानना उचित है न कि लक्षणा वृत्ति को जिसका कि अर्थवोध के लिये आरोप किया जाता है वस्तुत: तार्किक जब पंकज आदि पदों के अर्थबोध में शक्ति की सत्ता को स्वीकार करते हैं तो उन्हें अन्य सामासिक पदों में भी लक्षणा के स्थान पर शक्ति को ही अर्थ का द्योतक मानना चाहिए ।[4]

1- द्वन्द्वे तु धवखदिरौ छिन्धीत्यादौ धवश्च खदिरश्च विभक्त्यर्थद्वित्व प्रकारेण बुध्यते तत्र न लक्षणा । न्याय सिद्धान्त मुक्तावली शब्द खण्ड पृ 32

2- (अ) तथा च द्वन्द्वकर्मधरयान्यसमासे सर्वत्र तत्तदर्थे लक्षणा । तर्कामृत पृ॰6

(ब) कर्मधारय स्थले तु नीलोत्पलमित्यादावभेद सम्बन्धेन नीलपदार्थ उत्पलपदार्थे प्रकार: तत्र च न लक्षणा । न्याय सिद्धान्त मुक्तावली शब्द खण्ड पृ॰ 36

3- परे तु अहिनकुल मित्यादौ अहिर्नकुलश्च बुध्यते, प्रत्येकमेकत्वान्वय: समाहार संज्ञा च यत्रैकत्व "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य" इत्यादिसूत्रे चोक्तं तत्रैव,अन्यत्रैकवचनमसाधुत्वत्याहु: ।

<u>लक्षणा वृत्ति का खण्डन :-</u> वैयाकरण आचार्य लक्षणा वृत्ति को स्वीकार नहीं करते, अतः वे नैयायिक तथा मीमांसकों द्वारा मान्य लक्षणा का प्रतिपादन करते हुए उसका खण्डन करते हैं । वैयाकरण भूषणकार आचार्य कौण्ड भट्ट एवं वैयाकरण सिद्धान्त म जूषाकार आचार्य नागेश ने लक्षणा को शब्द वृत्ति के रूप में स्वीकार करने वाले आचार्यों की कटु आलोचना करते हुए उसका खण्डन करते हैं ।

जहाँ पर शब्द के मुख्यार्थ से वक्ता के अभिप्राय का बोध नहीं हो पाता वहां पर लक्ष्यार्थ की प्रतीति को लक्षणावादी आचार्य आवश्यक मानते हैं, और शब्द से लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराती है लक्षणा वृत्ति । किन्तु वैयाकरण आचार्य मुख्यार्थ का बोध न होने पर भी वक्ता के तात्पर्य के ज्ञान के लिए लक्षणा वृत्ति को आवश्यक नहीं मानते, उनका मानना है कि प्रत्येक शब्द के प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध दो अर्थ होते हैं । जिनमें प्रसिद्ध अर्थ तो शब्द का मुख्यार्थ ही है किन्तु अप्रसिद्ध अर्थ को लक्षणावादी आचार्यों का लक्षणार्थ माना जा सकता है । वस्तुतः इस अप्रसिद्ध अर्थ या लक्षणार्थ की प्राप्ति लक्षणा शक्ति द्वारा नहीं होती अपितु समाज या लोक द्वारा उस शब्द में उस अप्रसिद्ध अर्थ की उद्भावना कर ली जाती है फलस्वरूप शब्द से अप्रसिद्ध अर्थ का बोध होने लगता है । अतः अप्रसिद्ध अर्थ का ज्ञान जिसे लक्षणावादी आचार्य लक्षणा का कार्य मानते हैं, वस्तुतः वह लक्षणा द्वारा प्राप्त न होकर अभिधा द्वारा प्राप्त होता है अभिधा शक्ति ही प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध अर्थ दोनों की प्रकाशक है ।

साथ ही भाष्यकार पत जलि का मानना है कि सभी पद सभी अर्थों के वाचक होते हैं ।[1] जिसका प्रतिवाद लक्षणावादियों ने कहीं भी नहीं किया । अतः जब सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हो सकते हैं तो फिर शब्द के प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध अर्थ दोनों की ही प्राप्ति शब्द से अभिधा शक्ति द्वारा हो जायेगी । फलस्वरूप अप्रसिद्ध अर्थ को लक्षणार्थ तथा उसकी प्रकाशक वृत्ति को लक्षणा मानना उचित नहीं है, अर्थात प्रसिद्ध अर्थ के साथ अप्रसिद्ध अर्थ की भी प्रकाशक अभिधा शक्ति ही होती है, लक्षणा नहीं । अतः लक्षणा को पृथक् वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है ।

1- {अ} सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचकाः इति भाष्यात् लक्षणाया अभावात् ।
परमलघु म ञ्जूषा पृ॰ 7

वस्तुत: प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध अर्थ दोनों में से कोई एक ही अर्थ काल विशेष में शब्द द्वारा प्राप्त होता है । एक साथ दोनों अर्थों की प्राप्ति नहीं होती । भर्तृहरि ने भी इस मन्तव्य का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि प्रकारण आदि विभिन्न हेतुओं के कारण एक शब्द से एक साथ प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध अर्थ का प्रकाशन नहीं हो सकता ।[1] इसलिये यही मानना चाहिये कि जिस प्रकार गौ शब्द गाय अर्थ का वाचक है उसी प्रकार वह 'गौर्वाहीक: आदि वाक्यों में वाहीक अर्थ का भी वाचक है ।

आचार्य नागेश लक्षणा का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जब अभिधा वृत्ति से ही शाब्द बोध हो जाता है तो उसकी उपेक्षा कर अर्थबोध के लिये लक्षणा की अपेक्षा करना उचित नहीं है । फिर भी यदि लक्षणा वृत्ति को स्वीकार ही किया जाता है तो शाब्द बोध में दो वृत्तियों का स्वीकार करने के कारण दो प्रकार के कार्य कारण भाव मानना पड़ेगा, जब कि एक मात्र वृत्ति अभिधा मानने पर एक ही कार्य कारण भाव से काम चल जाता है । अत: लक्षणा वृत्ति मानने में व्यर्थ का गौरव शेष होने के कारण लक्षणा वृत्ति स्वीकरणीय नहीं है । इसी मत का प्रतिपादन करते हुए कौण्डभट्ट ने भी लक्षणा का खण्डन कर अभिधा को ही शब्द की एक मात्र वृत्ति माना है ।[2]

स्पष्ट है कि वैयाकरण मत में अभिधा ही शब्द की वह वृत्ति है जो श ा, शब्द के प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध दोनों ही अर्थों का बोध कराती है, न कि लक्षणा । अति लक्षणा को शब्द की एक अतिरिक्त वृत्ति मानना उचित नहीं है ।

<u>व्यञ्जना वृत्ति :-</u> पद से प्राप्त होने वाले अर्थ वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से अतिरिक्त कभी-कभी उससे एक अन्य अर्थ की भी प्राप्ति होती है, जिसे प्रतीयमान अर्थ कहते हैं । इस प्रतीयमान अर्थ की प्राप्ति न तो अभिधा वृत्ति से होती है और न तो लक्षणा से ही । वस्तुत: पद का प्रतीयमान अर्थ शब्द की एक अन्य वृत्ति

1- सर्वशक्तेस्तु तस्यैव शब्दस्यानेकधर्मण: । प्रसिद्धिभेदाद् गौणत्वं मुख्यत्वं चोपचर्यते ।।
वा॰प॰ 2·255

2- शाब्दबोधं प्रतिशक्ति जन्योपस्थिते: लक्षणाजन्योपस्थितेश्च कारणत्वं वाच्यं । तथा च कार्यकारण भाव द्वयकल्पने गौरवं स्यात् । अस्माकं पुन: शक्तिजन्योपस्थितित्त्वेनैव

द्वारा उपलब्ध होता है जिसे अलङ्कारिकों या काव्यशास्त्रियों ने 'व्यंजना' नाम से अभिहित किया है । यह व्यंजनावृत्ति ही पद से प्रतीयमान अर्थ का बोधकराती है । प्रथमतः व्यंजना काव्यशास्त्रियों द्वारा ही मान्य एवं स्वीकृत वृत्ति है जिसे बाद में अन्य लोगों ने भी पद से प्रतीयमान अर्थ की प्राप्ति के लिये स्वीकार कर लिया है ।

नैयायिक एवं मीमांसक मत में व्यंजना :- नैयायिक एवं मीमांसक आचार्य व्यंजना वृत्ति को स्वीकार नहीं करते । नैयायिक व्यंजना वृत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव कर लेते हैं, अर्थात व्यंजना वृत्ति के जो कार्य हैं वे समस्त कार्य अनुमान द्वारा सम्पादित मानते हैं । अभिहितान्वयवादी कुमारिल भट्ट तथा पार्थसारथि मिश्र व्यंजना को वृत्ति स्वरूप में न स्वीकार कर तात्पर्य को तृतीय शब्द शक्ति मानते हैं । अन्विताभिधानवादी प्रभाकर मिश्र एवं शालिकनाथ मिश्र अभिधा और लक्षणा दो शब्द शक्तियों को ही स्वीकार करते हैं ।

नैयायिक आचार्य गदाधर ने अपने ग्रन्थ 'शक्तिवाद' में पद के अर्थ की दो वृत्तियाँ शक्ति एवं लक्षणा को ही माना है, वे इन दो वृत्तियों के अतिरिक्त पद तथा अर्थ में तीसरे किसी अन्य सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते । यद्यपि आचार्य गदाधर काव्यशास्त्रियों द्वारा स्वीकार की गयी तीसरी पदवृत्ति व्यंजना का उल्लेख नहीं करते किन्तु उनके टीकाकारों कृष्णभट्ट एवं माधव ने व्यंजना के विषय को लेकर उसके खण्डन की चेष्टा की है । कृष्णभट्ट का कहना है कि - गौणी तथा व्यंजना को अलग से वृत्ति मानना ठीक नहीं, क्योंकि इन दोनों का लक्षणा में अन्तर्भाव हो जाता है ।[1] इसी प्रकार माधव का कहना है कि प्रतीयमान अर्थ का कारण अभिधावृत्ति ही, व्यंजना नहीं, क्योंकि व्यंजना में भी अभिधा के द्वारा अभिधेयार्थ माने बिना काम नहीं चलता वाच्यार्थ ज्ञान ही उसका भी कारण है अतः व्यंजना को पद की तृतीय वृत्ति मानने से यह व्यभिचार आ जाता है जब प्रतीयमान अर्थ अभिधा के अतिरिक्त किसी अन्य वृत्ति से होता ही नहीं, तो उसे व्यंजना का कार्य मानना ठीक नहीं है ।[2]

1- एवं च गौणीव्यंजनयोः पृथग्वृत्तित्वमयुक्तं तयोर्लक्षणायामन्तर्भाव सम्भवात् ।
शक्तिवाद टीका मंजूषा पृ॰ ।

2- व्यंजनावृत्त्यजन्यशाब्दत्वेप्यस्य कार्यतावच्छेदक कोटौ गौरवात् । शक्तिवाद टीका

जगदीश तर्कालङ्कार तथा हरिनाथ भट्टाचार्या प्रभृति आचार्यों ने भी व्य जना वृत्ति के सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त किये हैं । 'मुखं विकसितस्मितं' आदि श्लोका में 'मुख में पुष्प के समान सौरभ होना' इस प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ की प्राप्ति कभी नहीं मानते । वे इस स्थल पर मुख्यार्थबाध की स्थिति ही नहीं मानते, जिसके आधार पर काव्यशास्त्रियों को व्य जना के लिये अवकाश मिलता है । वे काव्यशास्त्रियों के मन्तव्य का खण्डन करते हुए कहते हैं कि व्य जना की कल्पना काव्यशास्त्रियों द्वारा तात्पर्यबुद्धि के कारण की जाती है, किन्तु तात्पर्य प्राप्ति के लिये कोई कारण मानना ठीक नहीं है । यह कारण तभी माना जा सकता है जबकि सर्वप्रथम निस्तात्पर्यक ज्ञान की प्रतीति हो । किन्तु ऐसा नहीं होता ।[1] वस्तुत: हमें शाब्दबोध के साथ ही साथ तात्पर्य प्रतीति भी हो जाती है, अत: तात्पर्यप्रतीति का कारण शाब्दबोध ही है । यह सारा कार्य मन की विशिष्ट बुद्धि से होता है । शाब्द बोध के साथ ही साथ ऐसी स्थिति में मानस बोध को अलग से कारण मानना तो ठीक है, किन्तु व्य जना जैसी अलग शब्दशक्ति मानने को कोई औचित्य नहीं है ।[2]

वैयाकरण मत में व्य जना :- व्य जना का शाब्दशक्ति के रूप में आलङ्कारिकों के बाद वैयाकरणों ने माना है । यद्यपि प्राचीन व्याकरण में कहीं भी व्य जना का उल्लेख नहीं मिलता किन्तु नव्य व्याकरण में व्य जना अवश्य ही एक शब्द शक्ति के रूप में स्वीकार कर ली गयी है । व्य जना के अस्फुट स्वर व्या० शास्त्र में हमें सर्वप्रथम महाभाष्य में मिलते हैं ।[3], किन्तु स्पष्टत: उसके बीज भर्तृहरि

1- निस्तात्पर्यकज्ञानस्य प्रतिबन्धककल्पनादिति भाव: । शब्दशक्ति प्रका०कृष्णकान्ती टीका पृ० 151

2(अ) 'मुखं विकसितस्मितम्' इत्यादौ विकासस्य मुखे बाधाल्लक्षितार्थस्य विस्तृतस्यान्वय बोधोत्तरं मुखे कुसुमतुल्यसौरवत्ताया: चमत्कृतिरमणीयताया व बोधो मानसा लौकिक प्रत्यक्षरूप: स्मृति सन्निकृष्ट एवेति सिद्धान्तयन्ति । पाणिनीय व्याकरणे प्रमाण समीक्षा पृ०249

(ब) शब्द श०प० पृ० 166-176

3- तिङ्भिहितेन भावेन काल पुरुषोपग्रहा अभिव्यज्यन्ते कृदभिहितेन पुनर्न व्यज्यते अर्थवा नान्तरेण क्रियां भूतभविष्यद् वर्तमाना: काला व्यज्यन्ते । महाभाष्य

वाक्यपदीय में स्फोट के रूप में मिलते हैं [1], जिसके आधार पर कौण्डभट्ट के वैयाकरण भूषणसार में भी स्फोट का वर्णन हुआ है । यद्यपि कौण्डभट्ट ने स्पष्ट रूप से व्य जना के सन्दर्भ में कुछ भी नहीं कहा किन्तु अप्रत्यक्षरूप से वे व्य जना का उल्लेख करते हैं ।[2] आगे चल कर आचार्य नागेश ने व्य जना को न केवल शब्द शक्ति के रूप में स्वीकार किया है अपितु बलपूर्वक उसे स्थापित करने का भी प्रयास किया है ।

आचार्य नागेश स्पष्ट रूप से व्य जना वृत्ति को स्वीकार करते हैं । वे व्य जना को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं - मुख्यार्थबोध की अपेक्षा के अबिना ही ज्ञान उत्पन्न करने वाला, मुख्यार्थ के सम्बन्धा सम्बन्ध दोनों अर्थात् का साधारण प्रसिद्धा प्रसिद्ध दोनों अर्थों का ज्ञापक, वक्ता आदि की विशेषता के ज्ञान जनक तथा प्रतिभा आदि के द्वारा उद्बुद्ध संस्कार विशेष ही व्य जना है ।[3] अर्थात् कभी कभी वाक्य में मुख्यार्थ ग्रहण या मुख्यार्थ बाध के बाद भी किसी अर्थ की प्रतीति होती रहती है, प्राप्त होने वाला यह अर्थ या तो प्रसिद्ध होता है या अप्रसिद्ध, साथ ही कभी मुख्यार्थ से सम्बद्ध होता है कभी असम्बद्ध । इस प्रकार के अर्थ की प्रतीति जिस शक्ति के द्वारा बुद्धि को प्राप्त होती है, वह शक्ति विशेष व्य जना ही है ।[4]

यहाँ पर आचार्य नागेश द्वारा व्य जना के स्वरूप का प्रतिपादन अनेक विशेषणों मे माध्यम से किया जाना सोद्देश्य है । वे मुख्यार्थ-बाध निरपेक्ष बोध जनको' एवं 'मुख्यार्थ सम्बद्धासम्बद्ध साधारण: ' विशेषणों के माध्यम से नैयायिकों द्वारा व्य जना

1- प्रत्येकं व्य जकावर्णो भिन्ना वाक्यपदेष्वपि । वाक्य प्रदीप 1•88

2- उक्तं हि काव्यप्रकाशे, बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानीभूत स्फोटव्यङ्ग्यव्यंजकशब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृत इति । वैयाकरण भूषण सार पृ 234

3- मुख्यार्थ बाध निरपेक्ष बोधजनको, मुख्यार्थ सम्बद्धासम्बद्ध साधारणः प्रसिद्धा प्रसिद्धार्थ विषयकः, वक्त्रादि वैशिष्ट्य ज्ञान प्रतिभाद्युद्बुद्धः, संस्कार विशेषो व्य जना ।
प•ल•म• पृ• 78

4- मुख्यार्थसम्बद्धासम्बद्धसाधारण मुख्यार्थ बाधग्रहादि प्रयोज्य प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थ विषयक धीजनकत्वं व्य जना । वैयाकरण सिद्धान्त म• पृ• 3।

वृत्ति का लक्षणा में ही अन्तर्भाव कर लेने के विचार का खण्डन करते हैं । वे व्य जना वृत्ति को लक्षणा से सर्वथा पृथक् मानते हैं । उनका कहना है कि लक्षणा वृत्ति के लिये मुख्यार्थ की बाधा का ज्ञान होना आवश्यक है तथा लक्ष्य अर्थ मुख्य अर्थ से सम्बद्ध ही हुआ करता है । परन्तु व्य जना वृत्ति के लिये मुख्यार्थ की बाधा का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है, साथ ही व्यंग्य अर्थ मुख्य या वाच्य अर्थ से सम्बद्ध भी हो सकता है असम्बद्ध भी । अतः स्पष्ट है कि इस विशेषता से मुक्त होने के कारण व्य जना वृत्ति लक्षणा से सर्वथा अलग है, अतः नैयायिकों द्वारा लक्षणा में उसका अन्तर्भाव किया जाना उचित है ।

व्य जना वृत्ति की परिभाषा में प्रसिद्धा प्रसिद्धार्थ विषयकः वक्त्रादि - वैशिष्ट्य ज्ञान प्रतिभाद्युद्बुद्धः विशेषण का प्रयोग कर आचार्य नागेश व्य जना वृत्ति को अभिधा से पृथक् स्थापित करते हुए व्य जना वृत्ति का अभिधा से अन्तर स्पष्ट करते हैं । क्योंकि हम जानते हैं कि अभिधा वृत्ति प्रसिद्ध अर्थ का बोध कराती है, तथा उसके ज्ञान के लिये वक्ता आदि की विशेषता का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है, जबकि व्य जना शक्ति द्वारा प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध दोनों ही प्रकार का अर्थ बताया जा सकता है साथ ही व्यंग्य अर्थ की प्राप्ति के लिये वक्ता एवं श्रोता आदि के विषय में भी जानना परमावश्यक है अतः अपनी विशेषताओं के कारण व्य जना वृत्ति अभिधा से पृथक सिद्ध होती है ।

आचार्य नागेश के अतिरिक्त भर्तृहरि आदि अन्य वैयाकरण आचार्य भी व्य जनावृत्ति स्वीकार करते हैं । यद्यपि उन्होंने स्पष्टतया व्य जना का उल्लेख नहीं किया, किन्तु उन्होंने निपातों की द्योतकता तथा स्फोट की व्यंग्यता का प्रतिपादन किया है जो यह प्रमाणित करता है कि वे व्यंजना वृत्ति को स्वीकार करते हैं । आचार्य भर्तृहरि ही नहीं वरन् समस्त वैयाकरण आचार्य निपातों को सामान्यतया द्योतक या अभिव्यंजक ही मानते हैं । भर्तृहरि ने निपातों की अर्थ बोधकता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि कुछ निपात अर्थों के द्योतक हैं तथा कुछ पृथक् रूप से अर्थों के वाचक हैं, साथ ही भिन्न-भिन्न अर्थों के लिये प्रयुक्त होते हुए निपातों की अर्थ द्योतकता नष्ट

नहीं होती ।[1] वैयाकरणों की दृष्टि से स्फोट अर्थ का वाचक है तथा वह ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त होता है, अतः स्फोट व्यंग्य है । स्फोट तथा नाद में व्यंग्य एवं व्यंजक बनने की योग्यता विद्यमान है ।[2]

निपातों की द्योतकता तथा स्फोट की व्यंग्यता ये दोनों सिद्धान्त प्रमाणित करते हैं कि उनको स्वीकार करने वाले वैयाकरण आचार्यों को व्यंजना वृत्ति स्वीकार्य है । सम्भव है पाणिनि आदि कुछ प्राचीन आचार्यों ने व्यंजना वृत्ति को शब्द शक्ति को स्वीकार न किया हो किन्तु परवर्ती वैयाकरणों ने स्फोट आदि को स्वीकार करते हुए परोक्षरूप से व्यंजनावृत्ति को ही स्वीकार किया है । अतः यह कहना कि वैयाकरण आचार्यों ने व्यंजना वृत्ति को शब्द शक्ति के रूप में स्वीकार किया है, सर्वथा उचित है ।

<u>व्यंजना वृत्ति की सार्थकता :-</u> वैयाकरण आचार्य नागेश व्यंजना वृत्ति को शब्द शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं । वे नैयायिक आचार्यों द्वारा व्यंजना का अन्तर्भाव, अभिधा, लक्षणा तथा अनुमान में किये जाने का खण्डन करते हैं । वे नैयायिकों की उक्त मान्यता का खण्डन करने के उद्देश्य से ही व्यंजना की परिभाषा में अनेक विशेषणों का प्रयोग करते हुए उक्त वृत्तियों से

1- निपाता द्योतकाः केचित् पृथगर्थाभिधायिनः ।
उपरिष्टात पुरस्ताद्वा द्योतकत्वं न भिद्यते ।
तेषु प्रयुज्यमानेषु भिन्नार्थत्वादि सर्वथा । वाक्य प्रदीप 2·194·195

2- व्यंग्य व्यंजक भावेन तथैव स्फोट - नादयोः । वाक्यपदीय 1·98

व्य जना की पृथक्ता सिद्ध करते हैं । यथा - कोई शिष्य अपने गुरू को संध्या वन्दन आदि का समय सूचित करने के उद्देश्य से ' गतो स्तमर्क: ' वाक्य का प्रयोग करता है । यद्यपि शिष्य को उक्त अर्थ के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ से तात्पर्य नहीं है, परन्तु उक्त वाक्य का श्रवण करने वाली नायिकादि 'अभिसरण करने का समय हो गया' इस व्यंग्यार्थ का ग्रहण कर लेते हैं । इसका बोध वाच्यार्थ के जान लेने पर ही होता है । यहाँ मुख्यार्थ का बाध न होने के कारण लक्षणा द्वारा अर्थ बोध नहीं हो पाता, फलस्वरूप व्य जना ही उक्त अर्थ का बोध करा पाती है । अत: व्य जना का लक्षणा में अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता ।[1] इसी प्रकार अप्रसिद्ध अर्थ का बोध कराने के कारण वह अभिधा शक्ति से भी पृथक सिद्ध होती है । अत: जिस व्यंग्य अर्थ की प्रतीति अभिधा या लक्षणा नहीं करा पाती उसका अर्थ बोध कराने के कारण व्य जना को शब्द वृत्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है ।

1- एवं 'गतो स्तमर्क' इत्यादे: शिष्येण सन्ध्यावन्दनादे:
कर्तव्यत्व्यस्त्वामि प्रायेण गुरुं प्रति प्रयुक्ता द्वक्तृतात्पर्याभावे पि
प्रतिवेश्यदीनामभि सरणाद्युद्यमादिबोधस्य वाच्यार्थ प्रतीतिपूर्वकस्य
वाच्यार्थबाधज्ञाने जायमानस्य लक्षणयोपपादयितुमशक्यत्वाच्च । वैयाकरण सिद्धान्त म जूषा

शक्ति ज्ञान के उपाय :- शब्द-श्रवणानन्तर शक्तिज्ञान के माध्यम से अर्थ का स्मरण होता है । क्योंकि किसी भी सम्बन्ध के एक सम्बन्धी का ज्ञान होने पर अपर सम्बन्धी का स्मरण अनायास ही हो जाता है । किसी की पुस्तक देख कर पुस्तक के स्वमी की याद आ जाती है क्यों कि पुस्तक और पुस्तक वाले ये दोनों ही एक 'स्वत्व' सम्बन्ध के सम्बन्धी होते हैं ।

भारतीय आचार्यों ने शक्तिज्ञान के आठ साधन माने हैं ।[1] इनमें से कोई भी एक साधन शब्द की शक्ति का ग्रहण कराता है । ये आठ साधन हैं -

(1) व्याकरण
(2) उपमान
(3) कोष
(4) आप्तवाक्य
(5) व्यवहार
(6) वाक्यशेष (प्रकरण)
(7) विवरण
(8) सिद्धपद सान्निध्य (ज्ञात पद के साहचर्य से)

(1) व्याकरण :- व्याकरण से पद-शक्ति का ज्ञान वहाँ होता है जहाँ वाक्य में यौगिक पदों का समावेश होता है । क्योंकि वाक्य में प्रयुक्त पद के सुप्, तिङ् प्रत्यय, धातु प्रकृति आदि व्याकरणिक प्रयोगों का शक्तिग्रह 'व्याकरण' के द्वारा ही होता है ।[2] धातु प्रत्यय, निपातादि का पृथक्-पृथक् क्या अर्थ है यह व्याकरण ही बताता है ।

1-(अ) शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्यशेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्यपि वृद्धाः । न्या॰सि॰मु॰
(ब) संकेतस्य ग्रहः पूर्वं वृद्धस्य व्यवहारतः
पश्चादेवोपमानाद्यैः शक्तिधीपूर्विकस्तौ ।। (श॰श॰ प्रका॰ श्लोक 20)

व्याकरण द्वारा उद्घाटित व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही शब्द का प्रचलित अर्थ हो यह आवश्यक नहीं है । लोक व्यवहार में कभी शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही प्रयुक्त होता है और कभी अन्य अर्थ । अतएव पाणिनि ने इस विषय में लोक प्रसिद्धि और लोक व्यवहार को मुख्य साधन बताया है । अर्थात् शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ एवं लोक व्यवहार में प्रचलित अर्थ में विभिन्नता होने पर लोक प्रचलित अर्थ ही ग्रहण किया जायेगा ।[1]

2- उपमान :- उपमान द्वारा अज्ञात अर्थ वाले शब्दों का ज्ञान सादृश्य के आधार पर कराया जाता है ।[2] गो शब्द का अर्थ ज्ञात होने पर 'गवय' शब्द के अर्थ की जिज्ञासा होने पर 'गोसदृश: गवय:' (गौ के समान गवय होता है) के द्वारा गो के सदृश पशु का ज्ञान होता है । जिसके फलस्वरूप गवय (नीलगाय) से अनभिज्ञ व्यक्ति गौ की जानकारी रखने मात्र से ही दोनों में ज्ञात साम्य के आधार पर गवय (नीलगाय) का ज्ञान प्राप्त कर लेता है ।[3] यद्यपि उपमान के द्वारा निश्चित और तात्त्विक अर्थ का ज्ञान नहीं होता तथापि अप्रत्यक्ष वस्तु का बोध उपमान के द्वारा सामान्य रूप से हो जाता है ।

3- कोश :- कोश से शक्ति का ज्ञान उन वाक्यों में होता है जिनमें किसी 'रूढ़' पद का समावेश होता है । यौगिक शब्द भी कालान्तर में अपने अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं और कोश में स्थान पा लेते हैं । यथा - 'विष्णु' शब्द का

1- योग प्रमाणे च तदभावे दर्शनं स्यात् ।
प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्य प्रमाणत्वात् । (अष्टा0- - - - -)

2- उपमितिकरणमुपमानम् । - - - - - ,तत्करणं सादृश्यज्ञानम् । तर्कसंग्रह ।8।

3-(अ) गवादिपदशक्तिधीसाचिव्येन गोसादृश्यातिदेशवाक्यात् गवय पद वाच्यत्वबोधोत्तरं गवयत्वजात्यवच्छिन्ने गोसादृश्यग्रहात् गवयो गवयपदवाच्य इत्याकार: ।
(श०श०प्र० ।06)

(ब) कश्चिद्गवय पदार्थमजानन् कुतश्चिदारण्यकपुरुषात् - "गो सदृशो गवय " इति श्रुत्वा वनं गतो वाक्या र्थं स्मरन् गोसदृशं पिण्डं पश्यति तदनन्तरमसौ गवयशब्दवाच्य इत्युपमितिरुत्पद्यते (त०सं०पृ० ।8। - ।82)

यौगिक अर्थ होता है 'व्यापक' किन्तु 'विष्णुर्नारायण: कृष्णो' इस अमरकोश में परिगणित होने के कारण यह शब्द चतुर्भुज शेषशय्याशायी लक्ष्मीपति को समझाता है । इसी अर्थ में रूढ़ होकर 'विष्णु' शब्द आज लोक व्यवहार में प्रचलित है । इसी प्रकार किसी भी भाषा के कोश में आ जाने वाले शब्द उस कोष प्रतिपादित अर्थ में 'रूढ़' हो जाया करते हैं और लोक में उस शब्द के श्रवण मात्र से उस अर्थ को समझ लिया जाता है । अत: कोष से भी शब्द - शक्ति का ज्ञान होता है ।

वस्तुत: अज्ञात अर्थों वाले शब्दों के अर्थों के ज्ञान के लिये कोशों की आवश्यकता होती है । कोश ग्रन्थ शब्दों के पर्यायवाची देकर उनके अर्थ स्पष्ट करते हैं । आग्डेन रिचर्ड्स ने कोश की उपयोगिता के विषय में लिखा है कि कोश यह बताता है कि "ऐसी ऐसी अवस्था में इस शब्द का इस शब्द के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है ।"[1] कोश शब्दों के अर्थों के संग्रह है अत: उनमें एक-एक शब्द के अनेक अर्थ दिये होते हैं । उनमें से कौन अर्थ किस स्थान पर लिया जायेगा, कौन से अर्थ विशेष प्रचलित हैं और कौन से अल्पप्रचलित या अप्रचलित हैं । इसका निर्णय लोक व्यवहार और प्रकरण आदि के आधार पर किया जाता है ।

4- आप्त वाक्य :- आप्त पुरूषों के वाक्यों से भी शक्तिज्ञान होता है । महर्षि पतंजलि ने 'आप्त' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए चरक संहिता में बताया है कि जो अपने अनुभव के द्वारा वस्तुगत तत्वों को सब तरह से निश्चय करने वाला तथा रागादिवशीभूत होकर भी असत्यवादी नहीं हैं,

---

1- आप्तो नामानुभवेन वस्तुतत्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान्

रागादिपशादपि नान्यथावादी य: स इति चरके पतंजलि: । प०ल०म० ।5

वे ही आप्त हैं" भाष्यकार वात्स्यायन ने "आप्तोपदेशः: शब्दः" सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है - "जिस वस्तु या तथ्य को जिस रूप में देखा या सुना जाय, उसे उसी रूप में प्रकट करने की अभिलाषा से प्रेरित व्यक्ति आप्त है ।"[1]

सामान्यतः आप्त का अर्थ है - विश्वास योग्य व्यक्ति, सत्य वक्ता ।[2] बालक माता पिता आदि के बताये अर्थ का सत्य मानकर स्वीकार करलेता है । वे लोग जिस जिस वस्तु के लिये जिस जिस शब्द से संकेत करके बतलाते हैं, उसको बालक उसी रूप में स्वीकार करके तदनुसार प्रयोग करता है । अर्थज्ञान में आप्त वचन बहुत ही महत्वपूर्ण साधन है, बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक आप्त वचन को प्रमाण मानकर ही अर्थ का ज्ञान किया जाता है । न्यायसूत्रकार गौतम का कथन है कि "आप्तोपदेश के सामर्थ्य से शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है ।"[3] वात्स्यायन ने लिखा है कि ऐसे अर्थ जिनको कि हम प्रत्यक्षतः नहीं देख पाते हैं यथा - स्वर्ग, अप्सरा, देवता आदि इनका ज्ञान केवल शब्द सत्ता से नहीं, अपितु आप्तो के कथन से ही होता है । आत्मा, मन, काल आदि का अर्थ आप्त पुरूषों के उपदेश से ही जाना जाता है । आप्त व्यक्ति इनका जो कुछ वर्णन करते हैं, वही अर्थ ग्राह्य होता है । § वा0 प0 2·144 § सिद्धान्तमुक्तावलीकार इसका उदाहरणविक शब्द देते हैं, जहाँ आप्त वाक्य के कारण 'कोयल' में संकेतग्रह होता है ।[4]

1- आप्तोनाम यथादृष्टस्य अर्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा । तस्य शब्दः । न्या0 सू0 भाष्य

2- आप्तस्तु यथार्थवक्ता । § त0स0पृ0 185 §

3- आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसम्प्रत्ययः । §न्या0 सू0 2,1,52 §

4- यथा कोकिलः पिकपदवाच्यः इत्यादि शब्दात् पिकादिपदानां कोकिले शक्ति ग्रहः । सि0 मु0

5- **लोक व्यवहार :-** लोक व्यवहार शक्ति ज्ञान का प्रमुख साधन है । पाणिनि का इस विषय में मन्तव्य है कि लोक व्यवहार से ही अर्थज्ञान होता है ।[1] काशिकाकार वामन जयादित्य ने पाणिनि के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शास्त्र की अपेक्षा अन्य होने से लोक को पाणिनि ने 'अन्य' नाम दिया है । शब्दों में अर्थ बोधकता स्वभाव सिद्ध है - लोकव्यवहार से उस अर्थ का ज्ञान होता है । अतएव पाणिनि ने लोकव्यवहार को अर्थज्ञान का साधन मानकर अपने से प्राचीन आचार्यों के कतिपय नियमों को अनावश्यक मानकर उनका प्रत्याख्यान कर दिया है ।[2]

बालक को सर्वप्रथम ज्ञान लोकव्यवहार या वृद्ध व्यवहार से होता है । वह आवाप और उद्वाप तथा अन्वय व्यतिरेक की पद्धति से वृद्धों के व्यवहार से अर्थ को समझता है । अव का अर्थ है - वाक्य में नए शब्द का सम्मिश्रण तथा उद्वाप का अर्थ है - विद्यमान पद वा त्याग अर्थात् जो पद वाक्य में हैं उसमें से उसका पृथक्करण यथा - प्रयोजक वृद्ध ने 'घट मानय' ऐसा कहा, जिसे सुनकर प्रयोज्य वृद्ध ने घड़ा ला दिया । उन दोनों के इस व्यवहार को देखकर पास में बैठा बालक यह निश्चय करता है कि 'घड़ा ले आना' रूप कार्य 'घटमानय' इस शब्द से प्रयोज्य है । तदनन्तर "घटंनय, गामा नय" (घड़ा ले जाओ, गाय ले आओ) इत्यादि वाक्य से आवाय उद्वाय के द्वारा घटादियरो की कार्यान्वित घटादि में शक्ति मानता है ।[3]

1- प्रधानप्रत्ययार्थवचन मर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् । अष्टा० 1,2,56

2- लोकतः स्वार्थगतेः । यश्च लोकतोऽर्थः सिद्धः किं तत्र यत्नेन । काशिका,1,2,56

3- यथा प्रयोजकवृद्धेन- - - - - - गृह्जाति |- सि॰ मु॰

शब्दशक्ति प्रकाशिकाकार जगदीश तर्कालंकार का कथन है कि किस शब्द का क्या अर्थ है इस संकेत का ज्ञान सबसे प्रथम वृद्ध व्यवहार से होता है, अन्यउपमान आदि साधनों से शक्तिज्ञान बाद में होता है ।[1]

वाक्यशेष :- वाक्यशेष से भी शक्तिज्ञान होता है । जहाँ पर एक शब्द के उनके अर्थ होने से अर्थ संदिग्ध हो जाता है, वहाँ पर वाक्यशेष अर्थात प्रकरण द्वारा अर्थ का ज्ञान किया जाता है । यथा - यव शब्द का प्रयोग आर्य लोग जौ के लिये और म्लेच्छ लोग 'कंगुनी' नामक धान्य के लिये करते हैं । इसलिये जब यह कहा जाता है कि 'यवमयश्चरूर्भवति' (चरू यवनिर्मित होता है), तब सन्देह होता है कि कौन सा अर्थ लिया जायेगा । ऐसी स्थिति में प्रकरण देखकर ही अर्थ का ज्ञान हो पाता है । यहाँ प्रकरण को देखते हुए ज्ञात होता है कियवा 'यव' शब्द का अर्थ 'जौ' ही होता है । क्योंकि वसन्त में जौ ही हराभरा रहता है ,[2] कंगुनी नहीं । स्पष्ट है कि वाक्यशेष भी समय-समय पर अर्थ ज्ञान में सहायक होता है ।

7- विवरण :- विवरण द्वारा भी अज्ञात शब्द के अर्थ की प्राप्ति संभव होती है । विवरण में अज्ञात अर्थ वाले शब्द का अर्थ ज्ञान कराने के लिये उस अज्ञात अर्थ वाले शब्द के स्थान पर उसके समानार्थी ज्ञात अर्थ वाले शब्द को रख कर अर्थ ज्ञान कराया जाता है ।[3] यथा - 'पचति' का अर्थ स्पष्ट करने के लिये 'पाकं करोति (पकाता है) कहने से 'पचति' के अर्थ का ज्ञान हो जाता है 'गो' शब्द का बोध कराने के लिये सास्ना लांगूल ककुद खुर सींग से युक्त पशु

1- संकेतस्य ग्रहः पूर्वं वृद्धस्य व्यवहारितः ।
पश्चादेवोपमानाद्यैः शक्तिधीः पूर्वं करै सौ ।। (श॰श॰प्र॰ श्लोक 20

2- वसन्ते सर्वसस्यानां जायते पत्रशातनम् ।
मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवः कणिशशालिनः (सि॰ मु॰ शी॰ल॰प्र॰)

3- विवरणंतु तत्समानार्थकपदान्तरेण तदर्थकथनम् । (सि॰ मु॰) "

४- <u>सिद्धपद सान्निध्य</u> :- ज्ञात पद के साहचर्य से भी शब्द के अर्थ का ज्ञान हो जाता है । यथा "इहसहकारतरौ मधुरं पिको रौति " ﴾इस आम्र के वृक्ष पर कोयल मधुर शब्द कर रही है﴿, इस वाक्य में अन्य शब्दों का अर्थ ज्ञात हो तो 'पिक' शब्द का अर्थ अन्य ज्ञात शब्दों के साहचर्य से 'कोकिल पक्षी' ज्ञात हो जाता है ।

पद का अर्थ जाति है या व्यक्ति

भारतीय दार्शनिकों में पद के अर्थ के स्वरूप को लेकर पर्याप्त मत विभिन्नता है। वक्ता द्वारा उच्चरित शब्द किस रूप में अर्थ को अभिव्यक्ति करता है विवाद का विषय बना हुआ है। जब हम किसी से 'घटमानय' कहते हैं तो इस वाक्य में प्रयुक्त 'घटम' पद किस अर्थ की प्रतीति कराता है ? वह हमारे अभिप्रेत 'घट' विशेष को बोध कराता है या घटत्व जाति का ? 'घटम्' शब्द के सम्भावित यह दोनों अर्थ दो सिद्धान्तों को जन्म देते हैं -

§1§ व्यक्तिवाद

§2§ जातिवाद ।

व्यक्तिवाद सिद्धान्त के समर्थक नैयायिक हैं जिनकी मान्यता है कि शब्द 'व्यक्ति' रूप में अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। किन्तु मीमांसक आचार्य जाति शक्तिवाद की स्थापना करते हैं। एक ओर जहाँ नैयायिक और मीमांसक क्रमशः व्यक्तिशक्तिवाद एवं जातिशक्तिवाद सिद्धान्त की स्थापना करते हैं वहीं दूसरी ओर वैयाकरण दोनों सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित कर पद का अर्थ उपाधि §जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य§ मानते हैं।

मीमांसकों का मत§जातिवाद§ :- मीमांसक आचार्यों की मान्यता है कि पदों का संकेत जाति में ही होता है, व्यक्ति में नहीं ।[1] 'गो' पद का अभिप्रेत 'गो' में पाई जाने वाली ज्योति 'गोत्व' जाति है न कि गौ विशेष अर्थात् काली या लाल गाय । यदि गौ पद का अर्थ 'गो' व्यक्ति मानेंगे तो

1- मीमांसकास्तु गवादिपदानां जातिरेव वाच्या, न तु व्यक्तिः - शक्तिवाद परिशिष्ट काण्ड पृ॰ 195

अनेक गो व्यक्तियों के बोध के लिये अनेक गो पदों में शक्ति माननी पड़ेगी । एक ही गो पद में शक्ति मानकर अन्य गो पदों से बिना शक्ति के अर्थ बोध नहीं कराया जा सकता है । यदि यह कहा जाय कि बिना शक्ति के ही अर्थ बोध होगा तो गो पद से अश्व पद का अर्थ बोध होने लगेगा और 'गाय लाओ' कहने पर 'अश्व लाकर खड़ा कर दिया जायेगा' । ऐसी स्थिति से बचने के लिये जाति में ही शक्ति मानना उचित है जाति में शक्ति मानने पर एक गो शब्द से सम्पूर्ण गो जाति का बोध हो जायेगा । इसलिये पद का अर्थ जाति है व्यक्ति नहीं ।

जहाँ तक व्यवहार में व्यक्ति के ज्ञान का प्रश्न है तो व्यक्ति विशेष का ज्ञान आक्षेप {अनुमान या अर्थापत्ति} प्रमाण या अन्वय की अनुपपत्ति होने से लक्षणा द्वारा होता है । यथा - 'गाम् आनय' इस वाक्य में 'गो' शब्द जाति का वाचक है और गोत्व जाति का आनयन सम्भव नहीं है अतः अन्वय की अनुपपत्ति होने से लक्षणा द्वारा गोत्व विशिष्ट गो व्यक्ति का बोध होता है । इसी प्रकार जैसे हम धुंए को देखकर उसके साहचर्य सम्बन्ध के कारण आग का अनुमान कर लेते हैं वैसे ही जहाँ जहाँ घटत्व { जाति } है, वहाँ वहाँ घड़ा {व्यक्ति} है; जहाँ घड़ा नहीं है वहाँ घटत्व भी नहीं है, जैसे - कपड़े में ।[1] स्पष्ट है कि मीमांसक पद का अर्थ जाति स्वीकार करते हैं और उसमें व्यक्ति का ग्रहण आक्षेप से करते हैं ।

जैमिनि का मत :- मीमांसक आचार्य जैमिनि ने मीमांसा सूत्र में व्यक्तिवाद का खण्डन करते हुये जातिवाद या आकृतिवाद की स्थापना की है । उनका कथन है कि प्रयोग और क्रिया को देखकर अर्थ की एकता को मानना पड़ता है । उनकी मान्यता है कि शब्द का अर्थ जाति है क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों में भी जपति अविभक्त रूप से रहती है, कभी भी शब्द का प्रयोग द्रव्य को मानकर

1- "यत्र यत्र घटत्वं, तत्र तत्र घटः, यत्र घटो न, तत्र घटत्वं अपि न, यथा पटे "

नहीं होता । एक ही शब्द अनेक व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त होता है । अत: शब्द का अर्थ जाति ही है व्यक्ति नहीं । फिर जाति और व्यक्ति दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है । व्यक्तियों में जाति रहती है और जाति में व्यक्ति रहता है ।

{2} <u>पार्थ सारथि मिश्र का मत :-</u> मीमांसकाचार्य पार्थ सारथि मिश्र का मत है कि पद सर्वप्रथम जाति रूप अर्थ की ही अभिव्यक्ति करता है तत्पश्चात् जाति आपने आप में किसी व्यक्ति विशेष का आरोप कर लेती है ।[1] शब्द वस्तुत: जाति का ही वाचक है तथा उसी का बोध कराता है वह व्यक्ति का बोध कराने में सक्षम नहीं है । शब्द जपति का ही वरचक है तथा उसी का बोध कराता है । किन्तु जाति और व्यक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण जाति ही व्यक्ति का बोध करा देती है ।[2]

{3} <u>कुमारिल का मत :-</u> आचार्य कुमारिल की यह मान्यता है कि पद से अर्थ रूप में सर्वप्रथम जाति ही उपलब्ध होती है बाद में उससे व्यक्ति का ज्ञान आक्षेप से हो जाता है ।[3] गदाधर ने शक्तिवाद में कुमारिल के मत का वर्णन करते हुए लिखा है कि पद से व्यक्ति के स्मरण का अनुभव नहीं होता है अपितु आक्षेप से ही व्यक्ति का ज्ञान होता है, और यह आक्षेप करने वाली जाति ही है । आक्षेप अनुमान या अर्थापत्ति का विषय है ।[4]

1- व्यक्ति प्रतीतिरस्माकं जातिरेवतुशब्दत: ।
प्रथमावगता पश्चाद् व्यक्तिंर्यां कांचिदादिक्षिपेत् ।। न्याय रत्नमाला, वा.नि.का 538 पृ• 99

2- तस्माज्जात्यभिधायित्वाच्छन्दस्तामेव बोधयेत् ।
सा तु शब्देन विज्ञाता पश्चात् व्यक्तिं प्रवोधयेत् ।। {न्या• - का 5•41 पृ•100 }

3- भट्टमते तु जातिरेवशब्दा लाघवात्, व्यक्तिस्त्वाक्षेपलभ्या । {तत्व•पृ• 578}

4- अथ भाट्टा:-पदान्नव्यक्ते: स्मरणमनुभवो वा किं त्वाक्षेपादेव व्यक्तिधी:,
आक्षेपिका च जातिरेव । आक्षेपश्चानुमानमर्था - पत्तिर्वा । {शक्तिवाद प•का• पृ• 207 }

उल्लेखनीय है कि मीमांसक अर्थापत्ति को पृथक प्रमाण मानते हैं। हरिहरनाथ ने शक्तिवाद की व्याख्या में अर्थापत्ति का प्रसिद्ध उदाहरण देकर इसे स्पष्ट किया है। यथा - "पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" (मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता है) वाक्य से अर्थापत्ति अर्थ (अर्थात् औचित्य के आधार पर आपत्ति) यह जाना जाता है कि मोटा देवदत्त रात्रि में भोजन करता है। इसी प्रकार शब्द से जाति का बोध होता है और अर्थापत्ति से व्यक्ति का ज्ञान होता है।

(4) प्रभाकर का मत: - प्रभाकर के मत से भी पद का अर्थ जाति ही होता है। किन्तु व्यक्ति ज्ञान के सन्दर्भ में वे अन्य मीमांसकों की भाँति आक्षेप उपादान या लक्षणा नहीं मानते। उनके मतानुसार शब्द से जाति में शक्ति का ज्ञान होता है। उस ज्ञान से जाति का विशेषण मानकर व्यक्ति का स्मरण होता है और व्यक्ति के विषय में शाब्द बोध होता है। विकल्प से रहित जाति का स्मरण नहीं होता है, क्योंकि निर्विकल्प का ज्ञान संभव नहीं है। जब कोई व्यक्ति 'गाय जाती है' यह कहता है तो श्रोता कोरी निर्विकल्पक जाति का ज्ञान नहीं होता। व्यक्ति के बिना विषय बनाये हुये गाय आदि जाति का ज्ञान असम्भव है। अतः गाय जाति का उद्बोधक शब्द ही गाय व्यक्ति का भी उद्बोधक है।[1] इसलिये यह मानना पड़ेगा कि व्यक्ति के सम्बन्ध ज्ञान का स्मरण भी जाति के साथ ही साथ ठीक उसी क्षण हो जाता है जब पद का श्रावण प्रत्यक्ष होता है।

1-(अ) प्राभाकरास्तु - जातिशक्तिज्ञानादेव जाति प्रकारेण व्यक्तेः स्मरणं शाब्द बोधश्च, न तु निर्विकल्पक रूपं जातिस्मरणं, निर्विकल्पकानभ्युपगमात्। शक्तिवाद पृ॰10 का पृ॰216

(ब) न चैवं जातेरिव व्यक्तेरपि शक्यत्वमावश्यकम्, न हि गवादिपदस्य शक्यत्वं जन्य समपि तु जन्यशाब्दधीविषयत्व, तच्च गोत्वस्यैव गोरप्य विशिष्ट मिति वाच्यम्। (श॰श॰प्र॰पृ॰ 91)

§5§ श्रीकर का मत :- आचार्य श्रीकर भी शब्द का अर्थ जाति ही मानते हैं । उनके अनुसार जातिवाचक गवादिपद का संकेत तो जाति §गो जाति § में ही होता है किन्तु उपादान से व्यक्ति बोध हो जाता है । क्योंकि जाति व्यक्ति रूपी उपादान के बिना नहीं रह सकती । अतः वे व्यक्ति बोध उपादान जनित §औपादातिक§ मानते हैं ।[1]

§6§ मण्डन मिश्र का मत :- आचार्य मण्डन मिश्र की मान्यता है कि सर्वप्रथम शब्द से जाति की उपलब्धि होती है फिर उसके माध्यम से लक्षणा से व्यक्ति का भी बोध हो जाता है । व्यक्ति का यह बोध शब्द के द्वारा ही होता है, आक्षेप आदि के द्वारा नहीं । व्यक्ति का शब्द से बोध होने में व्यक्ति में शक्ति का अभाव का ही विलक्षण कारण नहीं होता है, क्यों कि लक्षणा शक्ति के द्वारा व्यक्ति में भी शाब्द बोध की सिद्धि हो जाती है । यथा - "गाय पैदा होती है गाय मरती है " इस प्रकार सभी स्थानों पर 'गाय' पद सर्वप्रथम गोत्व जाति का बोध कराता है । इसके बाद लक्षणा के द्वारा यही शब्द गो-जाति वाले गो विशेष का बोध करा देता है । व्यक्तियों के अनेक होने के कारण व्यक्ति अर्थ मानने में दोष आ जाता है ।साथ ही शब्द के मात्र जाति अर्थ से भी शाब्द बोध नहीं होता । अतः लक्षणा के द्वारा ही व्यक्ति का बोध मानना होगा ।[2] इसी तथ्य को मण्डन मिश्र ने अपनी प्रसिद्ध कारिका में कहा है -

---

1-§अ§ श्रीकारस्तु जातिशक्ति पदात् जातेरुभव: शाब्दो व्यक्ते रोपादानिक: अशक्यत्वादिति । §श०वाद प०का० पृ 2।। §

§ब§ एतेन जातिवाचकपदाज्जातिबोध: शाब्द: व्यक्तिबोध स्त्वौपादानिक एवेति श्रीकरमतमनुपादेयम् । वही

2- गौर्जायते गौर्नश्यति इत्यादौ सर्वत्र गोत्वादिजातिशक्तेनैव गवादिपदेन लक्षणया गोत्वादिविशिष्टा व्यक्तिर्बोध्यते, व्यक्तीनां बहुत्वेनान्यलभ्यत्वेन च तत्र शक्तेर कल्पनात् तात्पर्यानुपपत्तेरपि लक्षणायां वीजत्वात् । §शब्द श०प्रका० पृ० 87 §

वक्ता जब गो के अस्तित्व या अनस्तित्व का उल्लेख करता है तो उसका अभिप्राय वहाँ गो जाति की सत्ता या अभाव से नहीं है । वस्तुतः जाति तो नित्य है अतः उसके अस्तित्व या अनस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता । ये अस्तित्व तथा अनस्तित्व व्यक्ति के ही विशेषण है जो उस जातिगत संकेत के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं ।[1]

<u>नैयायिकों का मत - (व्यक्ति शक्तिवाद)</u> व्यक्तिशक्तिवादी आचार्यों का मत है कि पद सदैव व्यक्ति का बोध कराता है । गाम् आनय आदि वाक्यों में गो पद का अर्थ - गौ व्यक्ति ही है न कि गोत्व जाति । क्योंकि आनयन व्यक्ति का ही हो सकता है जाति का नहीं । नैयायिकों की मान्यता है कि पद का अर्थ व्यक्ति होता है किन्तु वह व्यक्ति जाति विशिष्ट होता है । पद द्वारा जाति विशिष्ट व्यक्ति का ही बोध होता है ।[2]

(1) <u>गौतम का मत :-</u> 'न्याय सूत्र' के प्रणेता महर्षि गौतम ने पद का अर्थ जाति, आकृति और व्यक्ति तीनों को ही स्वीकार किया है । उनकी मान्यता है कि किसी पद का अर्थ वस्तुतः व्यक्ति आकृति तथा जाति सभी में है ।[3] नैयायिकों के मत में व्यक्ति तथा आकृति में कोई विशेष भेद नहीं है । इन तीनों में से किसी एक में भी शक्ति का तिरस्कार नहीं किया जा सकता है ।

1- जातेरस्तित्व नास्तित्वे न हि कश्चिद् विवक्षति ।
नित्यत्वाल्लक्ष्यमाणाया व्यक्तेस्ते हि विशेषणे ।। ग॰कि॰शा॰श॰प्र॰पृ॰ 87

2- गवादि व्यक्तिनिष्ठ विशेष्यता निरूपित विषयत्वमित्यर्थः ।

3- व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः । (न्यायसूत्र 2 । 2 । 63

{2} जगदीश भट्ट :- जगदीश तर्कालंकार पद का अर्थ जाति विशिष्ट व्यक्ति मानते हैं । यदि केवल जाति ही अर्थ माना जायेगा तो व्यक्ति का ज्ञान प्राप्त करना दुष्कर हो जायेगा ।[1] वस्तुत: पद का प्रयोग जाति से युक्त व्यक्ति के लिये ही होता है । जाति विशिष्ट व्यक्ति में संकेत वाले शब्द को नैमित्ति की संज्ञा से अभिहित किया जाता है । यथा - गाय के लिये 'गौ:' शब्द का प्रयोग और किसी लड़के के लिये 'देवदत्त' का प्रयोग । जब कभी यह नैमित्तिकी संज्ञा उन-उन पदार्थों का बोध करायेगी तो वह बोध जाति विशिष्ट व्यक्ति रूप का ही होगा । यहाँ पर 'गौ:' पद गौत्व जाति विशिष्ट गो विशेष {गौव्यक्ति} का बोध करायेगा तथा 'देवदत्त' पद 'देवदत्तत्व' से विशिष्ट देवदत्त व्यक्ति का बोध करायेगा । यदि यह कहा जाय कि पद जाति और व्यक्ति दोनो का बोध करायेगा तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि शब्द बुद्धि तथा कर्म का व्यापार केवल एक क्षण तक रहता है । अत: शब्द का अर्थ जाति विशिष्ट व्यक्ति में ही मानना संगत है ।[2]

{3} गदाधर भट्ट :- गदाधर भट्ट ने महर्षि गौतम के सूत्र व्यक्त्याकृति जातयस्तु पदार्थ: । 2 । 2 । 63 को आधार मानकर पद से जाति आकृति और व्यक्ति अर्थों का संकेत मानते हैं । उनका कहना है कि गाय आदि शब्दों से उसमें आकार विशेष का ज्ञान अनुभव सिद्ध है । आकार भी जाति के सदृश शब्द वाच्य है । यद्यपि आकार वाच्य है परन्तु शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त नहीं है । क्योंकि साक्षात् सम्बन्ध वाच्य रूप वृत्ति का उसमें अभाव है । गाय आदि

1- जात्यवच्छिन्न संकेतवती नैमित्तिकी मता ।
   जातिमात्रे हि संकेताद् व्यक्तेर्भानं सुदुष्करम् ।। {शब्द शक्ति प्र० का 19 पृ० 79

2- यन्नाम जात्यवच्छिन्नसंकेतवत् सा नैमित्तिकी संज्ञा यथा गौचैत्रादि: ।
   सा हि गोत्वचैत्रत्वादिजात्यवच्छिन्नमेव गवादिकमभिधत्ते न तु गोत्वादि जातिमात्रम्, गोपदं गोत्वे संकेतितमित्याकारकग्रहाद् गामानयेत्यादौ गोत्वादिना गवादेरन्वमानु भवानुपपत्ते: एकशक्तत्व - ग्रहस्यानुभावकत्वेऽतिप्रसंगात् । श०श०प्रका० पृ० 79 - 80

कहने पर गाय आदि के ज्ञान में साक्षात् जाति और आकृति दोनों प्रकार का ज्ञान अनुभव सिद्ध है । जाति और आकार से युक्त व्यक्ति में शक्ति एक ही रहती है । अत: गौतम मुनि ने अपने सूत्र में पदार्थ शब्द का एक वचनान्त ही प्रयोग किया है ।

(4) जयन्त भट्ट :- न्यायमंजरीकार जयन्त भट्ट की मान्यता है कि महर्षि गौतम के 'व्यक्त्याकृतजातयस्तु पदार्थ:' सूत्र में प्रयुक्त तु शब्द विशेषण अर्थ की अभिव्यक्ति करता है । जाति और आकृति से विशिष्ट व्यक्ति प्रधान होने पर भी कहीं पर जाति की प्रधानता रहती है और व्यक्ति गौण हो जाता है । कहीं पर व्यक्ति प्रधान हो जाता है और जाति गौण हो जाती है । यथा - 'गौर्न पदा स्प्रष्टव्या' गाय को पैर से न छूना चाहिये वाक्य में 'गौ' पद का अर्थ गोत्व जाति है वही प्रधान है व्यक्ति गौण है । इसी प्रकार गां मुंच गाय को छोड़ दो वाक्य में निश्चित गाय को लक्ष्य में रखकर छोड़ने के लिये कहा जाता है अत: यहां व्यक्ति प्रधान है और जाति गौण है । स्पष्ट है कि कहीं व्यक्ति प्रधान होता है जाति गौण और कहीं जाति प्रधान होती है और व्यक्ति गौण । शब्द से दोनों की ही अभिव्यक्ति होती है । आचार्य जयन्त शब्द से आकार को भी अभिव्यक्ति मानते हैं किन्तु व्यक्ति और आकार में कोई ठोस भेद न होने के कारण उसी में उसका अन्तर्भाव हो जाता है ।

(5) विश्वनाथ पञ्चानन :- आचार्य विश्वनाथ प चानन पद में जाति एवं व्यक्ति दोनों ही अर्थों की उपस्थिति स्वीकार करते हैं । यदि पद का अर्थ जाति ही जाना जाय तो जाति एवं पद का ही सम्बन्ध ग्रह होगा और पद ज्ञानाधीन जातिरूप अर्थ की ही उपस्थिति होगी, व्यक्ति की नहीं । इसलिये शक्ति ज्ञान न होने के कारण व्यक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता । पदजन्य व्यक्ति

की उपस्थिति न होने के कारण व्यक्ति का बोध सम्भव नहीं है । अतः पद में अर्थरूप में जाति और व्यक्ति दोनों को ही मानना परमावश्यक है ।[1]

वैयाकरणों का मत :- वैयाकरण आचार्यों में पद या शब्द के अर्थ को लेकर पर्याप्त मत वैविध्य है । कुछ वैयाकरणाचार्य पद का अर्थ जाति मा मानते हैं तो कुछ व्यक्ति । इससे भी आगे जाकर कुछ आचार्य जाति और व्यक्ति मे समन्वय स्थापित कर इन दोनों में ही पद या शब्द की शक्ति स्वीकार करते हैं । साथ ही वैयाकरण आचार्यों की परम्परा यह मानती है कि जब हम किसी पद या शब्द का अर्थबोध करते हैं तो केवल जाति या व्यक्ति का बोध न होकर उसके जाति, गुण, क्रिया तथा व्यक्ति चारों का बोध होता है । अतः इन चारों के सम्मिलित तत्व ॥उपाधि॥ ही पद या शब्द का अर्थ मानना उचित है ।

॥1॥ पाणिनि :- महर्षि पाणिनि पद का अर्थ जाति और व्यक्ति दोनों को ही स्वीकार करते हैं । उन्होंने पद का अर्थ जाति और व्यक्ति दोनों को ही स्वीकार करते हुए सूत्रों की रचना की है । उन्होंने जाति को पदार्थ मानकर जात्याख्यायाम्० ॥अष्टा० 1,2,58॥ तथा व्यक्ति को पदार्थ मानकर सरूपा सरूपाणामेव शेषेष एक विभक्तौ ॥ अष्टा० 1,2,64॥ सूत्रों की रचना को ही महर्षि पतञ्जलि ने पाणिनि के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वे पद का अर्थ जाति और व्यक्ति दोनों को ही मानते हैं और इसी मान्यता के आधार पर ही उन्होंने सूत्रों की रचना की है ।[2]

1- व्यक्तिं विना जातिभानस्यासम्भवाद् व्यक्तेरपि मान्यमिति केचित ।
तन्न शक्तिं विना व्यक्तिभानाऽनुपपत्तेः । न्याय॰ सि॰ मु॰

2- किं पुनराकृतिः पदार्थः आहोस्विद् द्रव्यम् ? उभयमित्याह ।
उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि । महा. आ. ।

§2§ **वाजप्यायन :-** महाभाष्यकार पतंजलि तथा वार्तिककार कात्यायन ने अपने - अपने ग्रन्थों में आचार्य वाजप्यायन का उल्लेख विशेष रूप से किया है । महर्षि पतंजलि स्पष्ट करते हैं कि आचार्य वाजप्यायन शब्द या पद का अर्थ जाति या आकृति मानते हैं ।[1] आचार्य वाजप्यायन के अनुसार शब्द का अर्थ जाति है, शब्द के द्वारा जाति का ही बोध कराया जाता है । 'गौ' शब्द से गाय जाति का ही बोध होता है । धर्मशास्त्र की विधि जाति को ही पदार्थ मानती है । 'ब्राह्मण का वध नहीं करना चाहिये' आदि आदेशों से ब्राह्मण मात्र की हत्या वर्जित है । यदि द्रव्य को पदार्थ मानते तो एक ब्राह्मण की हत्या न करने से ही धर्मशास्त्र की आज्ञा पूरी समझी जाती ।[2] जाति एक समय में अनेकस्थलों पर रह सकती है किन्तु व्यक्ति नहीं । यदि शब्द से व्यक्ति का बोध कराया जायेगा तो जाति का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकेगा फलस्वरूप एक शब्द से समस्त द्रव्यों का ज्ञान नहीं होगा ।[3] शास्त्रीय आदेशों में एक शब्द की अउसके उपाधियों में प्रवृत्ति से ज्ञात होता है कि शब्द का अर्थ जाति है ।[4]

1- आकृत्याभिधानाद्वैकं विभक्तौ वाजप्यायनः । म॰भा॰ । । 2 । 64

2- एवं च कृत्वा धर्मशास्त्रं प्रवृत्तम् - 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' 'सुरा न पेया' इति ब्राह्मणमात्रं न हन्यते, सुरामात्रं च न पीयते । यदि द्रव्य पदार्थः स्यादेकं ब्राह्मण महत्वैकां च सुरामपीत्वा न्यत्र कामचारः स्यात्व । म॰म॰। । 2 । 64

3- द्रव्याभिधाने सत्याकृतेरसंप्रत्ययः स्यात् । तत्र को दोषः ? तत्राऽसर्व द्रव्य गतिः प्राप्नोतित । म॰ भ॰ । ॰2 ॰64

4- अस्ति चैकमनेकाधिकरणस्थं युगपत् । आदित्यः । इतीन्द्रवद्द विषयः द्रव्याभिधाने ह्याकृत्यसंप्रत्ययः । चोपनायां चैकस्योपाधिवृत्तेः । म॰भ॰ । । 2 । 64

§3§ **व्याडि :-** महाग्रन्थ संग्रह के प्रणेता व्याडि के मत का उल्लेख महर्षि पतञ्जलि एवं कात्यायन ने अपने ग्रन्थों में किया है । उनके अनुसार व्याडि पद का अर्थ द्रव्य अर्थात् व्यक्ति मानते हैं । उनका मत है कि शब्द जाति का नहीं अपितु व्यक्ति का बोध कराते हैं । यदि शब्द का अर्थ जाति माना जायेगा तो एक गाय के मरने से सारी गायें मर जानी चाहिये और एक गाय उत्पन्न होने से सारी गायें उत्पन्न हो जानी चाहिये थी ।[1] और उन गायों में स्वरूप भेद यही शब्दार्थ जाति होने पर ये दो विरोधी गुण साथ नहीं रह सकते । व्यक्तियों की विभिन्नता मानकर विग्रह 'गाश्च गौश्च' रूप में किया जाता है । अनेकार्थक शब्दों में व्यक्ति की पृथकता को मानकर एक शेष हो जाता है । जैसे - अक्षाः, पादाः शब्दों में नाना शब्द मानकर एक शेष करके बहुवचन हो जाता है ।[2]

§4§ **कात्यायन और पतञ्जलि :-** कात्यायन और पतञ्जलि शब्द से जाति और व्यक्ति दोनों का बोध स्वीकार करते हैं । उनका मानना है कि जाति शब्द से जाति और व्यक्ति दोनों का ही बोध होता है । इसको पतञ्जलि एक उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट करते हैं । यथा - एक आगन्तुक गायों के झुण्ड में बैठे हुए ग्वाले से पूछता है कि 'किसी गाय को देख रहे हो ?' ग्वाला सोचता है कि यह गायों को देखते हुये भी प्रश्न कर रहा है कि किसी गाय को देख रहे हो । अतः निश्चित रूप से यह किसी विशेष गाय से ही लक्ष्य करके गाय देखने के विषय में कह रहा है । स्पष्ट है जाति वाचक शब्द व्यक्ति विशेष का बोध करा रहा है ।[3]

1- विनाशे प्रादुर्भावे च सर्वं तथा स्यात् । अस्ति च वैरूप्यम् । म०भा० 1,2,64 ।

2- अस्ति च वैरूप्यम् । तथा च विग्रहः । व्यर्थेषु च मुक्तसंशयः । 1,2,64

3- जातिशब्देन हि द्रव्याभिधानम् । जाति शब्देन हि द्रव्यमप्यभिधीयते जातिरपि - - - - नूनमस्य द्रव्यं विवक्षितम् । म०भा० 1,2,58

पतञ्जलि की यह मान्यता है कि आकृति और द्रव्य जाति और व्यक्ति दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है । इन दोनों को कभी भी एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता दोनों अभिन्न हैं ।[1] वस्तुत: शब्द का अर्थ जाति या व्यक्ति मानने वाले भी अपने मत में दृढ़ नहीं हैं । जो शब्द का अर्थ जाति मानते हैं वे जाति को तो शब्द का मुख्य अर्थ मानते हैं और व्यक्ति को गौण । इसी प्रकार जो शब्द का अर्थ व्यक्ति मानते हैं वे मुख्य अर्थ व्यक्ति मानते हैं तथा गौण अर्थ जाति मानते हैं । दोनों के मत में दोनों ही पदार्थ हैं ।[2]

(5) भर्तृहरि :- भर्तृहरि शब्द के अर्थ के रूप में जाति और व्यक्ति दोनों को स्वीकार करते हैं । तात्त्विक दृष्टि से जाति और द्रव्य दोनों नित्य हैं । अत: समस्त शब्दों के अर्थ दोनों - जाति एवं द्रव्य ही हैं ।[3] भर्तृहरि का मानना है कि व्यक्तिवादी एवं जातिवादी दोनों ही आचार्य अपने - अपने सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करते हुये शब्द के अर्थ के रूप में दूसरे की अस्तित्व को स्वीकार करते हैं । जातिवादी शब्द के द्वारा जाति को ग्रहण करके जाति के द्वारा बोधित व्यक्ति को ग्रहण करते हैं । और व्यक्तिवादी व्यक्ति में कार्य की सत्ता मानकर व्यक्ति में रहने वाली जाति को स्वीकार करते हैं ।

भर्तृहरि का मानना है कि समस्त शब्द सर्वप्रथम अपनी विशेष जाति का बोध कराते हैं ।[4] यह जाति यद्यपि अखंड होती है तथापि स्वाश्रयभूत गो आदि

1- अव्यतिरेकाद् द्रव्याकृत्यो: । महा॰ 2,1,51

2- न आकृति पदार्थिकस्य द्रव्यं न पदार्थो, द्रव्यपदार्थिकस्य वा आकृतिर्न पदार्थ: । उभयोरुभयं पदार्थ: । कस्यचित्तु किंचित, प्रधानभूतं किंचिद् गुणभूतम् । आकृतिपदार्थकस्याकृति: प्रधानभूता,द्रव्यंगुणभूतम् । द्रव्य पदार्थिकस्य द्रव्यं प्रधान - भूतमाकृतिर्गुणभूता । महा॰ 1,2,64

3- पदार्थानामपोद्धारे जातिर्वाद्रव्यमेव वा । पदार्थौ सर्वशब्दानां नित्यावेवोपवर्णितौ ।
वा॰प॰ 3 जाति॰ 2

4- स्वा जाति: प्रथमं शब्दै: सर्वैरेवाभिधीयते । वा॰3, जाति

व्यक्तियों के भेद से भिन्न भिन्न प्रतीत होती है । इसी को जाति कहते है । सम्पूर्ण शब्द इसी के बोधक हैं । वास्तव में यह जाति नित्य है तथा सर्वत्र व्याप्त होने के कारण महान् आत्मा है ।[1] साथ ही भर्तृहरि व्यक्तियों को सारे शब्दों के रूप में स्वीकार करते हैं । समस्त शब्दों का अर्थ व्यक्ति है । शब्द व्यक्ति से पृथक नहीं है । उसका उससे नित्य सम्बन्ध है ।[2] जाति और व्यक्ति ये पृथक पदार्थ नहीं हैं अपितु एक ही शब्द की शक्तियां हैं । विभिन्न व्यापारों से उसकी विभिन्न शक्तियों का अनुमान किया जाता है । इनका जब यथायोग्य सम्बन्ध होता है तब वे व्यवहार के योग्य होते हैं, पृथक्-पृथक् व्यवहार के योग्य नहीं है । अतएव जाति और व्यक्ति का जो विभाग किया है वह मात्र काल्पनिक है ।[3]

अन्य वैयाकरण आचार्य :- नागेश, कौण्डभट्ट तथा कैयट इत्यादि आचार्य जहां एक ओर शब्द का अर्थ व्यक्ति और जाति दोनों को स्वीकार करते हुये उनमें सामंजस्य स्थापित करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे शब्द के अर्थ के रूप में गुण, लिंग, कारक आदि का भी ग्रहण करते हैं । शब्द के इन अर्थों की मान्यता

1- सम्बन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ।।
तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः । {वा॰3 जा॰33,34}

2- विद्या सा सर्वशब्दानां शब्दाश्च न पृथक् ततः ।
अपृथक्त्वे च सम्बन्धस्तयोर्नानात्मनोरिव । वा॰ 3

3- तस्माद् द्रव्यादयः सर्वाः शक्तयो भिन्नलक्षणाः ।
संसृष्टाः पुरुषार्थस्य साधिका न तु केवलाः । वा॰ 3

का मूल महाभाष्य की पंक्तियों पर ही आधारित है ।[1] आचार्य कौण्डभट्ट का कहना है कि कुछ आचार्य शब्द का अर्थ स्वार्थ, द्रव्य, लिंग संख्या और कारक इन पाँचों को मानते हैं । कुछ केवल स्वार्थ द्रव्य और लिंग को ही समर्थ के रूप में स्वीकार करते हैं ।[2]

कैयट का मानना है कि शब्द सर्वप्रथम अपने स्वार्थ का बोध कराता है । तत्पश्चात् द्रव्य का बोध कराता है । द्रव्य बोध के पश्चात लिंग का बोध लिंग बोध के पश्चात् संख्या का ज्ञान एवं संख्या ज्ञान के पश्चात् कारक का बोध कराता है ।[3] कैयट के मत में स्वार्थ शब्द जाति,गुण,क्रिया, स्वरूप और सम्बन्ध का बोधक होता है । गौ, शुक्ल:, पाचक:, डित्थ: तथा राजपुरुष: क्रमश: इनके उदाहरण हैं ।[4]

1- स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम् ।
समवेतस्य च वचने लिंगं वचनं विभक्तिं च ।।
अभिधाय तान्विशेषानपेक्षमाणश्च कृत्स्नमात्मानम् ।
प्रियकुत्सनादिषु पुन: प्रकृतिऽसौ विभक्त्यन्त: ।। म· भा· 5 । 3 । 74

2- स्वार्थो हि द्रव्यं च लिंगं च संख्या कर्मादिरेव च ।
अमी पंचैव नामार्थास्त्रय: केषांचिदग्रिमा: ।। वै·भू·सार का· 25 दर्पण टीका

3- तथा हि नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरिति न्यायात् पूर्वं स्वार्थाभिधानेन भाव्यम्.। पश्चात्तद् विशिष्टस्य लिंगाश्रयस्य द्रव्यस्याभिधानेन । ततो भेदापक्षबहिरंग संख्यापेक्षया लिंगमन्तरंगमिति तदभिधीयते । तत: संख्या, सा हि विजातीय क्रियाप्रक्षसाधनापेक्षया तुल्यजातीयावेक्षान्तरंगा । संख्याविधानानन्तरं तु कारकाभिधानम् । कै·म·भा· 5,3,74

4- स्वोऽर्थ: स्वार्थ: स चानेक प्रकारो जातिगुण क्रिया सम्बन्ध स्वरूप लक्षण: गौ: शुक्ल: पाचको राजपुरुषो डित्थ इति । कै·म·भा· 5,3,74

स्वरूप पद भी शब्द के स्वरूप और उस शब्द से प्रतीत होने वाले व्यक्ति अर्थात् द्रव्य का बोधक है ।[1] द्रव्य शब्द प्रकरणानुसार द्रव्य, जाति तथा गुण का बोधक है । उदाहरणार्थ यदि गौ शब्द जाति का वाचक है तो उसका तात्पर्य गोत्व जाति है । यदि गौ पद जाति विशिष्ट व्यक्ति का बोधक है जैसे - 'गाम् आनय' तब गौ पद का स्वार्थ जाति तथा व्यक्ति होता है । इसी प्रकार यदि गुण शब्द शुक्ल, शुक्ल जाति का बोधक है, जैसे - शुक्लों न पीत: वहाँ शुक्ल पद का स्वार्थ स्वरूप अथात् वर्णानुपूर्वी है तथा द्रव्य शुक्लत्व जाति है । यदि शुक्ल शब्द गुण वाचक है जैसे शुक्लो गौ: तब शुक्ल पद का स्वार्थ शुक्लत्व जाति होगा तथा द्रव्य शुक्लोगुण व्यक्ति कहलायेगा । यदि शुक्ल शब्द द्रव्य का बोध कराता है, जैसे शुक्लोधावति, यहाँ शुक्ल पद का स्वार्थ गुण होगा तथा द्रव्य शुक्ल गुणवान् व्यक्ति का बोधक होगा ।[2]

शब्द द्वारा स्वार्थ,द्रव्य,लिंग संख्या और कारक का बोध क्रम केवल शास्त्र प्रक्रिया निर्वाह के लिये ही है तथा काल्पनिक है लोक में शब्द श्रवण के अनन्तर सभी की उपस्थिति एक साथ होती है ।

स्पष्ट है कि शब्द का स्वार्थ निश्चित नहीं है । वह शब्द के प्रयोग पर निर्भर है । इसी प्रकार द्रव्य शब्द भी सदा एक अर्थ का बोधक नहीं होता इसका निर्णय भी परिस्थिति ही करती है ।

उपर्युक्त मतों के विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा में शब्द से - स्वरूप, द्रव्य, जाति,लिंग संख्या और कारक इन अर्थों में कम से कम एक तथा अधिक से अधिक छ: का बोध होता है ।

1- स्वरूपाभेदेन पदस्वरूपं व्यक्तिस्वरूपं च बोध्यम् । नागेश, महा॰भा॰ 5,3,74

2- द्रव्यशब्देन च इदं तदिति परामर्श योग्यं वस्तवभिधीयते । तत्र जातिशब्दो यदा जातौ वर्तते तदारोपित स्वरूपां स्वरूपेणैकीकृतां जातिमाहेति तदा तेषां स्वरूपं स्वार्थ:, जातिस्तु द्रव्यम् । यदा तु जातिविशिष्टद्रव्यमाह तदा जाति स्वार्थ: । शुक्लादयो यदा तु गुण जातौ वर्तन्ते तदा तेषां स्वरूपं स्वार्थ:, जाति द्रव्यम् । यदा तु गुणे वर्तन्ते तदागुणसामान्यं स्वार्थो, गुणो द्रव्यम् । यदा द्रव्ये वर्तन्ते तदा गुण: स्वार्थ: । कैयट महाभाष्य 5 । 3 74

सहकारीकारण॥ कारण ॥

किसी भी कार्य के 'सहकारी कारण' वे होते हैं जो प्रमुख कारण ॥ करण से होने वाले कार्य के जनक होते हुए भी प्रमुख कारण से भिन्न हुआ करते हैं कार्य की उत्पत्ति की दृष्टि से इन कारणों या हेतुओं का अति महत्व होता है क्योंकि इनके न होने पर प्रधान कारण ॥ करण ॥ के उपस्थित होने पर भी कार्य उत्पन्न नहीं होता कार्योत्पत्ति में ये कारण प्रधान कारण ॥करण॥ के सहायक बनकर आते हैं इसी कारण इन्हें सहकारी कारण कहा जाता है

शाब्दबोध में पद का ज्ञान प्रधान कारण होता है तथा वाक्यगत पदों के अर्थों का ज्ञान एवं उनकी परस्पर अन्विति करा कर शाब्द बोध या वाक्यार्थ बोध कराने वाले हेतु सहकारी कारण होते हैं वाक्यगत पदों के यथार्थ बोध के पश्चात उन पदों में सन्निहित शक्ति द्वारा सहकृत पद परस्पर अन्वित होकर वाक्यार्थ बोध कराते हैं पदों में विद्यमान यह शक्ति आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि एवं तात्पर्य रूपों में जानी जाती है । किसी भी वाक्य का अर्थ-बोध तभी सम्भव है जब वाक्यगत पदों में यह शक्ति विद्यमान हो शाब्द बोध के प्रति आवश्यक होने के कारण ही इन्हें सहकारीकारण कहा जाता है

शाब्द-बोध के प्रति सहकारी कारणों की आवश्यकता एवं उनके महत्व को सभी विचारक स्वीकार करते हैं किन्तु इनकी संख्या को लेकर विभिन्न मतावलम्बियों में किंचित् मतभेद है । यथा

न्यायदर्शन में वाक्यार्थबोध के लिये सहकारी कारण के रूप में आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि एवं तात्पर्य इन चारों को स्वीकार किया गया है । मुक्तावलीकार आचार्य विश्वनाथ प चानन ने शाब्द-बोध के सहकारीकारण के रूप में आसत्ति, योग्यता,

तात्पर्य एवं आकांक्षा का उल्लेख किया है किन्तु तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट तात्पर्य को शाब्दबोध के प्रति सहकारी कारण न मानकर आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि मात्र का ही उल्लेख करते हैं [2]

पूर्व मीमांसक आचार्य भी शाब्द-बोध के प्रति सहकारी कारण के रूप में आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि को ही मानते हैं वे तात्पर्य को स्वीकार नहीं करते आचार्य कुमारिल ने अपने ग्रन्थ तन्त्रवार्तिक में तथा भाट्ट सम्प्रदाय के ही ग्रन्थ मानमेयोदय के रचनाकार नारायण भट्ट ने आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि इन तीन को ही शाब्द बोध का कारण माना है [3] वाक्यार्थबोध के लिये आकाङ्क्षादि की आवश्यकता पर सर्व प्रथम ध्यान मीमांसक आचार्य कुमारिल ने ही दिया है मीमांसक आचार्यों का मानना है कि वाक्यगत प्रत्येक पद स्वतंत्र रूप से सम्बद्ध होकर साक्षात् शाब्द-बोध का कारण नहीं होता और न ही पदों के समुदाय में विद्यमान विशेष प्रकार की जाति अथवा पदार्थों एवं पदों के सम्बन्धों का ज्ञान ही अन्वय बोध में कारण होता है । अपितु पदों से ज्ञात पदार्थों से योग्यता आदि का साहाय्य प्राप्ति पदों के द्वारा उपस्थित पदार्थों के रहने से ही शाब्द-बोध होता है [4] उत्तर

अ [illegible] ऽऽकाङ्क्षा तात्पर्य ज्ञा- भिष्यत
कारणं - - - - न्याय॰ सि॰ मु॰ कारि 2 ।

2 आकाङ्क्षा योग्यतासन्निधिश्च वाक्यार्थ ज्ञाने हेतुः तर्क संग्रह पृ॰ 7

3- [अ] अत्राकाङ्क्षा च योग्यत्वं सन्निधिश्चेति तत्त्रयम्
वाक्यार्थाधिगमे सर्वे का [illegible] कल्प्यते । मा॰ मे॰ पृ॰ 00

ब] आकाङ्क्षा सन्निधानं च योग्यता चेतित्रयम्
सम्बन्ध करणत्वेन क्लृप्तं नान्तरश्रुतिः त॰वा॰ पृ॰ 455

4 यद्यपि प्रत्येकं पदानि संहतानि वा साक्षान्मूलं तथा जाति सम्बन्ध ज्ञानं सावयवनिरवयव वाक्यानि तथापि पदार्थाः प्रत्यायिताः प्रत्यासत्त्यैव योग्यत्वसनाथा मूलं भविष्यति, तदभावे वाक्यार्थ प्रत्ययस्य भावाच्छिति
न्या॰ रत्ना॰ श्लोक 00 पर पार्थसारथी की टीका]

मीमांसक आचार्य धर्मराजा दीक्षित ने अपने ग्रन्थ वेदान्त परिभाषा में आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि एवं तात्पर्य इन चारों को स्वीकार किया है

वैयाकरण आचार्य शाब्द-बोध के प्रति आकाङ्क्षादि चारों के महत्व को स्वीकार करते हैं किन्तु मूल रूप में शाब्द बोध के सहकारी कारण के रूप में आकाङ्क्षा एवं योग्यता का ही उल्लेख कर आसत्ति [सन्निधि] एवं तात्पर्य को अनिवार्य कारण नहीं मानते जैसे कि नागेश आकाङ्क्षादि चारों का सहकारी कारण के रूप में उल्लेख तो करते हैं किन्तु सन्निधि एवं तात्पर्य का खण्डन कर अन्ततः शाब्दबोध के सहकारी कारण के रूप में आकाङ्क्षा एवं योग्यता को ही स्वीकार करते हैं [2] शाब्द बोध के प्रति इन सहकारी कारणों के महत्व को देखते हुए इनके स्वरूप पर भी विचार करना अपेक्षित है

आकाङ्क्षा : शाब्दबोध के सहकारी कारण के रूप में आकाङ्क्षा को समस्त नैयायिक, मीमांसक एवं वैयाकरण आचार्यों ने स्वीकार किया है

है

वस्तुतः आकाङ्क्षा एक प्रकार की इच्छा है इसलिये वह आत्मा का धर्म है तथा समवाय सम्बन्ध से श्रोता पुरूष में ही रह सकती है, फिर भी उस पुरूषनिष्ठ आकाङ्क्षा का शब्द के अर्थ में आरोप कर लिया जाता है क्योंकि पद का अर्थ आकाङ्क्षा का विषय होता है या दूसरे शब्दों में आकाङ्क्षा पदार्थ विषयक होती है इसीलिये व्यवहार में कभी कभी अर्थ को भी 'साकाङ्' ' कह दिया जाता है [3] प्रत्येक वाक्य दो या दो से अधिक पदों के योग से बनता है जिनके श्रवण से पदार्थ का बोध होता है इन पदार्थों में एक दूसरे की जिज्ञासा विषयता की योग्यता रहती है, जिसे आकाङ्क्षा कहते हैं

1 वाक्यजन्यज्ञाने च आकाङ्क्षायोग्यता सत्त्यस्तात्पर्यज्ञानञ्चेति चत्वारि कारणानि
वे॰प॰पृ॰ 50

शाब्दबोध सहकारणानि आकाङ्॰ योग्यता, आसत्ति, तात्पर्याणि
वै॰सि॰प॰ल॰म॰पृ॰

न्याय दर्शन में शाब्द-बोध के हेतु के रूप में आकाङ्क्षा का विशद विवेचन प्राप्त होता है । प्राय: हर नैयायिक आचार्य ने इसका स्वरूप निर्धारित किया है । जिस पद के बिना जिस पद की शाब्द बोध जनकता न हो, उसकी उस पद के साथ आकाङ्क्षा होती है । अर्थात् जिस पद के बिना जिस पद का शाब्द बोध नहीं होता उस पद की उस पद के साथ शाब्दबोध के लिये आकाङ्क्षा होती है । क्रिया पद के बिना कारक पद शाब्द बोध को उत्पन्न नहीं कर सकता, इसलिये क्रिया पद की कारक पद के साथ आकाङ्क्षा है ।[1] वस्तुत: किसी भी वाक्य के अर्थ-बोध के लिये वाक्यगत पदों में परस्पर आकाङ्क्षा की योग्यता जिन पदों में होती है, उन पदों को 'साकाङ्क्षा में' कहते हैं । यथा - 'अश्वमानय' इस वाक्य के 'अश्वम्' पद को सुनते ही 'आनय' पद की आकाङ्क्षा उत्पन्न हो जाती है, तथा उसके श्रवण के पश्चात् पूर्ण वाक्य की प्राप्ति होने पर ही वाक्यार्थबोध होता है। आकाङ्क्षा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए तर्क संग्रह कार ने 'जिन पदों' को यादृशपूर्वापरीभाव न रहने के कारण शाब्द बोध न हो उन पदों का तादृश पूर्वापरीभाव होना आकाङ्क्षा बताया है ।[2] आकाङ्क्षा का यही स्वरूप न्यायमञ्जरी,[3] तर्ककौमुदी[4] एवं तर्कामृत[5] में भी प्रतिपादित किया गया है

कभी-कभी वाक्य में किसी एक पद या अनेक पदों के अभाव में अभिधीयमान अर्थ की प्राप्ति नहीं हो पाती अत: अभिधीयमान अर्थ की प्राप्ति के लिये उन अविद्यमान

1- यत्पदेन विना यस्याऽननुभावकता भवेत् ।
आकाङ्क्षा — — — — ।। न्या॰ सि॰ मु॰ का 84

2- तर्कसंग्रह (पद्मा टीका) पृ॰ 189

3- न्यायमञ्जरी 4 पृष्ठ 21

4- तर्क कौमुदी 2 पृ॰ 16

5- तर्कामृत 4 पृष्ठ 10

पद या पदों की आकाङ्•क्षा होती है जो वाक्य में उपस्थित होकर शाब्द बोध करा सकें यह आकाङ्•क्षा किसी पद की ऐसी असमर्थ्य है जो कुछ अन्य पदों के अभाव के कारण वाक्य का पूर्ण अर्थ स्पष्ट नहीं कर पाता अत: वाक्यार्थ बोध के लिये वाक्यगत पदों में आकाङ्•क्षा का होना परमावश्यक है

मीमांसक आचार्यों ने भी वाक्यार्थ बोध के सन्दर्भ में आकाङ्•क्षा का ग्रहण नैयायिकों की भाँति ही किया है उनका मानना है कि वाक्य में आए हुए समस्त पद साकाङ्•क्षा होते हैं पदों के आकाङ्•क्षा से रहित होने पर शाब्द बोध नहीं हो पाता मानमेयोदय का कहना है कि गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती इत्यादि निराकाङ्•क्ष पदों का उच्चारण करने पर शाब्द बोध नहीं होता अत: आकाङ्•क्षा को शाब्द बोध का अनिवार्य कारण आवश्यक है [2]

उत्तर मीमांसक (वेदान्त) आचार्यों ने वाक्य में आए हुए पदों के अर्थों का आपस में जिज्ञासा की विषयता के योग्य होने को 'आकाङ्•क्षा' है अर्थात् वाक्यगत पदार्थों में एक दूसरे की जिज्ञासा विषयता की योग्यता रहती है जिसे आकाङ्•क्षा कहते हैं,[3] शाब्द बोध का अनिवार्य कारण है वाक्य की पूर्णता एवं शाब्द-बोध के लिये उसके पदों में आकाङ्•क्षा का होना अति आवश्यक है आकाङ्•क्षा से रहित पद समूह न तो वाक्य ही होता है और न तो उसका अर्थबोध ही होता है जैसे वक्ता द्वारा एक श्वास में बोले गये 'गाय, बैल, आदमी, हाथी' को सुन कर श्रोता को कोई

- - -- - -

- पदस्य पदाऽन्तरव्यतिरेकप्रयुक्ताऽन्वयाऽननुभावकत्वमाकाङ्•क्षा तर्क संग्रह पृ•

2 गौरश्व: पुरुषो हस्तीत्याकाङ्•क्षा रहितेष्विह
अन्वयादर्शनात् तावदाकाङ्•क्षा परिगृह्यते । मानमेयोदय पृ• 0

3- तत्र पदार्थानां परस्पर जिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकांक्षा व• प• पृ• 50

अर्थबोध नहीं होता क्योंकि 'गाय' पद से 'बैल' पद की कोई आकाङ्क्षा नहीं है, इसी प्रकार अन्य पदों से भी कोई आकाङ्क्षा नही है । किन्तु यदि वक्ता कहे 'गामानय' तो श्रोता द्वारा 'गा:' पद के श्रवण करते ही उसे आनय पद की आकाङ्क्षा उत्पन्न हो जाती है और 'गामानय' का शाब्द बोध हो जाता है ।

वैयाकरण आचार्यों में नागेशभट्ट ने आकाङ्क्षा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा है - 'वाक्य के संकेत का बोध कराने वाली आकाङ्क्षा है ।[1] वह आकाङ्क्षा वाक्य के एक पद के अर्थ का ज्ञान होने पर उस पदार्थ के अन्वय योग्य दूसरे पदार्थ की जिज्ञासा उत्पन्न करती है, जिससे शाब्द-बोध होता है ।

वस्तुत: आकाङ्क्षा की उत्पत्ति तब होती है जब श्रोता किसी एक शब्द को श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण कर उसके अर्थ को तो जान लेता है परन्तु उससे सम्बद्ध होने वाले किसी अन्य पदार्थ के बोधक शब्द को नहीं सुनता । ऐसी स्थिति में श्रोता को यह ज्ञात होता है कि उसके द्वारा सुना गया शब्द निराकाङ्क्षा होने के कारण अर्थ का बोधक नहीं है । अत: अर्थ बोध के लिये उसे अन्य पद की आकाङ्क्षा होती है ।[2]

आकाङ्क्षा को पदार्थ-निष्ठ सिद्ध करने के लिये नागेश ने आकाङ्क्षा की एक अन्य परिभाषा प्रस्तुत करते हुए 'उत्थापकता' या 'विषमता' इनमें से किसी एक सम्बन्ध से या इन दोनों सम्बन्धों से दूसरे अर्थ को जानने की इच्छा को आकाङ्क्षा बताया है ।[3] उनके इस कथन के उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है । यथा - 'पश्य राम: गच्छति' इस वाक्य में केवल पश्य कहे जाने पर अपने दर्शनस्य अर्थ

1- वाक्यक्रमस्य ग्राहिका 'आकाङ्क्षा' । वै॰ सि॰प॰ ल॰ म॰ पृ॰ ।।3

2- वाक्य समयग्राहिका आकाङ्क्षा । परम ल॰म॰पृ॰ ।।3

3- एक पदार्थज्ञाने तदर्थान्वययोग्यार्थस्य यज्ज्ञानं तद्विषयेच्छेति शाब्दिका वदन्ति ।
न्यायकोश पृष्ठ ।।3

'रामः' एवं क्रिया रूप अर्थ 'गच्छति' की आकाङ्‌क्षा को उत्पन्न करेगा क्योंकि 'पश्य' क्रिया पद है तथा क्रिया पद के लिये आवश्यक है कि उसका कोई न कोई कर्म तथा कर्ता आदि कारक हो अतः 'पश्य' पद में केवल आकाङ्‌क्षा की उत्थायकता है, उसमें विषयता नहीं है क्योंकि आकाङ्‌क्षा का विषय 'पश्य' नहीं हो सकता इसी प्रकार रामः गच्छति इस अंश में केवल आकाङ्‌क्षा की विषयता ही है उसकी उत्थायकता नहीं है क्योंकि पश्य पद के अनुच्चरित होने पर भी केवल 'रामः गच्छति' इस अंश को सुनने के उपरान्त श्रोता में किसी प्रकार की आकाङ्‌क्षा उत्पन्न नहीं होती परन्तु पश्य पद को सुनने से जो आकाङ्‌क्षा उत्पन्न होती है उसका विषय 'रामःगच्छति अंश अवश्य है

इसी प्रकार 'देवदत्तः तण्डुलं पचति' इस वाक्य में 'पकाना' क्रिया तथा कर्ता देवदत्त एवं कर्म तण्डुल दोनों एक दूसरे की जिज्ञासा अथवा आकाङ्‌क्षा के उत्थापक तथा विषय दोनों ही क्योंकि यदि 'पचति' पद का कथन नहीं किया गया तो 'देवदत्तः तण्डुलं' यह वाक्यांश साकांक्ष रहेगा इसी प्रकार पचति के विषय हैं 'तण्डुल' तथा देवदत्त और तण्डुल तथा देवदत्त का विषय है 'पचति' क्योंकि क्रिय विना कारक के तथा कारक बिना क्रिया के नहीं रह सकता और उन्हें एक दूसरे की शाब्द-वोध के लिये आकाङ्‌क्षा होती है आकाङ्‌क्षा के इसी स्वरूप को नैयायिक तथा मीमांसक आचार्यों ने भी स्वीकार किया है तीनों ही अर्थबोध के लिये आकाङ्‌क्षा को अनिवार्य कारण मानते हुए शाब्द-वोध के लिये उसे आवश्यक मानते

यद्व वा 'उत्थापकता' 'विषयता' अन्यतर सम्बन्धेन उभयसम्बन्धेन वा अर्थान्तरजिज्ञासा 'आकाङ्‌क्षा' प॰ल॰म॰ पृ॰ 5

2 वैयाकरणमते विभक्ति धात्वाख्यातक्रियाकारकपदानां परस्परं विना परस्परस्य न स्वार्थान्यानुभावकत्वम् न्यायकोश पृ॰

3 – विभक्त्यन्ताख्यातान्तयोरेव साकाङ्‌क्षत्वाच्च प॰ल॰म॰ पृ॰ 5

योग्यता : नैयायिकों के अनुसार एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध ही योग्यता है उस पदार्थ में तद्वत्ता को योग्यता कहते हैं योग्यता का तात्पर्य है अर्थों का अविरोधी होना ताकि पद विशेष के अर्थ का वाक्य के दूसरे पदों के अर्थ के साथ अन्वय करने पर बाध न हो अर्थात् वाक्यार्थ अबाधित होना चाहिए [2] जिस वाक्य का अर्थ योग्यता के अभाव में बाधित होता है उस वाक्य से श्रोता को अर्थबोध नहीं होता जैसे यदि कोई कहे कि वह आग से सींच रहा है तो इस वाक्य से अर्थबोध नहीं होता है क्योंकि सेंचन क्रिया जल से ही हो सकती है। आग से नहीं स्पष्ट है कि यहां अर्थ के बाधित हो जाने से योग्यता के अभाव में शाब्द बोध नहीं होता इस योग्यता का ज्ञान यदि यथार्थ होता है तो शाब्द बोध यथार्थ होता है और यदि अयोग्यता का ज्ञान होता है तो अयथार्थ शाब्दबोध होता है जो केवल बौद्धिक होता है प्रामाणिक नहीं अत: नव्य नैयायिक योग्यता ज्ञान को शाब्द बोध के प्रति कारण नहीं मानते

मीमांसक आचार्य भी नैयायिकों का ही समर्थन करते हैं उनका कहना है अयोग्य पदों द्वारा अन्वय बोध नहीं होता जैसे कि 'अग्निना सिञ्चति' वाक्य में सेंचन क्रिया अग्नि के द्वारा सम्भव न होने के कारण अग्नि सेंचन के प्रति अयोग्य है क्योंकि अग्नि में सिञ्चन कारणत्व प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है अत: अन्वय बोध के लिये 'योग्यता' को स्वीकार किया जाता है [4] इसी मन्तव्य का

एक पदार्थेऽपरपदार्थ सम्बन्धो योग्यतेत्यर्थ: न्या॰सि॰मु॰श॰ख॰पृ॰ 4

अर्थाऽबाधो योग्यता तर्क संग्रह पृ॰

3- अ वह्निना सिञ्चेदिति न प्रमाणं योग्यता विरहात् त॰स॰ पृ॰

अत एव वह्निना सिञ्चतीत्यादि वाक्यान्नान्वयबोध: प्रमात्मको भवति योग्यता विरहात् त॰ कौमुदी

4 अग्निना सिञ्चतीत्यादावयोग्यानाभन्वयात्

योग्यतापि परिग्रहया मानमेयोदय पृष्ठ

का प्रतिपादन उत्तरमीमांसक धर्मराजा दीक्षित ने भी वेदान्त परिभाषा में किया है तात्पर्य विषयीभूत संसर्ग का बाध न होना ही योग्यता है

वैयाकरण आचार्यों का मानना है कि पदों के अर्थों के पारस्परिक अन्वय के प्रयोजक धर्म से युक्त होना योग्यता है 'जलेन सिंचति' इस वाक्य में योग्यता है क्योंकि सिंचन क्रिया में जल का धर्म गीलापन अन्वित हो जाता है अतः 'जलेन सिंचति' यह वाक्य योग्यता से युक्त है इस परस्परान्वय प्रयोजक धर्मवत्ता के न होने के कारण 'वह्निना सिंचति' इस वाक्य में योग्यता नहीं मानी जाती क्योंकि आग में गीलापन रूप धर्म नहीं है जिससे वह्नि का सिंचन में अन्वय हो सके । तथा इसी प्रकार सिंचन में जलाना धर्म नहीं है जिससे उसका वह्नि के साथ अन्वय हो सके

नैयायिक एवं मीमांसक आचार्य योग्यता से रहित 'वह्निना सिंचति' इत्यादि वाक्यों के द्वारा सम्बद्ध अर्थ की प्राप्ति को नहीं स्वीकार करते उनका मानना है कि इन वाक्यों में अलग-अलग पदों के अर्थों का ही ज्ञान होता है सम्बद्ध वाक्यार्थ का नहीं ये विद्वान पदों के अर्थों में बाधा का न होना ही योग्यता मानते हैं [3]

वैयाकरण आचार्य उक्त मत से सहमत नहीं हैं उनका मानना है कि 'वह्निना सिंचति' जैसे वाक्यों से भी वाक्यार्थ की प्रतीति होती है किन्तु यह वाक्या

योग्यता च परस्परान्वय प्रयोजक धर्मवत्त्वम् प॰ल॰म॰ पृ॰ 7

2 एतादृशस्थलेषु नान्वयबोधः किन्तु प्रत्येकं पदार्थबोधमात्रम् प॰ल॰म॰पृ॰

3 बाधक प्रमा विरहः त॰चि॰ , अर्थाबाधः त॰स॰ बाध निश्चयाभावो योग्यता इति नव्या आहुः [नीलकण्ठी], योग्यता च तात्पर्यविषयी भूत संसर्गाबाधः [वे॰प]

बौद्धिक एवं अप्रामाणिक होता है । इसी कारण वैयाकरण आचार्य 'योग्यता' को शाब्द बोध में अनिवार्य कारण नहीं मानते

भर्तृहरि ने भी कहा है कि निमित्त के सर्वथा असत्य होने पर भी केवल शब्द प्रयोग के द्वारा 'अलात चक्र' आदि में चक्र आदि वस्तुओं के आकार का ज्ञान होता है [1] साथ ही इस प्रकार के योग्यता रहित पदों का भाषा में प्रयोग होता ही है अतः ऐसे स्थलों में शाब्द बोध या ज्ञान का अभाव नहीं माना जा सकता यदि यह मान भी लिया जाय कि योग्यता रहित प्रयोगों में शाब्द बोध होता ही नहीं तो 'वहिना सिंचति' जैसे वाक्यों का प्रयोग करने वाला व्यक्ति, यह कहकर कि 'तुम जलाने वाली अग्नि से सींचने की बात करते हो', हंसी का पात्र क्यों बनता है यह उपहास तभी संगत है जब माना जाय कि योग्यता रहित पदसमूह से भी शाब्द बोध होता है भले ही वह अयथार्थ एवं अप्रामाणिक है इस प्रकार के वाक्यों से श्रोता को शाब्द-बोध तो होता है किन्तु उसे यह ज्ञान भी हो जाता है कि यह शाब्द-बोध केवल बौद्धिक है वाह्य नहीं अतः ज्ञात विषय में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती योगदर्शन में ऐसे ज्ञान को विकल्प ज्ञान कहा गया है इस ज्ञान के बाह्यार्थ शून्य होने से तथा अप्रामाणिक होने के कारण ही वैयाकरण आचार्य 'योग्यता' को शाब्द बोध के सन्दर्भ में कारण मानते हुए भी उसे अनिवार्य कारण नहीं मानते हैं

आसत्ति सन्निधि : नैयायिकों के अनुसार शाब्द बोध तभी होता है जब वाक्य में विद्यमान विभिन्न पदों में सान्निध्य रहता है सान्निध्य का तात्पर्य है सामीप्य अर्थात्-पदों का बिना विलम्ब के उच्चारण [2]

अत्यन्तम् अतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात्
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकार निरूपणा वा॰ •]] • 30

2 अ पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः त॰सं॰ पृष्ठ 8
ब अविलम्बेन पदार्थोपस्थितिः सन्निधिः तर्क दीपिका पृ॰ 57
]]स पदानाम विलम्बेनोच्चारितत्वम् आसत्तिः तर्कभाषा

दो पदों के उच्चारण के मध्य अनिवार्य काल से अधिक काल का न होना ही अविलम्ब कहा जाता है । यदि 'देवदत्तः' कहने के तत्काल बाद 'गच्छति' न कहा जाय तो श्रोता को 'देवदत्त' जाता है' ऐसा शाब्द बोध नहीं होता अतः पदों में सान्निध्य शाब्द बोध के लिये अपेक्षित होता है इसी पद बात सान्निध्य को कुछ दार्शनिक लोग आसत्ति नाम से द्योतित करते हैं ।[1] वस्तुतः शाब्द बोध के लिये सान्निध्य की अपेक्षा नहीं अपितु उसके ज्ञान की अपेक्षा होती है । इसीलिये पद्यवाक्यों में शाब्दबोध के लिये पद योजना - अन्वय की आवश्यकता होती है पदों में सान्निध्य होने पर भी यदि उसका ज्ञान श्रोता को न हो तो शाब्द बोध नहीं होता नव्य नैयायिक आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि के ज्ञान को शाब्द-बोध का हेतु न मानकर स्वरूपसत् आकाङ्क्षा स्वरूपसत् योग्यता और स्वरूप सत् सन्निधि को शाब्द बोध का हेतु मानते हैं इनके ज्ञान का होना उतना आवश्यक नहीं है जितनी इनकी स्वरूपतः सत्ता आवश्यक है । नव्यन्याय में आसत्ति को शाब्दबोध के लिये आवश्यक नहीं माना गया क्योंकि यदि श्रोता पदों को उनके अर्थ और प्रसंग सहित स्मरण रखे तो उसे आसत्ति रहित पद समूह रूप वाक्य से भी शाब्द-बोध हो सकता है

पूर्वमीमांसक आचार्य नारायणभट्ट एवं उत्तरमीमांसक धर्मराज दीक्षित आसत्ति (सन्निधि) को नैयायिक विद्वानों की भांति ही स्वीकार करते हैं । धर्मराज दीक्षित द्वारा प्रस्तुत आसत्ति की परिभाषा अव्यवधान रहित पदजन्य पदार्थों की उपस्थिति को आसत्ति कहते हैं ।[3] नैयायिक आचार्यों की ही भांति है मानमेयोदयकार

1- सन्निधानं तु पदस्य आसत्तिरुच्यते न्या॰ सि॰ मु॰ पृ॰ 39

2- सा च स्वरूपसती शाब्दबोध हेतुः न तु ज्ञाता इति बोध्यम् न्यायमंजरी 4 पृ॰ 4

3 आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिः वे॰ परि॰ पृ॰ 54

का मत है पदार्थों में सन्निहित तत्वों के द्वारा बोधितत्व होना ही सन्निधि है कभीकभी वक्ता द्वारा कहे गये वाक्य को श्रोता पूर्ण रूप से सुन नहीं पाता ऐसी स्थिति में जहाँ पदार्थ अश्रुत हो वहाँ पर श्रुत पदार्थ के साथ सम्बन्ध के योग्य पदार्थ का अध्याहार करना पड़ता है अतएव 'द्वारम्' पद को सुनते ही 'विधेहि' पद का अध्याहार करने पर ही द्वार को बन्द करो ऐसा शाब्द-बोध होता है [2] वेदान्त परिभाषाकार के मतानुसार उपर्युक्त स्वरूप की आसत्ति होने पर पदों से शाब्द बोध नहीं होता [3] इस अन्वय व्यतिरेक को देखने से मीमांसकों की यह मान्यता स्पष्ट हो जाती है कि शाब्द बोध में आसत्ति की कारणता आवश्यक है

वैयाकरण आचार्य नागेश आसत्ति (सन्निधि) को शाब्द बोध में अनिवार्य कारण नहीं मानते प्रायः यह देखा जाता है कि अन्य शब्दों का व्यवधान होने पर भी बुद्धिमानों को 'शाब्द बोध' हो ही जाता है । अल्प बुद्धि वालों को भी आसत्ति रहित वाक्यों से अर्थ का ज्ञान तो हो जाता पर उसमें थोड़ी देर अवश्य लग जाती है इसी लिये कहा गया है आसत्ति मन्दबुद्धि वालों की दृष्टि से शीघ्र शाब्द बोध में कारण है [4]

वैयाकरण आचार्यों के अनुसार प्रासङ्गिक अन्वय ज्ञान के प्रतिकूल पदों का व्यवधान न होना आसत्ति है । अर्थात् उच्चरित पदों का प्रसंगानुकूल जो अन्वय बोध है उसके विपरीत अर्थ वाले पद या पदों का बीच में न आ जाना आसत्ति है [5] शाब्द बोध के कारण के रूप में आसत्ति को न स्वीकार करते हुए पतञ्जलि ने स्पष्ट

शब्दैः सन्निहितत्वेन बोधितत्वं हि पदार्थानां सन्निधिरित्युच्यते मानमेयोदय पृ०

अश्रुतपदार्थस्थले तत्तत्पदाध्याहारः द्वारमित्यादौ विधेहि इति व॰प॰पृ॰ 54

3- सा च शाब्द बोधे हेतुः तथैवान्वयव्यतिरेकदर्शनात् वे॰ परि॰ पृ॰ 5

4 आसत्तिः अपि मन्दबुद्धेरबि लम्बेन शाब्द बोधे कारणम् प॰ल॰म॰

5- प्रकृतान्वयबोधाननुकूलपदाव्यवधानम् आसत्तिः प॰ल॰म॰पृ॰ 2

कहा है कि आनुपूर्वी या विशिष्ट क्रम से न रखे हुए शब्दों में भी यथा भिलषित सम्बन्ध हो ही जाता है इसको एक उदाहरण के रूपमें सामने रखकर पत जलि ने अच्छी तरह स्पष्ट किया है यथा - बैल को हे पानी ढोने वाली जो ढोती है शिर से घड़े को वहिन तिरछे दौड़ते हुए को देखा इस वाक्य का अभिलषित सम्बन्ध होता है हे पानी को ढोने वाली बहिन जो तू शिर से घड़ा ढो रही है, बैल को तिरछे दौड़ते हुए को देखा इस तरह वाक्य के पदों में आसत्ति न होने पर भी शाब्दबोध होता है अतः आसत्ति को शाब्दबोध में अनिवार्य कारण कारण नहीं माना जा सकता

तात्पर्य : कुछ नैयायिक दार्शनिक तात्पर्य (वक्ता की इच्छा) को भी शाब्द-बोध का कारण मानते हैं किसी वाक्य का कथन करते समय वक्ता का कुछ अभीष्ट अर्थ होता है यही अर्थ वक्ता का तात्पर्य है अपने इसी तात्पर्य को श्रोता तक पहुँचाने के लिये वक्ता शब्दोच्चारण करता है सामान्यतया वक्ता की इच्छा को ही तात्पर्य कहते है [3] अर्थात वक्ता की इच्छा का ज्ञान भी शाब्द-वोध के प्रति कारण होता है वाक्य के अर्थ अनेक होने पर भी श्रोता वक्ता की जैसी इच्छा समझता है तदनुरूप ही शाब्द बोध करता है यथा भोजन करते समय वक्ता द्वारा कहे गये वाक्य 'सैन्धव ले आओ' को सुनकर सैन्धव नमक या घोड़ा लाने के विषय में वोधित होता है क्योंकि सैन्धव शब्द नमक और घोड़ा इन दोनों अर्थों का समान रूप से वाचक है फिर भी इन दोनों का बोध एक काल में नहीं होता अतः भोजन कालीन सैन्धव नमक का अनयन श्रोता द्वारा होता है [4]

अनानुपूर्व्येणापि सन्निविष्टानां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति
तद्यथा 'अनड्वाहमुदहारि या त्वं हरसि शिरसा कुम्भं भगिनि
साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीः इति तस्य यथेष्टमभि सम्बन्धोभवति
उदहारि भगिनि या त्वं कुम्भं हरसि शिरसा अनड्वाहं वाचीनम्
अभिधावन्तमद्राक्षीरिति • •57 पर महाभाष्य पृ• 7
भाष्यात् तु आसत्त्यभावेऽपि पदार्थोपस्थितौ आकाङ्क्षावशाद् व्युत्पत्त्यनुसारेण
अन्वयवोध इति लभ्यते महा• उद्योत • •5

पूर्वमीमांसक आचार्य कुमारिल एवं मानमेयोदयकार नारायण भट्ट आदि शाब्द वोध के कारण रूप में तात्पर्य को स्वीकार नहीं करते वे इसका अन्तर्भाव आकाङ्क्षा आदि में कर लेते हैं किन्तु उत्तर मीमांसक उसे स्वीकार करते हैं फलस्वरूप वेदान्त परिभाषाकार ने उसका विस्तृत विवेचन किया है वे तात्पर्य का परिष्कृत लक्षण प्रस्तुत करते हुए नैयायिकों के तात्पर्य लक्षण को अयुक्त सिद्ध करते हैं उनका कहना है नैयायिकों का मानने में अर्थज्ञान से शून्य व्यक्ति के द्वारा कहे गये वाक्य का अर्थबोध नहीं हो सकेगा जबकि ऐसे स्थलों में भी शाब्दबोध होता है [2] यहां तक कि शुक मैनादि के द्वारा उच्चरित शब्द समूह से भी शाब्द बोध होता है अतः पदार्थों के संसर्ग का अनुभव करने की वाक्य में योग्यता का होना तात्पर्य है अर्थात, तत्प्रतीति जनन योग्यता का नाम तात्पर्य है इस प्रकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने तात्पर्य को भी शाब्द वोध में कारण माना है

नागेश शाब्दवोध में तात्पर्यज्ञान को अनिवार्य कारण नहीं मानते ।[4] क्योंकि वक्ता के तात्पर्य को जाने बिना भी प्रायः श्रोता को शाब्दवोध हो जाता है उनका मानना है कि इस वाक्य अथवा पद का इस अर्थ के ज्ञापन के लिये उच्चारण किया जाना चाहिए इस प्रकार की ईश्वरेच्छा तात्पर्य है [5] जिससे स्पष्ट है कि तात्पर्य वक्ता की

अ शशधरादयः शाब्दवोधं प्रति तात्पर्यज्ञानस्य कारणत्वं नास्त्येव इत्याहु
न्यायकोश पृ॰ 37

ब॰ तस्मादन्वयसिद्धौ तात्पर्यं न स्वयं क्वचिद्धेतुः
सामग्र्यन्तरभावे नियमार्थं त्वष्यते पुनस्तदपि मानमेयो॰ पृ॰ 0

2 अर्थज्ञानशून्येन पुरूषेणोच्चरिताद्वेदादर्थप्रत्ययाभावप्रसंगात् वे॰प॰ 63 पृ॰

3- ननु प्रकरणादीनां शक्ति नियामकत्वे शक्त्यैव निर्वाहे किन्तात्पर्येण इति चेतन्न

43- तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम् वे॰प॰ पृ॰ 63 प॰ल॰म॰ पृ॰

प॰ल॰म॰ 123

5- एतद्वाक्यं पदं वा एतद् अर्थबोधायोच्चारणीयम् इति ईश्वरेच्छा तात्पर्यम् ।
प॰ल॰म॰ पृ॰

इच्छा पर निर्भर न होकर ईश्वरे है वैयाकरणों का मानना है कि अनेकार्थक वाक्यों में तात्पर्य ज्ञान के द्वारा -शाब्द-बोध की प्रामाणिकता का निश्चय अवश्य होता है जैसे जब गेहूं सैन्धवम् अस्ति ' तो अप्रकरणज्ञ श्रोता को नमक तथा अश्व दोनों अर्थों का ज्ञान हुआ फिर प्रकरण आदि के द्वारा नमक में ही वक्ता का तात्पर्य है यह ज्ञान होने पर उससे नमक विषयक शाब्बोध की प्रामाणिकता का निश्चय हो जायेगा । वैयाकरणों की मान्यता पत जलि कृत महाभाष्य में मिलती है यथा यदि गांव से सीधे आये ए, धूलि से सने पैर वाले तथा प्रकरण को न जानने वाले ग्रामीण से यह कहा जाय कि गोपाल को बुला लाओ ता उसे या तो दोनों का जिसका नाम गोपाल है, तथा जो गायों का रक्षक है बोध होगा अथवा वह सीधे उस व्यक्ति को लाकर उपस्थित कर देगा जो गायों का रक्षक है यहां स्पष्टत: पत ललि ने स्वीकार किया है कि अप्रकरणज्ञ व्यक्ति को भी अर्थ का ज्ञान होता है दूसरी बात है कि वह अनेकार्थक स्थलों में कभी कभी सन्दिग्ध रहता है । प्रकरण के द्वारा वक्ता के तात्पर्य का निश्चय होता है और उससे शाब्दबोध की यथार्थता तथा प्रामाणिकता का निश्चय होता है इसलिये शाब्दबोध में किसी न किसी रूप में कारण होते हुए भी तात्पर्य को स्वतन्त्र रूप से शाब्द-वोध का अनिवार्य कारण नहीं माना जा सकता है [2]

अङ्ग । हि भवान् ग्राम्यं पांशुल पादम प्रकरणज्ञमागतं
ब्रवीतु गोपालकमानय, कटकमानय इति
उभयगतिस्तस्य भवति साधीयो वा यष्टिहतं गमिष्यति महाभाष्य ।• •
पृ• 437

2 अस्मादर्थद्वय - विषयको वोधो जायते तात्पर्य तुक्वेति न जानीम: इति
सर्वजनानुभव विरोधात् न तस्य तात्पर्यस्य हेतुत्वम् लघुमञ्जूषा पृ• 5

द्वितीय अध्याय

शाब्द बोध सम्बन्धी प्रमुख मत

शाब्द - बोध सम्बन्धी प्रमुख मत

भारतीय विचारकों की दृष्टि में वाक्यार्थ बोध या शाब्द बोध-विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय रहा है इसके महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए ही भारतीय विचारधारा के अनेक विचारक परस्पर मत-वैभिन्य रखते हुए भी, अपने द्वारा मान्य पद्धति को ही सरणि मानकर इस सन्दर्भ में विचार किया है भारतीय साहित्य में शाब्द-बोध का विवेचन व्याकरण न्याय तथा मीमांसा इन तीन शास्त्रों में विशेष रूप से किया गया है नैयायिक हों या मीमांसक अथवा वैयाकरण सभी ने अपने अपने ढंग से विचारों को अभिव्यक्त करते हुए वाक्यार्थ - बोध या शाब्द-बोध के सन्दर्भ में अपने अपने मत का प्रतिपादन किया है इन सब की दार्शनिक विचारधारा में विभिन्नता होने के कारण इनके वाक्यार्थ बोध या शाब्द-बोध सम्बन्धी मतों में भी विभिन्नता उत्पन्न हो गयी है फलस्वरूप शाब्द-बोध का सिद्धान्त कई रूपों में सामने आया

समस्त वैयाकरण आचार्यों में शाब्द-बोध के सिद्धान्त को लेकर मतैक्य है, वे वाक्य को अखण्ड मानते हैं अतः उनका वाक्यार्थबोध का सिद्धान्त अखण्ड वाक्यार्थ वाद कहलाता है । मीमांसकों में वाक्यार्थ के विषय में कई मत पाये जाते हैं जिनमें 'अभिहितान्वयवाद' एवं अन्विताभिधानवाद प्रमुख हैं प्रसिद्ध मीमांसक आचार्य कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि अभिहितान्वयवाद के मानने वाले हैं । इसके विपरीत प्रभाकर और उनके अनुयायी शालिकनाथ मिश्र आदि अन्विताभिधानवाद के समर्थक हैं जयन्त भट्ट इत्यादि नैयायिक शाब्द-बोध के सिद्धान्त के रूप में 'अभिहितान्वयवाद' को ही स्वीकार करते हैं

इस प्रकार से स्पष्ट है कि शाब्द-बोध के मुख्य रूप से तीन सिद्धान्त हैं -

(1) अभिहितान्वयवाद

(2) अन्विताभिधानवाद

(3) अखण्ड वाक्यार्थवाद

अभिहितान्वयवाद :- शाब्द - बोध सम्बन्धी अभिहितान्वयवाद सिद्धान्त कुमारिलभट्ट एवं उसके मतानुयायियों तथा जयन्त भट्ट इत्यादि नैयायिकों द्वारा मान्य सिद्धान्त है। अभिहितान्वयवाद सिद्धान्तानुसार वाक्यगत पद पहले अपने वाच्यार्थ को द्योतित करते हैं तदनन्तर परस्पर अन्वित होकर शाब्द-बोध कराते हैं। अर्थात् अभिहितान्वयवाद का अभिप्राय यहहैकि पहले पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है तदनन्तर पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध, जो पदों से उपस्थित नहीं हुआ था, उपस्थित होता हैं। इसलिये पहले पदों के द्वारा पदार्थ अभिहित अर्थात् अभिधा शक्ति द्वारा वोधित होते हैं बाद में वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उनका परस्पर अन्वय या सम्बन्ध होता है जिससे शाब्द-बोध होता है। इस प्रकार शाब्द बोध के लिये पदों द्वाराअभिहित पदार्थों का अन्वय मानने के कारण कुमारिलभट्ट तथा जयन्तभट्ट आदि का यह सिद्धान्त 'अभिहितान्वयवाद' कहा जाता है। अभिहितान्वयवाद का यह अर्थ उसकी व्याख्या से भी स्पष्ट हो जाता है यथा- 'अभिहितानाम् अन्वय: अभिहितान्वय:' अर्थात जो अर्थ पदों द्वारा व्यक्त किया जा चुका है उसका परस्पर अन्वय अभिहितान्वयवाद है। अत: अभिहितान्वयवाद का अर्थ होता है - प्रत्येक पद केवल अपने - अपने अर्थ का बोध कराते हैं पदार्थों का पद से बोध होने पर उनका आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति के आधार पर अन्वय हो जाता है जिसे शाब्द बोध होता है।[1] आचार्य मम्मट ने भी अभिहितान्वयवाद का कुमारिलभट्टादि के अनुसार स्वरूप उक्त ढंग से ही प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि पदार्थों का आकाङ्क्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण समन्वय हो जाने से एक विलक्षण तात्पर्यार्थ निकलता है जो पदार्थ से भिन्न होता है, वही वाक्यार्थ

---

1. (अ) पदैरेव समभिव्याहारवद्भिरभिहिता: स्वार्थाऽकाङ्क्षा योग्यताऽऽसत्तिसध्रीचीना वाक्यार्थंधीहेत वेत्याचार्या:। तत्वबिन्दु पृ. 8

(ब) न्यायमंजरी पृ. 364

अभिहितान्वयवादी मीमांसक आचार्य शाबर भाष्य के उक्त कथन के आधार पर ही अपना सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं मानमेयोदयकार नारायण भट्ट अभिहितान्वयवाद को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि शाब्द बोध का वह स्वरूप जिसमें सर्वप्रथम वाक्य के अवयवभूत - पदों से पदार्थों का अभिधान होता है तदनन्तर उन्हीं अभिहित पदार्थों के परस्पर अन्वय द्वारा वाक्यार्थ बोध होता है, अभिहितान्वयवाद कहलाता है ।

भाट्ट मीमांसकों के मतानुसार पदार्थ लक्षण वृत्ति के द्वारा ही वाक्यार्थ बोध कराते हैं । अर्थात् शाब्द - बोध सम्बन्धी सिद्धान्त अभिहितान्वयवाद के अनुसार शाब्द-बोध लक्षणा शक्ति के द्वारा होता है । लौकिक और वैदिक समस्त वाक्यों में विशिष्ट अर्थ शाब्द-बोध की प्रतीति लक्षणा के द्वारा ही होती है वाक्यश्रवण से लेकर शाब्द-बोध तक श्रोता को किस-किस पद्धति का आश्रय लेना पड़ता है, वाचस्पति मिश्र नेभली भांति स्पष्ट किया है यथा-कोई भी व्यक्ति वृद्ध व्यक्तियों के द्वारा प्रयुक्त वाक्य को सुनकर उससे प्रवृत्ति-निवृत्ति, हर्ष - शोक, भय आदि की प्रतीति करता है, इसलिये उस वाक्य को इनका कारण मान लेता है ज्यों ज्यों वृद्ध वाक्य में एक-एक पद का प्रयोग करता जाता है त्यों त्यों नवीन अर्थ की प्रतीति होती है, और अन्य पूर्वपदों के होते हुए भी नवीन अर्थ किसी विशेष पद को सुनने के बाद ही उत्पन्न होता है अतः बालक उसे उसका हेतु मान लेता है यह ज्ञान केवल पदार्थ मात्र का ही है फलतः यह प्रवृत्ति-निवृत्ति, हर्ष-शोक आदि की प्रतीति नहीं करा पाता वरन् समस्त वाक्य के विशिष्टार्थ की प्रतीति कराता है वृद्धव्यवहार में प्रयुक्त पदों का लक्ष्य विशिष्टार्थ का द्योतन करना ही होता है

- तेनात्र पदावगतः पुनः पदार्थो मिथोऽन्वयन्ति
इत्येवमभिहितान्वय सिद्धान्तो दर्शितोऽस्मदादीनाम् । मानमेयोदय पृ॰ 97

जबकि अभिधा से वे केवल पदार्थ मात्र का ही बोध करा पाते हैं अतः लौकिक एवं वैदिक समस्त वाक्य सामान्य अर्थ के ही अभिधायक हाने के कारण उनके विशिष्टार्थ की प्रतीति लक्षणा वृत्ति के माध्यम से होती है

मानमेयोदयकार भी भाट्टमीमांसकों द्वारा लक्षणा के माध्यम से ही शाब्द-बोध किये जाने की बात करते हैं वे स्पष्ट करते हैं कि वाच्यार्थ अभिधा के माध्यम से बोधगम्य न होने के कारण ही लक्षणा का आश्रय लिया जाता है और लक्षणा के माध्यम से पदार्थ परस्पर अन्वित होकर शाब्द बोध की प्रतीति करा देते है

इस प्रकार स्पष्ट है कि अभिहितान्वयवादी मीमांसक शाब्द-बोध में लक्षणा शक्ति मानते हैं कुमारिलभट्ट ने स्वयं तन्त्रवार्तिक में वाक्यार्थ को लक्ष्यमाण माना है [3]

तथा हि वृद्धप्रयुक्तवाक्यश्रवणसमनन्तरं प्रवृत्ति निवृत्ति हर्ष शोकभय सम्प्रतिपत्तेः व्युत्पन्नस्य व्युत्पित्सुस्तद्धेतु प्रत्ययमनुमीयते । तस्य सत्स्वप्यनेकेष्वनुपजातस्य पदजात श्रवण समनन्तरं संभवतः तद्धेतुभावमवधारयति न चैष प्रत्ययः पदार्थमात्र गोचरः प्रवृत्यादिभ्यः कल्प्यत इति विशिष्टार्थगोचरोऽभ्युपेयते, तद्विशिष्टार्थपरता अवसिता वृद्धव्यवहारे पदानाम् --- तस्माल्लोकानुसारेण वैदिकस्यापि पदसन्दर्भस्य विशिष्टार्थप्रत्ययप्रयुक्त स्यापिविशिष्टार्थाभिधानमात्रेण लक्षणया विशिष्टार्थपरकत्वम तत्वविन्दु पृष्ठ 53

2 वयं तु पदार्था लक्षणैव वाक्यार्था बोधयन्तीति ब्रूमः ।
वाच्यार्थानुपपत्त्या हि लक्षणा भवति --- परस्परान्वयलाभाद् गवानयनरूपवाक्यार्थसिद्धिः मानमेयोदय पृ॰ 9

3 वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हिसर्वत्रैवेति न स्थितिः। तन्त्रवार्तिक

पार्थसारथि मिश्र ने भी न्यायरत्नमाला में इसी मत का प्रतिपादन किया है । उनका कहना है कि यद्यपि एकवाक्य में अनेक पद होते हैं तथापि सन्निधि अपेक्षा तथा योग्यता के द्वारा हम वाक्य के पदों में सम्बन्ध ग्रहण कर लेते हैं । वाक्य में प्रयुक्त पदों का अन्वय आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि के कारण होता है ।[1] उस सम्बन्ध के होने के बाद ही शाब्द-बोध होता है । वाक्य या पद दोनों ही अकेले साक्षात् सम्बन्ध के द्वारा शाब्द-बोध उत्पन्न नहीं करते । वरन् सर्वप्रथम पद के द्वारा अभिधाशक्ति के माध्यम से पदार्थ प्राप्त होते हैं तदनन्तर वे शाब्द बोध को लक्षणा के माध्यम से प्रस्थापित करते हैं ।[2] किसी भी वाक्य में अनेक छोटे-बड़े पद विद्यमान होते हैं किन्तु शाब्द-बोध प्रतीति में सभी पदार्थ एक साथ उसी तरह अन्वित हो जाते हैं जैसे बूढ़े, जवान और बच्चे सभी तरह के कबूतर दाना चुगने के लिए एक साथ कूद पड़ते हैं ।[3]

अभिहितान्वयवादियों द्वारा शाब्दबोध को लक्षणा द्वारा उपपन्न मानने से भाट्ट मीमांसकों के ही एक वर्ग ने इस शक्ति को, लक्षणा से भिन्न सिद्ध करने के लिये, तात्पर्यवृत्ति या तात्पर्यशक्ति का नाम दे दिया है क्योंकि यह शक्ति वाक्य से अभिधा शक्ति द्वारा न प्राप्त होने वाले विशिष्ट तात्पर्य का बोध कराने के लिये ही प्रयुक्त होती है अतः इस शक्ति को तात्पर्यशक्ति नाम से सम्बोधित करना उचित भी है ।

1- सन्निध्यपेक्षायोग्यत्वैरुपलक्षणलाभतः ।
आनन्त्येप्यन्वितानां स्यात् संबंधग्रहणं मम ।। न्यायरत्नमाला पृ॰ 78 वाक्यार्थ प्रकरण

2- तस्मान्न वाक्यं न पदानि साक्षात् वाक्यार्थबुद्धिं जनयन्ति किन्तु पदस्वरूपाभिहितैः पदार्थैः संलक्ष्यते सावित्ति सिद्धमेतत् । न्या॰र॰म॰ पृ 79

3- वृद्धा युवानः शिशवः कपोताः खले यथाऽमी युगपत्पतन्ति ।
तथैव सर्वे युगपत्पदार्थाः परस्परेणान्वयिनो भवन्ति ।।

नैयायिक आचार्य जयन्त भट्ट एवं अन्य आचार्य भी शाब्द बोध के 'अभिहितान्वयवाद' सिद्धान्त को ही स्वीकार करते हैं किन्तु इनके द्वारा मान्य सिद्धान्त एवं भाट्ट मीमांसकों द्वारा मान्य अभिहितान्वयवाद में कुछ अन्तर है

आचार्य जयन्तभट्ट अभिहितान्वयवाद को स्वीकार करते हुए भी भाट्ट मीमांसकों द्वारा स्वीकृत वाक्यगत पदार्थान्वय को लक्षणा द्वारा न स्वीकार कर उनका अन्वय तात्पर्यवृत्ति के द्वारा मानते हैं व्यवहार भी देखा जाता है कि वाक्यगत पद अभिधाशक्ति के माध्यम से पदार्थ बोध तो करा देते हैं किन्तु वाक्य से जो अभिप्रेत तात्पर्य होता है वह एक विशिष्ट शक्ति के माध्यम से ही होता है, जिसे जयन्तभट्ट तात्पर्यवृत्ति का नाम देते हैं भाट्टमीमांसकों के एक वर्ग ने भी वाक्य के तात्पर्यबोधकशक्ति को तात्पर्यवृत्ति के नाम से अभिहित किया है

किन्तु अन्य नैयायिक आचार्य जहाँ एक ओर शाब्द बोध के प्रति भाट्टमीमांसकों द्वारा मान्य लक्षणा को अस्वीकार करते हैं वहीं दूसरी ओर नैयायिक आचार्य जयन्त भट्ट द्वारा स्वीकृत तात्पर्यवृत्ति को भी स्वीकार नहीं करते अपितु वे इन दोनों शक्तियों के स्थान पर आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि तथा तात्पर्यज्ञान को शाब्द-बोध में कारण मानते हैं नैयायिक आचार्यों का मानना है कि वाक्यगत पदों के अर्थ परस्पर संसर्ग द्वारा अर्थबोध कराते हैं पदों के अर्थों का यह परस्पर संसर्ग शाब्दबोध के उद्देश्य से विशिष्टार्थ की प्राप्ति पदों के द्वारा अथवा पदार्थों के स्मृति से होती है जब कभी किसी वाक्य से वाक्यार्थ ज्ञान

1- एवं पदार्थज्ञाने स्थिते यत् पुनस्तदनन्तरमेकं विशिष्टार्थज्ञानरूपं वाक्यार्थज्ञानं जायते तत् पदैरेव वा पदार्थस्मृतिभिर्वा जयन्ते इति चिन्तायां पदानां पदार्थबोधोपक्षीणत्वाद् व्यवहितत्वाच्च पदार्था एव स्वसंसर्गरूपं वाक्यार्थं बोधयन्ति इत्ययं तावत् तार्किकादिसाधारणः :

मानमेयोदय पृ०

होता है, तो उससे पूर्व पदार्थ की स्मृति होती है, अत: पदार्थ स्मृति ही शाब्द बोध के हेतु है साथ ही पदार्थ स्मरण मात्र से शाब्द-बोध नहीं हो पाता अपितु उसके लिये पदों के अन्वय से घटित पदार्थ का स्मरण भी आवश्यक है अत: आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति से युक्त मानसी पदार्थों के स्मरण को ही अभिहितान्वयवादी शाब्द बोध का कारण मानते हैं [1]

कोई भी पद अकेले स्वतन्त्र रूप से जिस अर्थ का बोधक होता है वाक्य में भी वह उसी अर्थ को द्योतित करता है पुन: समुदाय में पदार्थों के परस्पर अन्वय होने पर जो अर्थाधिक्य प्राप्त होता है वही वाक्यार्थ है [2] कैयट इस को और अधिक स्पष्ट करते हैं पदार्थ ही आकाङ्क्षा आदि के सहारे संसृष्ट रूप में वाक्यार्थ है कैयट यह भी मानते हैं कि ध्वनिव्यंग्य नित्यवाक्य पदार्थ संसर्गरूप विशिष्ट अर्थ का वाचक है [3]

अभिहितान्वयवादी आचार्य वाक्यार्थ ज्ञान पदार्थों से ही स्वीकार करते हैं वे यह नहीं मानते कि वर्णों द्वारा शाब्द बोध हो सकता है उनका मानना है कि वर्णों द्वारा पदार्थ ज्ञान तो हो सकता है किन्तु वाक्यार्थ ज्ञान या शाब्द बोध तो पदार्थों द्वारा ही सम्भव है अन्वय व्यतिरेक से भी यह सिद्ध हो जाता है कि पदों के द्वार ज्ञात पदार्थ ही वाक्यार्थ के कारण हैं कभी-कभी वाक्योच्चारण होने पर भी पदार्थ ज्ञान न होने की स्थिति में शाब्द-बोध नहीं होता [4] इससे यही

---

1 तदभूषामेव मानसीनां स्वार्थस्मृतीनामाकाङ्क्षायोग्यतासन्नि सहकारिणीनां कारणत्वं वाक्यार्थ प्रत्ययं प्रत्यध्यवस्याम: तत्वविन्दु पृ० ।

2- एषां पदानां सामान्ये वर्तमानानां यद् विशेषे अवस्थानं स वाक्यार्थ: म०भा० • •4

3- पदार्था एव स्वाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिवशात् परस्परसंसृष्टा वाक्यार्थ इत्यर्थ: ध्वनिव्यंग्यं नित्यंवाक्यं विशिष्टस्यार्थस्य पदार्थसंसर्गरूपस्य वाचकम् । कैयट प्रदीप •2•4

4- अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवतदेवगम्यते, मानसवादपचारादुच्चरितेभ्यो पि पदेभ्यो यदि पदार्थानवसीयन्ते न तदा वाक्यार्थो अवगम्यते

सिद्ध होता है कि शाब्द बोध का निमित्त पदार्थ ही है इसे एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है । यथा - किसी जीव के श्वेत रूप को देखकर गुणी का अनुमान करके, हिनहिनाहट की ध्वनि सुनकर अश्व का अनुमान करके, तथा टापों की ध्वनि सुनकर धावन क्रिया का अनुमान करके इन सबके परस्पर अन्वय द्वारा 'श्वेत अश्व दौड़ रहा है' यह शाब्द बोध होता है इस प्रकार बिना पद सुने पदार्थों के ज्ञान से शाब्द बोध हो जाता है, जब कि पदार्थों के ज्ञान के बिना कभी भी शाब्द बोध नहीं होता अत: स्पष्ट है कि शाब्द बोध वाक्यगत पदों के ग्रहण से नहीं अपितु अवगम्यमान पदार्थों से होता है मानसापचार स्थल में शाब्द बोध की अनुपपत्ति वाक्य की अनवगति से नहीं अपितु पदार्थों के अभाव से ही होती है [1] तथा पदों का वाक्यार्थ से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है । इसी मान्यता के आधार पर वे शाब्द बोध के सिद्धान्त के रूप में अभिहितान्वयवाद को स्वीकार करते हैं तथा उसके प्रतिपादन में कहते हैं कि पद अपनी अभिधा शक्ति से ही पदार्थों का अभिधान करते हैं, तदनन्तर अभिहित पदार्थ परस्पर आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि के द्वारा अन्वित होकर शाब्द-बोध कराते हैं

1- पश्यत: श्वेतिमारूपं ह्रेषाशब्दं च शृण्वत:
खुरनिक्षेपशब्दं च श्वेतोऽश्वो धावतीतिधी:
दृष्टवा वाक्य विनिर्मुक्ता न पदार्थ र्विनाक्वचित् ।
मानसादित्यतोनास्य वाक्यग्रहणमुत्तरम् । व० प० पृ० 35 - 39

2- प्रत्येकं तत्तदर्थेषु गृहीतशक्तिकान्येव पदान्याकाङ्क्षादिसहकृत्या तत्तदपदवृत्त्यैव शक्त्या लक्षणया वा परस्परान्वितं विशिष्टमेकमर्थं बोधयन्ति विशिष्टार्थ बोधने अतिरिक्ताया वाक्यशक्तेरप्रमाणात्नास्तीतिभाव: अयमेव वाक्यार्थबोध इति शाब्द बोध इति चोच्यते सर्व० स० पृ० 36

समीक्षा

अखण्ड वाक्यार्थवाद को स्वीकार करने वाले वैयाकरण एवं अन्विताभिधान - वाद को शाब्द-बोध के सिद्धान्त रूप में मानने वाले प्रभाकर एवं प्रभाकर मतानुयायी मीमांसक आचार्य कुमारिल मतानुयायियों द्वारा स्वीकृत शाब्द-बोध के सिद्धान्त अभिहितान्वयवाद का खण्डन करते हुए उसकी अयुक्तता सिद्ध करते हैं । वे यह प्रतिपादित करते हैं भाट्ट मीमांसकों एवं नैयायिक आचार्यों द्वारा स्वीकृत शाब्द-बोध सिद्धान्त 'अभिहितान्वयवाद' न तो शाब्दबोध में सक्षम है और न तो युक्तियुक्त ही है यथा -

अन्विताभिधानवादी आचार्यों का अभिहितान्वयवादियों के ऊपर आरोप है कि यदि पदार्थ ज्ञान पदोंसे भिन्न किसी स्मृति आदि निमित्त से उत्पन्न माना जाय, जैसे कि अभिहितान्वयवादी मानते हैं, तो उसमें शाब्द-बोध को उत्पन्न करने की कोई शक्ति न होगी यदि ऐसी शक्ति की सत्ता मानी ही जाय तो इस शक्ति को मीमांसादर्शन में स्वीकृत प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों से भिन्न सप्तम प्रमाण मानना पड़ेगा अथवा यह भी हो सकता है कि शाब्द प्रमाण का इसी नवीन प्रमाण में अन्तर्भाव हो जाय यदि ऐसा होता तो भाष्यकार शबर तथा अन्य आचार्यों को इसका उल्लेख करना चाहिए था, साथ ही इसे अलग प्रमाण मानने पर उसके भेदरूप शब्द प्रमाण का अलग से निर्देश करने की कोई आवश्यकता न थी जो भाष्यकार ने किया है यदि आगम प्रमाण पदार्थ का भेद है, तो सामान्य प्रमाणों के साथ

ननूक्तं न मानान्तरानुभूतानामर्थरूपाणां वाक्यार्थधी प्रसव सामर्थ्य मुपलब्धम् उपलम्भे वा सप्तमप्रमाणप्रसंगः, आगमस्यतो तत्रैवान्तर्भावः तदेव प्रत्यक्षादिभिः सह तुल्यकक्षतयोपन्यसनीयम् न त्वागमस्तद्भेदः तत्वबिन्दु पृ॰ 120

पदार्थ को न रखकर उसका भेद रखना ठीक न था । लोग 'ब्राह्मण युधिष्ठिर' जैसा प्रयोग न करके 'ब्राह्मण राजन्य' या वशिष्ठयुधिष्ठिर का प्रयोग करते हैं [1] स्पष्ट है शब्द स्वयं प्रमाण है; उसे पदार्थ का भेद नहीं माना जा सकता फिर तो सातवां प्रमाण तो मानना ही पड़ेगा जिसका उल्लेख मीमांसक आचार्यों ने नहीं किया अतः यह युक्तियुक्त नहीं है ।

साथ ही यदि अभिहितान्वयवाद को मानकर पदार्थज्ञान को वाक्यार्थज्ञान या शाब्द बोधका हेतु माना जाय तो कम से कम दो या तीन शक्तियां माननी पड़ेगी जबकि अन्विताभिधानवाद के अन्तर्गत एक शक्ति ही अर्थबोध करा देती है अतः दो या तीन शक्तियों को स्वीकार करना अन्यथा प्रयास है जो युक्तियुक्त नहीं है [2]

अभिहितान्वयवादी आचार्य मानते हैं कि पदों में अर्थ समन्वित रूप संसृष्ट से नहीं होता वरन् पद केवल संसर्ग रूपी वाक्यार्थ बोध के उपाय है, क्योंकि शाब्द बोध पदार्थ-ज्ञान से ही होता है इसका खण्डन करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि इसका तात्पर्य है कि पहले पद अर्थ के अभिधायक नहीं होते वरन वाक्य में प्रयुक्त होने पर वे अर्थवान् होते हैं तथा वाक्य में पदों की संख्या-वृद्धि के अनुपात में उनकी अर्थ वृद्धि भी होती जाती है, जो शाब्द-बोध है इस प्रकार शाब्द-बोध विशिष्टता अर्थ है । पहले अर्थ को असंसृष्ट मानकर उससे शाब्द बोध की उपपत्ति मानना ठीक नहीं है

---

1 न हि ब्राह्मणयुधिष्ठिराविति प्रयुञ्जते, प्रयुञ्जते ब्राह्मणराजन्याविति, वशिष्ठयुधिष्ठिराविति वा लौकिकाः तत्वविन्दु पृ०

2 तथा च तिस्र शक्तयः द्वेवा पदानां हि तादर्थरूपाभिधानरूपा शक्तिः, तदर्थरूपाणामन्योन्यान्वयशक्तिः, तदाधानशक्तिश्चापरा पदानामेवेति स्मारकत्वपक्षे तूक्तं शक्तिद्वयम तत्वविन्दु पृ० 3

3 वा० प० • 50, 25

मीमांसकों का यह कथन पद-समूह ही आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधि के कारण परस्पर अन्वित होकर वाक्य हो जाता है और संसर्ग वाक्यार्थ है, भर्तृहरि एवं उनके टीकाकार पुण्यराज को मान्य नहीं है । वे कहते हैं कि 'देवदत्त शुक्ल गाय को डण्डे से हांक दो' इस वाक्य में देवदत्त आदि पद ही वाक्य है चूंकि वाणी के द्वारा उच्चारण क्रमशः ही होता है । अतः उच्चरित उक्त वाक्य के देवदत्तादि पद उच्चारण किये जाने के साथ ही समाप्त होकर सत्ताहीन हो जायेंगे फलस्वरूप अन्य शब्दों के सुनने पर देवदत्तादि पदार्थों का अर्थ ज्ञान नहीं होगा और न उनकी किसी विशेष अर्थ में उपस्थिति ही होगी । यदि स्मरण द्वारा उन-पदों की उपस्थिति माना जाय तब भी विशेष अर्थ की प्राप्ति नहीं होगी । ऐसी स्थिति में मीमांसकों द्वारा मान्य शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध अनित्य सिद्ध हो जायेगा शाब्द बोध में पहले पदों का अर्थ स्वीकार करना और बाद में उनका छोड़ दिया जाना युक्तियुक्त नहीं है । यदि वे अपने अर्थ का परित्याग कर देते हैं तो ऐसी स्थिति में अन्य पद के साथ सम्बन्ध होने पर वे किस अर्थ का बोध करायेंगे क्योंकि वे अपने अर्थ का परित्याग ही कर चुके हैं एवं अन्य शब्दार्थ के वाचक न होने के कारण अन्य का अर्थ बोध तो उनके द्वारा कराया ही नहीं जा सकता । यदि यह कहा जाय कि वाक्य से ही अर्थ का ज्ञान होता है तो यह भी ठीक नहीं है । चूंकि अन्य शब्द में अन्य शब्द के अर्थ का बोध कराने की शक्ति ही नहीं होती । अतः वाक्यार्थ को ही निराधार मानना पड़ेगा क्योंकि वाक्य में कोई शब्द नहीं है जो उस अर्थ का प्रतिपादन कर सके साथ ही यदि वाक्यार्थ की उपपत्ति इस प्रकार मान भी लें तो पदों का अर्थ निराधार हो जाता है । क्योंकि प्रत्येक पद में अनेक वर्ण होते हैं और उनका उच्चारण क्रमशः किया जाता है । अतः काल विशेष में किसी पूर्ण पद का उच्चारण सम्भव नहीं होगा क्योंकि उच्चरित होने वाले पद अपने उच्चारण किये जाने के साथ ही साथ नष्ट भी हो जायेगा । अतः जब पद ही नहीं होगा तो अभिहितान्वयवादियों द्वारा स्वीकृत शाब्द-बोध के लिये पदार्थ की भी उपपत्ति न

हो सकेगी इस प्रकार से शब्द और अर्थ के मध्य विद्यमान वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध को अभिहितान्वयवाद मानने पर छोड़ना पड़ेगा जो युक्तियुक्त नहीं है

अन्विताभिधानवाद

शाब्द-बोध के सिद्धान्त 'अन्विताभिधानवाद' का प्रतिपादन आचार्य कुमारिल के शिष्य प्रभाकर तथा उनक अनुयायियों ने किया है इनका मानना है कि शाब्द-बोध अभिहितान्वयवादी विचारधारा के अनुरूप न होकर अन्य प्रकार से होता है जिसे वे अन्विताभिधानवाद कहते हैं इस सिद्धान्त के अनुसार वाक्य में पहिले से ही अन्वित पदार्थों का ही अभिधा से बोध होता है इसी लिये इस सिद्धान्त का नाम अन्विताभिधानवाद रखा गया है इस मत में पदार्थों का अन्वय पूर्व से ही सिद्ध होने के कारण, उसके लिये तात्पर्याशक्ति की आवश्यकता नहीं होती है

अन्विताभिधान का अर्थ है 'अन्वितानां पदार्थनाम् अभिधानम्' अर्थात अन्वित पदार्थों द्वारा किया गया अभिधान वस्तुत: शाब्द-बोध की अन्विताभिधान व्यवस्था में उसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ मुखरित हो उठता है जो जयन्तभट्ट द्वारा प्रतिपादित अन्विताभिधानवाद के स्वरूप से स्पष्ट हो जाता है उनक अनुसार प्रत्येक पद केवल अपने पदार्थ का ही बोध नहीं कराता है अपितु समन्वय युक्त पदार्थों का बोध पद कराते हैं अन्यथा पदों का वाक्य नहीं हो सकता

सामान्यार्थास्तिरोभूतो न विशेषे वतिष्ठते
उपात्तस्य कुतस्त्यागो निवृत्त: क्वावतिष्ठताम् ।
अशाब्दो यदि वाक्यार्थ: पदार्थो पि तथा भवेत्
एवं च सति सम्बन्ध: पदस्यार्थेन हीयते वा०प०

इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि - अन्विताभिधानवादियों के अनुसार आकाङ्क्षा योग्यता तथा सन्निधि के कारण वाक्यगत पदों का अन्वित अभिधेयार्थ ही वाक्यार्थ है इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए तत्वविन्दु में ही वाचस्पति मिश्र ने एक अन्य स्थान पर कहा है कि अन्विताभिधानवादियों के मत में वाक्य में प्रयुक्त पद परस्पर आकाङ्क्षित, आसन्न समीपस्थ तथा योग्य होने के कारण परस्पर अन्वित होकर अभिधाशक्ति द्वारा शाब्द-बोध कराते हैं इस प्रकार पदार्थ ही वाक्यार्थ है तथा अन्तिम वर्ण या वर्णमाला को शाब्द-बोध का कारण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने अन्विताभिधान के अनुसार प्राप्त होने वाले वाक्यार्थ ज्ञान को परिभाषित करते हुए उसे वाच्यार्थ कहा है अर्थात् वाच्यार्थ ही वाक्यार्थ है [3] उनके कहने का तात्पर्य यह है कि अन्विताभिधानवाद के अनुसार वाक्य का वाच्यार्थ ही वाक्यार्थ होता है

प्रभाकर का कहना है कि पदों से पदार्थों की होने वाली प्रतीति संकेतग्रहण के बाद ही होती है और उस संकेत का ग्रहण व्यवहार से होता है जैसे - छोटे बालक को यह ज्ञान नहीं होता कि किस शब्द का क्या अर्थ होता है तथा कौन साशब्द किस अर्थ के लिये प्रयोग में लाया जाता है किन्तु जब वह पिता या किसी अन्य वृद्ध द्वारा उच्चरित 'कलम उठा दो' शब्द समूह को सुनता है तो यद्यपि उसे न तो कलम का अर्थ ज्ञात है और न उठाने का ही किन्तु वह भाई आदि के द्वारा कलम उठाने के व्यवहार को देखता है इससे उसके मन पर उस समष्टि

पदान्येवाकाङ्क्षितयोग्यसन्निहितपदार्थान्तरान्वित -
स्वार्थाभिधायीनी त्यपरे तत्वविन्दु पृ॰ 7

पदान्याकाङ्क्षितासन्नयोग्याथान्तरसंगतान्
स्वार्थानभिदधन्तीह वाक्यं वाक्यार्थगोचरम् तत्वविन्दु पृ॰ 10

3. अगले पृष्ठ में

वाक्य के समष्टिभूत अर्थ का एक संस्कार बन जाता है उसके बाद पिता फिर कहता है 'कलम रख दो और दावात उठा दो' बालक फिर इस वाक्य को सुनता और भाई को तदनुसार क्रिया करते देखता है इस प्रकार अनेक बार के व्यवहार को देखकर बालक धीरे धीरे कलम् दावात् उठाना, रखना आदि शब्दों के अलग-अलग अर्थ समझने लगता है । इस प्रकार व्यवहार से संकेतग्रह होता है । यह संकेत ग्रह केवल पदार्थ में नहीं अपितु किसी के साथ अन्वित-पदार्थ में ही होता है । अतएव अन्वित का अभिधान अर्थात अभिधा से शाब्द बोध होने से अन्विताभिधानवाद ही मानना उचित है

प्रभाकर के इस मत को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है वाक्यगत पद सर्वप्रथम सामान्य अर्थ का प्रतिपादन करते हैं तदनन्तर विशिष्ट अर्थ का बोध कराते हैं वस्तुत: ये दोनों ही अर्थ एक ही वाक्य के दो अंश हैं । यथा 'राम गाय को लाता है' इस वाक्य में राम, गाय और लाना पहले मात्र कर्तृत्व, कर्मत्व तथा क्रियात्व का बोध करायेंगे तदनन्तर गाय लाने वाले राम का, ले जाये जाते हुए गाय रूप पदार्थ का तथा लाना क्रिया का 'राम कर्तृक' तथा 'गो कर्मक' रूप विशिष्ट अर्थ प्रतीत होता है यह विशिष्ट अर्थ ही पदों का वाच्यार्थ है प्रभाकरभट्ट के इस मत का उल्लेख उन्हीं की कारिका को उद्धृत करते हुए पार्थसारथि मिश्र ने किया है । यथा -- वाक्यार्थ तो अनेक होते हैं एक ही प्रकार के पद अनेक वाक्यों में पाये जाते फिर भी उनका भिन्न भिन्न वाक्यों में प्रयोग होता है तथा वे किंचित् भिन्नता के साथ अपना अर्थ बोध भी कराते हैं । अत: सबसे पहले श्रोता पदों का सामान्य अर्थ ग्रहण करता है, तदनन्तर किसी प्रकरण विशेष की अपेक्षा से उस सामान्य अर्थ का अन्य प्रकरणों से निराकरण कर लेता है । इस प्रकार वह किसी एक विशिष्ट अर्थ में बुद्धि को स्थिर कर लेता है, और उसे शाब्द बोध हो जाता है [1]

पिछले पृष्ठ का शेष
वाक्य एवं वाक्यार्थ इति 'अन्विताभिधानवादिन: का0प्र0 द्वि उ0 पृ0 7

1- तत्रानैकान्तिकानेकवाक्यार्थो पलवे सति

अभिहितान्वयवाद की ही भांति अन्विताभिधानवाद के बीज भी हमें पतंजलि कृत महाभाष्य में मिलते हैं। अन्विताभिधानवाद की दृष्टि में वाक्य से ही व्यवहार होता है पद से नहीं एकार्थपरक पदसमूह वाक्य है। सभी पद परस्पर मिलकर वाक्यार्थ का बोध कराते हैं वाक्य का शाब्दबोध पदों की अन्विति से ही होता है तथा वाक्यार्थ की साक्षात् उपलब्ध होती है इसी तथ्य का प्रतिपादन भाष्यकार ने भी किया है।[1] कैयट ने भाष्यकार के मत की व्याख्या करते हुए कहा है कि अपने-अपने अर्थ को व्यक्त करने वाले पदवाक्य हैं तथा पदार्थ ही आकाङ्क्षा योग्यता एवं सन्निधिवश परस्पर संसृष्ट होकर वाक्यार्थ हो जाता है भर्तृहरि ने भी प्रक्रकर की मान्यता का प्रतिपदिन वाक्यपदीय में किया है

मीमांसक आचार्य शबर स्वामी द्वारा कथित कारिकों को अभिहितान्वय-वादियों की ही भांति अन्विताभिधानवादी आचार्य भी अपने मत के आधार के रूप में स्वीकार करते हैं, तथा उक्त कारिका की अपने सिद्धान्त के अनुकूल व्याख्या करते हैं उनका कहना है कि भाष्यकार के वाक्य में प्रयुक्त पदार्थ शब्द का अभिप्राय अन्वित से है, वाक्यार्थ का अभिप्राय अन्वय से है पद अन्वित होकर अन्वय का बोध कराते हैं।

पार्थसारथि ने इसे क्लिष्ट मार्ग माना है [5] उनके अनुसार भाष्यकार ने वाक्यार्थ में पदार्थ की निमित्तता स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दी है पदार्थ आकाङ्क्षा

न वै पदार्थादन्यस्यार्थस्योपलब्धिः भवति वाक्ये म॰ भा॰ ॰2॰45

2 पदानि स्वंस्वमर्थं प्रतिपादयन्ति वाक्यम् । पदार्था एव आकाङ्क्षा योग्यता सन्निधिवशात् परस्परं संसृष्टा वाक्यर्थं इत्यर्थः कैयट, प्रदीप ॰2॰45

3 नियतं साधनं साध्ये क्रिया नियत साधना
स सन्निधानमात्रेण नियमः सन् प्रकाश्यते । वा॰ प॰ ॰47

4 पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि
अथेदानीं पदार्था अवगता सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति । शा॰ ॰ ॰ ॰2

5- न्यायरत्नमाला पृ॰ 0

सन्निधि, और योग्यता के सहारे अन्वित होकर शाब्द-बोध कराते हैं ।

शाब्द बोध के अन्विताभिधानवाद में वाक्यार्थ संसृष्ट क्रिया माना जाता है । संसर्ग वाक्यार्थ और संसृष्ट वाक्यार्थ में केवल यह अन्तर है कि संसर्ग वाक्यार्थ पक्ष । में वाक्यार्थ में पदार्थों से वैशिष्ट्य माना जाता है जबकि संसृष्ट वाक्यार्थ पक्ष में पदार्थों का परस्पर भाव ही वाक्यार्थ है । दूसरे शब्दों में संसर्ग पक्ष में पदार्थों का वैशिष्ट्य वाक्यार्थ होता है जब कि संसृष्ट पक्ष में विशिष्ट पदार्थ ही वाक्यार्थ हैं । एक पद अपने अर्थ से अनुगत होकर दूसरे पदों से जुड़ता है । अतः पद अपनी ही प्रकृति से ही विशिष्ट होता है । वह सदा विशिष्ट रूप में ही पदान्तर के सन्निधि से श्रोता को शाब्द-बोध कराता है । इस तथ्य का संकेत भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में किया है ।[1] जिसका स्पष्टीकरण देते हुए पुण्यराज ने कहा है कि संसृष्ट पक्ष का प्रतिपादन है तथा अन्विताभिधानवाद के सर्वथा अनुकूल है ।[2]

अन्विताभिधानवाद का स्वरूप बताते हुए मानमेयोदय कार कहते हैं कि अन्विताभिधानवाद में सदैव अन्वित पदार्थों का ही अभिधान होता है, पद कभी भी अनन्वित पदार्थों का अभिधान नहीं करते । अपितु सभी पद उत्तर एवं पूर्व पद से अन्वित स्वार्थ का अभिधान करते हैं । शुद्ध अर्थ का नहीं ।[3] 'सामान्य' इस प्रकार

1- पूर्वैरर्थैरनुगतो यथार्थात्मा परः परः ।
संसर्ग एव प्रक्रान्तस्तथान्येष्वर्थवस्तुषु ।। वा॰प॰ 2·418

2- अनेन श्लोकेनान्विताभिधानसमाश्रयणेन संसृष्टं वाक्यार्थ प्रदर्शनं क्रियते ।
तथा हि अभिहितान्वयवादिनः पूर्वपूर्वार्थानुगतः संसर्गः वाक्यार्थः ।
अन्विताभिधानवादिनस्तु उत्तरोत्तर पदार्थान्वितः प्रथमतरमेव संसृष्ट एव ।
पुण्यराज, वा॰प॰ 2·418

3- सकलपदान्तर पूर्तान्वितरपदार्थैः समन्वितं स्वार्थम् ।
सर्वपदानि वदन्तीत्यन्येषामन्विताभिधानमतम् ।। मा॰ मे॰ पृ॰ 97

प्रथम बार श्रवण के द्वारा ही बोध होता है कि 'गो' पद उसी गो का बोधक है जो आनीयमान है तथा 'आनय' पद उसी क्रिया को द्योतित करता है जो कि गो में रही है अत: उसी के अनुसार पदों को ही अन्वय विशिष्ट अर्थ का वाचक हैमानना चाहिए, शुद्ध अर्थ का बोधक नहीं अर्थात् अन्वितरूप वाक्यार्थ पदों का अभिधेय ही होता है, पदार्थों द्वारा लक्षणीय नहीं क्यों कि पदों के पारस्परिक अन्वय द्वारा अभिधा के माध्यम से ही शाब्द-बोध माना जाता है । अत: स्पष्ट है कि अन्विताभिधान वाद के अनुसार वाक्य के समस्त पद परस्पर एक दूसरे से विशेष रूप से अन्वित पदार्थों का साक्षात् अभिधान कराते हैं इसी तथ्य का प्रतिपादन शालिकनाथ मिश्र ने प्रकरण पि चका में किया है

समीक्षा : शाब्द बोध के सिद्धान्त के रूप में अन्विताभिधानवाद को न स्वीकार करने वाले अभिहितान्वयवादी मीमांसक एवं नैयायिक तथा अखण्ड वाक्यार्थवादी वैयाकरण आचार्य उसका खण्डन करते हुए शाब्द-बोध के प्रति उसकी अयुक्तता प्रतिपादित करते हैं यथा -

अन्विताभिधानवाद के आलोचकों का आरोप है कि प्रभाकर मत अनुयायी वाच्यार्थ को ही वाक्यार्थ' मानते हैं किन्तु व्यवहार में अनेक स्थल ऐसे आ जाते हैं, जहां वाच्यार्थ से अभिप्रेत अर्थ की प्राप्ति नहीं होती वाक्य में पहले पदों से कुछ अर्थ ज्ञात होता है किन्तु जब वाक्यार्थ स्पष्ट होता है तो वह वाच्यार्थ नहीं होता इसी को स्पष्ट करते हुए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है :-

---

पदैरेवान्वितस्वार्थ मात्रेपक्षीण शक्तिधिय:
स्वार्थाश्चेद्बोधिताबुद्धौ वाक्यार्थोऽपि तथा सति ।
प्रधानगुणभावेन लब्धान्योन्य समन्वयात्
पदार्थानेव वाक्यार्थान् सङ्गिरन्ते विपश्चिता: ।। प्रकरण पञ्चिका पृ॰ 77

'अनडवहमुदहारि या त्वं हरसि शिरसा कुम्भं भाविनि साचीनमभिधावन्तम-द्राक्षीरिति म॰ भा॰ • •57'

इस वाक्य का वाच्यार्थ है 'हे पानी ले जानीवाली बहन जो कि तू सिर पर बैल को ले जा रही है क्या तूने तिरछे दौड़ते हुए घड़े को देखा है।' किन्तु यह वाच्यार्थ वाक्यार्थ नहीं है और न तो इससे शाब्द-बोध ही होता है। किन्तु पदार्थ का अन्वय करने पर ठीक-ठीक शाब्द बोध होता है यथा - हे पानी ले जाने वाली बहन, जो कि सिर पर घड़ा ले जा रही है क्या तूने तिरछे दौड़ते हुए बैल को देखा है। भर्तृहरि का आरोप है कि शाब्द-बोध के सिद्धान्त रूप में अन्विताभिधानवाद मानने पर पदार्थ वाच्यार्थ को ही वाक्यार्थ मानने पर वाक्य के अन्त में जो अन्य अर्थ का ज्ञान हुआ है, वह नहीं हो सकता [1]

इसके साथ ही कुछ व्यंग्यार्थ वाले वाक्य ऐसे होते हैं जो प्रत्यक्षतः तो निन्दापरक होते हैं किन्तु उनका व्यंग्यार्थ प्रशंसापरक होता है, साथ ही कुछ ऐसे भी वाक्य होते हैं जिनका वाच्यार्थ प्रशंसात्मक होता है किन्तु उन वाक्यों में निहित अर्थ निन्दात्मक होता है ऐसे वाक्यों का शाब्द-बोध 'वाच्यार्थ ही वाक्यार्थ है' मानने पर नहीं हो पाता [2] अतः अन्विताभिधानवाद का सिद्धान्त असंगत तथा युक्ति युक्त है

अन्विताभिधानवादियों का यह कथन कि वाक्य का शाब्दबोध वाक्यगत प्रथम पद से हो जाता है, वाक्य में प्रयुक्त शेष पद उस अर्थ को ही स्पष्ट करने के लिये हैं उचित नहीं हैं क्योंकि इस स्थिति में यदि एक ही पद से सम्पूर्ण वाक्य का

1 वा॰ प॰ 2•24

2 वा॰ प॰ 2• 4

शाब्द बोध हो जायेगा तो अन्य पदों का उच्चारण व्यर्थ माना जायेगा, क्योंकि वक्ता का अभीष्ट एक ही पद से पूरा हो जाने पर अन्य पदों का उच्चारण निष्प्रयोजन ही होगा [1] यदि यह कहा जाय कि सारे पदों से सामूहिक रूप से वाक्यार्थ की ज्ञान होता है तब अन्विताभिधान पक्ष ही सिद्ध नहीं होता । क्योंकि उच्चरित होने के तत्काल बाद ही पहला पद सत्ताहीन हो चुका होता है ऐसी स्थिति में अगले पदों से उसका अन्वय नहीं हो सकता है, अतः वाक्य के अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है । ऐसी स्थिति में इस सिद्धान्त को स्वीकार न करना ही संगत है ।[2]

अभिहितान्वयवादियों का कहना है कि अन्विताभिधानवाद गौरव दोष के कारण हेय है । क्योंकि अभिहितान्वयवाद में पदार्थ के स्मृति सिद्ध तथा वाक्यार्थ के लक्षणा सिद्ध होने के कारण वाक्य की वाक्यार्थ में शक्त्यन्तर मानने की आवश्यकता नहीं है जब कि अन्विताभिधानवाद में शक्त्यन्तर की कल्पना करनी पड़ती है [3]

- तत्रानभिहितस्वार्थान्तरान्वितस्वार्थाभिधाने पदादेकस्मा -
देवोच्चारिता द्विवक्षा प्रतीतेः वैयर्थ्यमितरेषाम तत्वविन्दु पृ॰ 93

2- यद्येकेन पदेन सकलवाक्यार्थस्याशेष विशेषणखचितस्यावगतिः
तदोत्तरेषां पदानां नियमानुवादाय वोच्चारणं स्यात
न चैतत् युक्तमिति वक्ष्यामः एकस्मादेव पदात् समस्तविशेषण
खचितस्य वाक्यार्थस्य प्रतीतेरुत्तरेषामानर्थक्यं स्यादेव
न च तस्मादेव वाक्यार्थ प्रतीतिः दृश्यते । - - - - पुण्यराज वा॰ प॰ 2

3- अस्मन्मते हि पदार्थानां स्मृतिसिद्धत्वाद् वाक्यार्थस्यापि लक्षणा सिद्धत्वाद्
शक्त्यन्तरकल्पनैवं नास्ति इति पदेषु शक्तिकल्पना प्रस्ताव एव भतां गौरवमायातम्
मा॰ मे॰ 99

साथ ही पदगत शक्ति की अपेक्षा पदार्थगत शक्ति की कल्पना में लाघव है [4] क्योंकि एक ही 'गमन रूप अर्थ के गमनम् चलनम् इत्यादि अनेक पद वाचक होते हैं अत: पदार्थ को वाक्यार्थ का बोधक मानने से जो कार्य पदार्थगत एक लक्षणा शक्ति से चलता है उसके लिये अन्विताभिधान पक्ष में पदों को वाक्यार्थ बोधक मानने में व्यर्थ ही अनेक पदों में अने शक्तियां माननी पड़ेंगी [5] साथ ही अन्विताभिधान पक्ष में प्रतिपद वाक्य भेद होने लगेगा कहीं भी एक वाक्यता सिद्ध नह होगी ।

अत: उक्त दोषों से युक्त होने के कारण अन्विताभिधानवाद शाब्दबोध के सिद्धान्त के रूप में असंगत सिद्ध होता है ।

अखण्ड वाक्यार्थवाद

वैयाकरण आचार्य वाक्य को निरवयव, एक तथा अखण्ड मानते हैं उनका कहना है कि वस्तुत: वाक्य एक तथा अखण्ड है किन्तु उसे समझने के उद्देश्य से उसमें विभागों की कल्पना की जाती है किन्तु मूल रूप में वाक्य अखण्ड है वैयाकरणों के इसी आशय को अभिव्यक्त करते हुए वाचस्पति मिश्र ने निरवयव वाक्य का उल्लेख

---

4 किं च पदशक्तित: पदार्थशक्तिरेव लघीयसी मा॰ मे॰ पृ॰ 99

5- तदा खलु गमनरूपस्यैकस्यैवार्थस्यान्वय बोधकत्वे कल्पिते गमनपर्याणामन्येषामपि अन्वय: सिद्धयति पदशक्तौ तु गमनार्थानामनन्तानां पदानां शक्ति: कल्पनीया इति गौरवम् मा॰ मे॰ पृ॰ 99

6 एकवाक्ये च सर्वपदै: प्रत्येकमितरान्वितस्वार्थे बोध्यमाने पदे-पदे वाक्यार्थ प्रत्ययोऽपि बलादापन्न इति कष्टतरमेतद् इति मा॰ मे॰ पृ॰ 99

माया द्वारा वर्ण और पद की मिथ्या प्रतीति के रूप में किया है द्वादश - रसायन चक्र[2] तथा स्याद्वाद रत्नाकर[3] में भी वैयाकरणों के अखण्ड वाक्यवाद का प्रतिपादन करते हुए वाक्य को निर्विभाग माना गया है वैयाकरण आचार्य भर्तृहरि ने अखण्ड वाक्य एवं उसके बोध को समझने के लिये चित्र का आश्रय लिया है यथा - प्रथम दृष्टि में पूर्ण चित्र हमारे समक्ष आता है और हम पूर्ण चित्र का ही प्रत्यक्ष करते हैं तत्पश्चात चित्र के विभिन्न अंगों का प्रत्यक्ष होता जिससे हम उनके रंग रूप आदि का ज्ञान करते हैं ठीक इसी प्रकार पूर्ण वाक्य का भी प्रत्यक्ष होता है, यद्यपि उसे के लिये उसके भागों की कल्पना की जाती है किन्तु वाक्य में विभाग कल्पना सर्वथा मिथ्या है तथा वह चित्र की भांति एक एवं अखण्ड है [4]

वाक्य को एक तथा अखण्ड मानने वाले वैयाकरण आचार्य अखण्ड वाक्य की भांति अखण्ड वाक्यार्थ को स्वीकार करते हैं उनका मानना है कि जैसे वाक्य एक है तथा अखण्ड है वैसे अर्थ भी एक है, अखण्ड है वाक्यार्थ का ज्ञान चित्र ज्ञान की भांति है, जैसे शब्द को कोई विभाग नहीं होता वैसे अर्थ का भी कोई विभाग नहीं होता। जैसे पदार्थ के ज्ञान में वर्ण के अर्थ पर ध्यान नहीं जाता वैसे ही वाक्य के अर्थ के लिये पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती और अखण्ड वाक्य अखण्ड वाक्यार्थ की प्रतीति करता है वाक्य को खंडित कर अर्थ ग्रहण करना तो अल्प बुद्धि वालों के लिये उपाय मात्र है [5]

अनवयमेव वाक्यम् अनाद्यविद्योपदर्शितालोकवर्णपद विभागमस्या: निमित्तनितिकेचित
तत्वबिन्दु पृ• 6 मद्रास संस्करण

2- एकोऽनवयव शब्दो वाक्यार्थ: । भवनस्यानवत्वत् इह तुद्रवति भवतीति द्रव्यं भवनं भाव:
द्वादशरसायनचक्र पृ• 30

3- अन्ये तु ओङ्कारोऽनवयव: शब्द: परिकल्पित-वर्ण-पदविभागो वाक्यमित्याहु:
स्यादवादरत्नाकर पृ• 645

4- चित्रस्यैक रूपस्य यथा भेदनिदर्शनै: । नीलादिभि: समाख्यानं क्रियते भिन्नलक्षणै:
तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकाङ्क्षस्य सर्वत: शब्दान्तरै: समाख्यानं आकाङ्क्षैरनुगम्यते
वा•प• 2 श्लोक ,9

वाक्यार्थ को निरवयव तथा अखण्ड मानने वाले आचार्य 'प्रतिभा' को वाक्यार्थ मानते हैं नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा ही प्रतिभा है नागेश ने वाक्यार्थ रूप में प्रतिभा को स्वीकार करते हुए कहा है कि वाक्यार्थ प्रतिभा का ही विषय हैं, अतः प्रतिभा का विषय होने से वाक्यार्थ के लिये प्रतिभा शब्द का प्रयोग किया जाता है [1] आचार्य भर्तृहरि ने भी प्रतिभा को वाक्यार्थ के रूप में स्वीकार किया है उनका कहना है वाक्य का पदगत विश्लेषण प्रतिभा में ही उत्पन्न होता है अतः प्रतिभा ही वाक्यार्थ है [2]वाक्य पदीय के टीकाकार पुण्यराज ने भी वाक्यार्थ को प्रतिभा माना है उनके अनुसार शब्द स्फोट है और अर्थ प्रतिभा है । स्फोट लक्षण शब्द में कोई विभाग नहीं है तथा वाक्यार्थ लक्षण प्रतिभा भी विभाग रहित है [3] यद्यपि इस प्रतिभा को दूसरों को बता पाना दुष्कर है परन्तु इस कारण इसके स्वरूप का निषेध नहीं किया जा सकता यह स्वसंवेदन का विषय है प्रत्येक व्यक्ति स्वयं इसका अनुभव करता है, परन्तु उसका लक्षण नहीं कर पाता, उसके स्वरूप को नहीं समझ पाता, फिर अन्य के लिये उसका लक्षण कैसे किया जा सकता है [4] यद्यपि प्रतिभा का

1- वाक्यार्थस्तु - प्रतिभामात्र विषयः xx x

प्रतिभाविषयत्वाच्च प्रतिभा वाक्यार्थः इति व्यवहार इत्यलम् । वै॰सि॰ल॰म॰पृ॰ 397

2- विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते

वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम् वा॰प॰ 2॰ 44

3- तत्र वैयाकरणस्याखण्ड एवैकोऽनवयवः शब्दः स्फोटलक्षणो

वाक्यं प्रतिभैव वाक्यार्थः पुण्यराज वा॰ प॰ 2॰

4- इदं तदिति सान्येषामनाख्येया कथंचन

प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कर्त्रापि न निरूप्यते वा॰ प॰ 2॰ 44

प्रत्यय नहीं होता किन्तु उसके कार्य हमें स्पष्टरूपेण परिलक्षित होते हैं - इसका प्रधान कार्य वाक्य के विभिन्न शब्दों से अभिहित अर्थों का संश्लेषण है । इसका स सम्बन्ध सम्पूर्ण वाक्य से होता है जिस पर वह निर्भर रहती है ।[1] इस प्रकार प्रतिभा के अनाख्येय होने पर भी हम उसके कार्यों का प्रत्यक्ष करते हुये उसका साक्षात्कार कर वाक्यार्थ को प्राप्त करते हैं

यह प्रतिभा समस्त प्राणियों में स्वत: उदभूत होती है ।[2]यह प्रथ विशेषों के परिपाक से बिना प्रयत्न उत्पन्न होने वाली मदशक्ति के समान है तथा पदार्थ से भिन्न है । इसी प्रतिभा के कारण पशु-पक्षी अपना स्वाभाविक कार्य सम्पन्न करते हैं । इसी के कारण चिड़ियाँ समय आने पर अपने घोसले बनाती है और कोयल बसंत में कूकती है [3]

भर्तृहरि की दृष्टि में प्रतिभा एक तरह की आन्तरिक बुद्धि है, जो अत्यन्त व्यापक है यह प्रतिभा विभिन्न स्थितियों का भलीभाँति आकलन कर हमें उस परिस्थिति के अनुकूल आचरण करने के लिये प्रेरित करती है [4] वह कभी

- - - - - - - - - - - -

1- उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता
 सार्वरूप्यमिवायन्ना विषयत्वेन वर्तते वा॰ प॰ 2॰ 45

2- यथा द्रव्य विशेषाणां परिपाकैरयत्नजा:
 मदादिशक्तयो दृष्टा: प्रतिभास्तद्वतां तथा ।। वा॰प॰ 2॰ 4

3-(अ) प्रतिभा च - जन्मान्तरसंस्कारजाऽपि यथा मयौविकस्य पञ्चम स्वर-
 विरावो जन्मान्तरसंस्कारज: । अतएव शाङ्गमस्ति इत्यादितोऽपि स: ।
 वै॰सि॰ल॰म॰पृ॰ 397

(ब) स्वरवृत्तिं विकुरुते मधौ पुंस्कोकिलस्य क:
 जन्त्वादय: कुलायादिकरणे केन शिक्षिता: । वा॰प॰ 2॰ 49

4 अनन्तरमिदं कार्यमस्मादित्युपदर्शनम् वा॰प॰ 2॰1

किसी शब्द से अभिव्यक्त होती है और कभी अनादिवासना संस्कार से उद्भूत होती है लोक प्रतिभा को प्रमाण मानता है । यह अन्तस् से उद्भूत होती है पुण्यराज के अनुसार कालिदास का यह कथन कि 'सन्देह के समय वस्तुओं के सन्दर्भ में अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती हैं । प्रतिभा को ही प्रमाणित करता है इसी अन्तर प्रतिभा ने ही दुष्यन्त को बताया था कि शकुन्तला क्षत्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य है अतः हमारा अन्तकरण जो ज्ञान देता है वह प्रतिभा है इस प्रतिभा को सभी प्रमाण मानते हैं [2] अतः प्रतिभा को वाक्यार्थ मानना सर्वथा उचित एवं युक्तियुक्त है

प्रतिभोत्पत्ति के निमित्त एवं प्रतिभा के भेद

वैयाकरण आचार्य प्रतिभा की उत्पत्ति नानाविध मानते हैं । उनका मानना है कि प्रतिभा की उत्पत्ति के हेतु अनेक हैं जिनमें से कुछ-कुछ का परिगणन आचार्यों द्वारा किया गया है वाक्यपदीयकार भर्तृहरि प्रतिभा की उत्पत्ति में मूलभूत रूप से छः कारण मने हैं । ये छः कारण हैं - स्वभाव, चरण, अभ्यास, योग, अदृष्ट तथा विशिष्टोपहित।[3] तथा प्रतिभा के मूल में निहित इन्हीं छः कारणों के आधार पर प्रतिभा को छः भेदों म विभाजित किया है । यथा -

---

1- सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः अभिज्ञानशकुन्तलम् अंक

2- प्रमाणत्वेन तां लोकः समनुपश्यति ।
समारंभाः प्रतायन्ते तिरश्वामपि तद्वशात् । वा॰प॰ 2॰148

3- स्वभावचरणाभ्यासयोगा दृष्टोपपादिताम् ।
विशिष्टोपहितां चेति प्रतिभां षड्विधांविदुः ।। वा॰प॰ 2॰ 53

- स्वभावजन्या प्रतिभा ।
2 वरण जन्या प्रतिभा
3- अभ्यास जन्या प्रतिभा
4- योग जन्या प्रतिभा
5- अदृष्टोपपादिता प्रतिभा
6- विशिष्टोपपादिता प्रतिभा

<u>स्वभावजन्या प्रतिभा :-</u> भर्तृहरि प्रतिभा का प्रथम एवं मूल हेतु स्वभाव मानते हैं इसी कारण वे सर्व प्रथम स्वभाव जन्या प्रतिभा का भी उल्लेख करते हैं इस प्रतिभा के अन्तर्गत पशु-पक्षी आदि की स्वभावत: स्वजात्यानुकूल चेष्टा में समर्थ नैसर्गिक ज्ञान का विचार आता है । पुण्यराज के अनुसार बन्दर आदि में जो प्रतिभा देखी जाती है वह स्वभावजन्या प्रतिभा ही है । सम्भवत: भर्तृहरि स्वभावजन्या प्रतिभा का आधार 'सत्ता' को मानते हैं । जिस प्रकार सुषुप्तावस्था में ज्ञान की सत्ता होते हुए भी वह अप्रबुद्ध सा होता है पर नींद के समाप्त हो जाने पर वह ज्ञान स्वत: उद्भूत हो जाता है उसी प्रकार स्वभावजन्या प्रतिभा भी संस्काररूप में अनादि अभ्यास वश सत्ता में पड़ी रहती है और सत्ता के भाव विकार के रूप में विवर्त होने पर प्रकट हो जाती हैं [2]

---

1 स्वभावेन यथा कपि: वा॰प॰ 2॰ 153 पर पुण्यराज

2- परस्या: प्रकृते: प्रथमं सत्तालक्षणमात्मानं महान्तं प्रत्यानु गुण्यम् सुषुप्तावस्थयेव प्रबोधानुगुण्यम् फल सत्तामात्रं निद्राया: - - -
वा॰प॰2॰ 53 पर हरिवृत्ति

चरणजन्या प्रतिभा :- भर्तृहरि के अनुसार प्रतिभा का दूसरा हेतु - चरण है चरण के तात्पर्य के सम्बन्ध में वाक्यपदीय के टीकाकार मौन हैं भर्तृहरि भी प्रश्न उठाकर अधर में छोड़ दिये हैं। किन्तु उनके वाक्योल्लेख से अनुमान लगता है कि उनका चरण पद से अभिप्राय सम्भवतः आचरण, तपस्याजन्य ज्ञान या वेद के सम्प्रदाय से है [1] वस्तुतः शिष्टजनों को उनके आचरण, तपस्या एवं वैदिक ज्ञानादि से ही भूत और भविष्य को भी प्रत्यक्ष की भांति देखोने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। यह शक्ति ही चरणजन्या प्रतिभा है।[2] वसिष्ठादि मुनियों की भूत एवं भविष्य देख सकने की शक्ति ही इस चरणजन्या प्रतिभा का प्रतीक है।

अभ्यासजन्या प्रतिभा :- प्रतिभा का वह रूप जो निरन्तर अभ्यास किये जाने के फलस्वरूप व्यक्ति को प्राप्त होती है, अभ्यासजन्या प्रतिभा कहलाती है यथा - किस स्थान पर कूप, तड़ागादि के उद्देश्य से पानी प्राप्त होगा इस सन्दर्भ में निर्देश करने वाली प्रतिभा अभ्यासजन्या प्रतिभा होती है [3] क्योंकि हर व्यक्ति तो यह बता नहीं सकता कि पृथ्वी में जल कहां उपलब्ध होगा। इस प्रकार की भविष्यवाणी के लिये निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होती है। फलतः निरन्तर अभ्यास किये जाने के फलस्वरूप उद्बुद्ध होने वाली प्रतिभा को अभ्यासजन्या प्रतिभा के नाम से भर्तृहरि संबोधित करते हैं

- - - - - - - - - -

1- चरणनिमित्ता काचित् प्रतिभा। तद्यथा - का रणैवाव्यक्त प्रकाशविशेषाणां वसि (ष्ठादीनाम्) वा॰प॰ 2॰153 पर हरिवृत्ति

2 आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसां अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्नविशिष्यते। अतीतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा। ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते।। वा॰प॰ ॰37॰3

3- अभ्यास निमित्ता काचित् तद्यथा कूपत्टाकादीनां। वा॰प॰ 2॰ 53 हरिवृत्ति

योगजन्या प्रतिभा :- योगजन्या प्रतिभा का अभिप्राय उस शक्ति से है जिसके द्वारा व्यक्ति दूसरे के मनोगत भावों को भलीभांति समझ लेता है। योग के द्वारा व्यक्ति में ऐसी शक्ति का अविर्भाव होता है अतः इस शक्ति को भर्तृहरि ने योगजन्या प्रतिभा के नाम से सम्बोधित किया है

अदृष्टोपपादिता प्रतिभा :- भर्तृहरि के अनुसार पितरों, भूत, प्रेत, पिशाचों तथा राक्षसों में ऐसी शक्ति होती है जिसके बल पर अदृष्ट रहते हुए ही दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं तथा अन्तर्ध्यान हो जाते हैं।[2] इस शक्ति को ही भर्तृहरि ने अदृष्टोपादिता प्रतिभा का नाम दिया है पितरों, राक्षसों, तथा पिशाचों में ऐसे ज्ञान होते हैं जो प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम ज्ञान से भिन्न होते हैं।[3] यह शक्ति अर्थात् अदृष्टोपपादिता प्रतिभा व्यक्ति के पूर्व जन्मों के कर्मों का फल होती है

विशिष्टोपहिता प्रतिभा :- जब कभी कोई व्यक्ति अपनी शक्ति किसी अन्य व्यक्ति में संक्रमित कर उसे भी उस शक्ति विशेष से युक्त कर देता है तो ऐसी शक्ति को विशिष्टोपहिता प्रतिभा के नाम से जाना जाता है। कृष्ण द्वैपायन ने अपनी शक्ति को संजय को प्रदान कर ऐसी ही शक्ति से युक्त बनाया था जिसके बल पर वे महाभारत के विशाल युद्ध को समग्रतः या खण्डशः देख सकते थे इस प्रकार स्पष्ट है कि अन्य द्वारा अन्य में आक्षिप्त प्रतिभा विशिष्टोपहिता प्रतिभा होती है

योगनिमित्ता काचित् तद्यथा योगिनामव्याभिचारेण पराभिप्रायज्ञानादिषु
वा॰प॰ 2·153 पर वृत्ति

2- तथा काचिद दृष्टनिमित्ता तद्यथा रक्षः पिशाचादीनां परावेशान्तर्धानादि।
वा॰प॰ 2·153 पर वृत्ति

3- प्रत्यक्षमनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः
पितृरक्षःपिशाचानां कर्मजा एव सिद्धयः। वा॰प॰ 1·36

वस्तुत: प्रतिभा का वर्णन वैयाकरण आचार्यों द्वारा व्यापक रूप से किया गया है, भर्तृहरि ने तो इसे अपना आधार ही बनाया है जिस कारण उनका दर्शन ही प्रतिभा दर्शन के नाम से विख्यात हो गया है। वस्तुत: प्रतिभा अन्तर्चेतना का तत्व है जो पशु-पक्षी आदि से लेकर वसिष्ठ आदि ज्ञानियों ऋषियों सभी में पाया जाता है। सभी इसे प्रमाण मानते है।[1]

समीक्षा तथा निष्कर्ष :- वैयाकरण आचार्यों ने वाक्य को अखण्ड मानते हुए प्रतिभा को वाक्यार्थ माना है। वस्तुत: वाक्य अखण्ड ही होता है। क्योंकि वाक्य में पद एवं पदार्थ को स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने पर, वाक्यगत पद एवं पदार्थ का ही बोध होना चाहिए किन्तु व्यवहार में पद एवं पदार्थ का ही बोध न होकर पद एवं पदार्थ के अतिरिक्त अन्य का भी बोध होता है, जो वाक्य की अखण्डता एवं पद तथा पदार्थ से अलग उसकी सत्ता को प्रमाणित करता है।

वस्तुत: वाक्य पूर्ण अर्थ का द्योतक होता है। पदों की संख्या के आधार पर उसके स्वरूप को निर्धारित नहीं किया जा सकता। पूर्ण अर्थ का अभिधान करने वाला वाक्य एक या दो पद का भी हो सकता है साथ ही उसमें अनेक पद भी हो सकते हैं। वाक्य के स्वरूप में पदों की संख्या का कोई महत्त्व नहीं है। अर्थात अर्थ को पूर्ण रूपेण प्रकाशित करने में समर्थ एक या अनेक पद ही वाक्य हैं। वाक्य ही शाब्द बोध की इकाई है। वक्ता द्वारा उच्चरित शब्दों का पूर्णरूपेण अर्थबोध श्रोता द्वारा श्रवण किये गये वाक्य की पूर्णता पर निर्भर करता है।

1- प्रमाणत्वेन तां लोक: सर्व: समनुपश्यति।
समारम्भा: प्रतीयन्ते तिरश्चामपि तद्वशात्। वा॰ प॰ 2·147

वक्ता द्वारा उच्चरित अखण्ड वाक्य ही श्रोता को वाक्यार्थबोध करा सकने में सक्षम होता है । व्यवहार में भी हम देखते हैं कि जब वक्ता वाक्य का पूर्णरूपेण उच्चारण न कर खण्ड कर उसका उच्चारण करता है तो उससे श्रोता को कोई अर्थबोध नहीं होता यथा 'रामः गृहं गच्छति' एक वाक्य है,।जिसका कथन करने वाला वक्ता यदि उसका पूर्णरूपेण उच्चारण नककर मात्र रामः या गृहं, या गच्छति पद का उच्चारण करता है, तथा शेष पदों का उच्चारण अपनी इच्छानुसार कि कुछ कालावधि के बाद करता है तो वक्ता द्वारा समस्त पदों का उच्चारण किये जाने पर भी श्रोता को'रामः गृहं गच्छति' वाक्य के अर्थ 'राम घर जाता है' का बोध नही होता इसके विपरीत समस्त वाक्य का उच्चारण एक साथ किये जाने पर श्रोता को उक्त प्रकार का अर्थबोध तुरन्त हो जाता है, जो यह प्रमाणित करता है कि वाक्य अखण्ड है तथा अखण्ड रूप में ही वह वाक्यार्थबोध या शाब्द बोध कराता है यह वाक्यार्थ बोध या शाब्द-बोध भी अखण्ड वाक्य की ही तरह अखण्ड होता है । अर्थात अखण्ड वाक्य के साथ ही साथ अर्थ भी अखण्ड ही होता है फलस्वरूप वाक्य या अर्थ का विभाजन कर अर्थ बोध नहीं किया जा सकता है ।

कुछ आचार्य जो वाक्यार्थबोध के सन्दर्भ में 'अभिहितान्वयवाद' या 'अन्विताभिधानवाद' को प्रश्रय देते हैं, उनकी मान्यता उचित नहीं है क्योंकि वाक्यगत पदों का पदशः विभाजन कर अर्थबोध करने में वस्तुतः वाक्य का अर्थबोध नहीं होता अपितु वाक्यार्थबोध के स्थान पर पदार्थ बोध होता है, और उस पदार्थ समूह का अन्वय करना पड़ता है जिसमें व्यर्थ का गौरव है जबकि वाक्य को अखण्ड मानने पर ऐसी कोई भी कठिनाई सामने नहीं आती यद्यपि भर्तृहरि आदि वैयाकरण आचार्यों ने भी वाक्य के पदशः विभाजन को स्वीकार किया है, किन्तु वे यह विभाजन वाक्य को व्याख्यापित करने तथा उसको सुगम बनाने की दृष्टि से ही करते हैं ।

अनुस्यूतेव संसृष्टैरर्थैः बुद्धिः प्रवर्तते
व्याख्यातारो विभज्याथ तां भेदेन प्रचक्षते वा॰ प॰ वृ॰ स॰ 92

वस्तुत: वे वाक्य को अखण्ड मानते हैं, तथा उसके पदगत विभाजन को अल्पज्ञों द्वारा अर्थबोध की दृष्टि से किया जाने वाला प्रयास बताते हैं। उनका मानना है कि वाक्य वस्तुत: अखण्ड तथा निरवयव है।[1] साथ ही वाक्य को पदों में विभाजित करना पूर्णरूपेण कल्पना पर आधारित है।जो अर्थ बोध की दृष्टि से उपायमात्र ही है उसका कोई सुदृढ़ आधार नहीं है।

मीमांसक तथा नैयायिक आचार्य यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित कर सकते हैं कि जब वैयाकरण अखण्ड वाक्य एवं अखण्ड वाक्यार्थ को स्वीकार करते हैं, तो वाक्य के अखण्ड होने पर वाक्यार्थ बोध किस प्रकार सम्भव है। यदि किसी प्रकार वाक्यार्थ बोध हो भी जाता है तो उससे अखण्ड वाक्यार्थ की प्राप्ति तो हो ही नहीं सकती।

वैयाकरण आचार्यों ने 'प्रतिभा' को वाक्यार्थ के रूप में स्वीकार कर आलोचकों के उक्त प्रश्न का सफलता पूर्वक सम्यक समाधान कर न केवल आलोचकों को उत्तर देने में सफलता प्राप्त की है वरन् आलोचकों को उत्तर देने के साथ ही वाक्यार्थ के रूप में 'प्रतिभा' की प्रतिष्ठापना की है। भर्तृहरि आदि की स्पष्ट मान्यता है कि प्रतिभा ही वाक्यार्थ है।

वैयाकरण आचार्य अखण्डवाक्य का अखण्ड वाक्यार्थबोध 'प्रतिभा' के रूप में स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि सर्वप्रथम प्रतिभा अखण्ड वाक्य को स्वरूपत: ग्रहण करती है तदनन्तर वह वाक्यार्थ को प्राप्त हो जाती है। फलत: अखण्ड वाक्यार्थ की प्राप्ति हो जाती है। वस्तुत: प्रतिभा ही वाक्यार्थ है। अर्थ बुद्धि का विषय है, बुद्धि उसे सहज एवं समग्र रूप में ही ग्रहण करती है किन्तु अल्प बुद्धि वाले लोग, सुविधा की दृष्टि से उसे विभक्त रूप में पूरी तरह से देखने का प्रयास करते हैं, फलत: सामान्य जन इसे ही वास्तविक मान लेते हैं और विशेषण विशेष्य आदि के भेद से उसी एक पद को विभक्त समझ बैठते हैं, जो उचित नहीं है।

1- उपायमात्रं नानात्वं समूहस्त्वेक एव स:। विकल्पाभ्युच्चयाभ्यां वा भेदसंसर्गकल्पना ।।
वही 96

स्पष्ट है कि वैयाकरणों द्वारा मान्य सिद्धान्त ही सुसंगत है । वस्तुतः वाक्य अखण्ड तथा निरवयव होता है । वाक्य के ही सदृश उसके साथ ही साथ वाक्यार्थ भी अखण्ड होता है । तथा अखण्ड वाक्य से अखण्ड वाक्यार्थ की प्राप्ति 'प्रतिभा' के माध्यम से प्राप्त होती है . जिसे भर्तृहरि आदि वैयाकरण वाक्यार्थ ही मानते है ।

अतः शाब्दबोध सम्बन्धी विभिन्न मतों में से वैयाकरणों का अखण्ड वाक्यार्थवाद ही सुसंगत तथा युक्तियुक्त होने के कारण ग्राह्य है । वस्तुतः प्रतिभा ही वाक्यार्थ है तथा प्रतिभा ही अखण्ड वाक्य के अखण्ड अर्थ का बोध कराने में सक्षम है ।[2]

अखण्ड वाक्यार्थवाद एवं समास

वैयाकरण आचार्य वाक्य की ही भांति समस्त पदों को अखण्ड तथा निरवयव मानते हैं । किन्तु अविभाज्य होने से समान प्रतीत होने वाले समास तथा वाक्य समान नहीं हैं बल्कि उनमें कुछ मौलिक अन्तर है यद्यपि कुछ लोगों ने उनकी कतिपय साम्यताओं को देखकर उन्हें एक माना है - वाक्य तथा समास को एक मानने वाले आचार्यों का कहना है कि वाक्य तथा समास दोनों एक ही शब्दों से बनते हैं तथा दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ में एक दूसरे के विकल्प के रूप में किया जाता है । उदाहरण के लिये 'नीलम् उत्पलम्' वाक्य में दो शब्द परस्पर समानाधिकरण हैं तथा

1- तदात्मन्यविभक्ते च बुद्ध्यन्तरमुपाश्रिताः ।
विभागमेव मन्यन्ते विशेषण विशेष्ययोः ।। वा॰प॰वृ॰स॰ 93

2- वाक्यार्थश्च प्रतिभामात्रविषयः । x x x x ।
प्रतिभाविषयत्वाच्च प्रतिभा वाक्यार्थः इति व्यवहार इत्यलम् । वै॰सि॰ल॰म॰पृ॰397

उनमें परस्पर विशेषण विशेष्य सम्बन्ध भी है । जो 'नीलोत्पलम्' समस्त पद में भी है । साथ ही 'नीलोत्पलम' यह समस्त पद तथा 'नीलम उत्पलम' यह वाक्य दोनों ही 'नीला कमल' इस अर्थ की अभिव्यक्ति भी करते हैं । अतः स्पष्ट है कि वाक्य तथा समास एक हैं ।

किन्तु वैयाकरण आचार्य उक्त मत को स्वीकार न कर दोनों को अलग-अलग मानते हैं । उनका कहना है कि वस्तुतः समास वाक्य की ही भांति अखण्ड है किन्तु अखण्ड होने से तथा अखण्ड समास की व्याख्या वाक्य की ही भांति होने से दोनों एक नहीं हो जाते । क्योंकि जो अखण्ड है उसका विभाजन कर शास्त्र में व्याख्या नहीं दी जा सकती । कुछ लोग समस्त पदों का विभाजन कर लौकिक वाक्यों के सदृश वाक्यों का समस्त पदों के लिये प्रयोग करते हैं, किन्तु वह युक्तियुक्त नहीं है ।

वस्तुतः वे एक हैं, अखंड हैं तथा अवयवरहित हैं । उनका अवयवों में विभाजन कर उन्हें वाक्य के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता । जिस प्रकार 'वृक्ष' आदि पद अवयवरहित होते हैं उसी प्रकार 'नीलोत्पलम्' आदि समस्त पद अवयवहीन एक तथा अखण्ड होते हैं ।[1] वे एक बुद्धि (प्रतिभा) द्वारा ग्राह्य एकार्थ के द्योतक हैं । समास में एकार्थकता होती है अतः यह वाक्य से सर्वथा भिन्न है । कदाचित् इन दोनों में परिलक्षित होने वाला साम्य भी भ्रम ही होता है । वस्तुतः ये दोनों पृथक-पृथक हैं तथा दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है । इन्हें एक नहीं माना जा सकता ।

किन्तु समास को अखण्ड मानने पर भी उसके अर्थबोध के लिये 'वृत्ति' की सहायता ली जाती है । इस 'वृत्ति' प्रयोग के माध्यम से ही समस्त पदों का अर्थ बोध

1- पदं यथैव वृक्षादि विशिष्टेऽर्थे व्यवस्थितम् ।
नीलोत्पलद्यपि तथा भागाभ्यां वर्तते बिना ।। वा॰प॰वृ॰स॰ 53

सम्भव हो पाता है । अतः समस्त पदों एवं उसकी वृत्ति अर्थ के आधार पर समान है ऐसी स्थिति में समास को अखण्ड नहीं माना जा सकता[1] वस्तुतः वृत्ति रूप व्याख्या समास का ही रूप है । इसका समाधान करते हुए वैयाकरण आचार्य कहते हैं कि समस्त पदों की वृत्ति रूप में व्याख्या कर उसका अर्थ बोध करना मन्दबुद्धि के लोगों द्वारा प्रयोग में लाया जाने वाला उपाय मात्र है ।[2] तथा वृत्ति एवं समास को, एक ही स्थान पर एक दूसरे के विकल्प के रूप में प्रस्तुत भी नहीं किया जा सकता है ।[3]

वस्तुतः समास अखण्ड है, अर्थ बोध के लिये समस्त पदों के आधार पर वृत्ति की कल्पना करना या उपसर्जन आदि की कल्पना करके उसका विभाजन करना सर्वथा व्यर्थ है । समस्त पदों का अर्थबोध तो सम्बन्धित वाक्य के प्रसंग एवं समस्त पदों के वाक्यगत अन्य पदों के साथ अन्वय से स्वतः हो जाता है, अतः समस्त पदों का विभाजन करना व्यर्थ एवं अनावश्यक प्रयास है ।[4]

अखण्ड समस्त पद बुद्धि का विषय बनकर अपना अर्थबोध कराते हैं । बुद्धि या प्रतिभा समस्त पदों को प्रकरण के आधार पर ग्रहण करती है तथा उस

1- अर्थात्प्रकरणाद्वापि यत्रापेक्ष्यं प्रतीयते ।
सामर्थ्यादनपेक्ष्यस्य तस्य वृत्तिः प्रसज्यते ।। वा०प० वृ० स० 444

2- अबुधान् प्रति वृत्तिं च वर्तयन्तः प्रकल्पिताम ।
आहुः परार्थवचने त्यागाभ्युच्चयधर्मताम् । वा॰प॰वृ॰स॰ 95

3- समुदायस्य वृत्तौ च नैकदेशो विभाष्यते
भेद एव विभाषायां नियतो विषयोयतः ।। वा॰प॰वृ॰स॰ 58

4- अन्वयाद् गम्यते सोऽर्थो, विरोधी वा निवर्तते ।
व्यर्थमर्थान्तरे वाऽपि तत्राहुरुपसर्जनम् । वा॰प॰वृ॰स॰ 95

प्रकरण के सन्दर्भ में समस्त पदों का युक्तियुक्त अन्वय कर अर्थ बोध करती है ।
समस्त पदों के अर्थ बोध कोकस्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि - अर्थ बुद्धि
का विषय है, बुद्धि उसे अखण्ड रूप में ग्रहण कर अर्थ निकालती है । व्याख्याता
लोग व्याख्याकाल में उसका विभाजन करते हैं तथा इस विभक्त स्वरूप को वास्तविक
मान लेते हैं और विशेषण विशेष्य आदि के भेद से उसी एक एवं अखण्ड पद 'समस्त पद'
को विभक्त एवं वृत्ति रूप समझ बैठते है ।[1] जब कि वास्तविक रूप में ऐसा होता
नहीं है । समस्त पद अखण्ड रूप में ही बुद्धि के विषय बनते हैं तथा बुद्धि उन्हें अखण्ड
रूप में ग्रहण कर अर्थ का व्याख्यान करती है ।

स्पष्ट है कि समास एक तथा अखण्ड पद है, उनके विभाजन की कल्पना
करना मिथ्या प्रयास है । साथ ही अखण्ड 'समस्तपद' अखण्ड रहते हुए ही बुद्धि के
विषय बनकर अखण्डार्थ का प्रतिपादन करते हैं ।

<u>समीक्षा तथा निष्कर्ष :-</u> वैयाकरण आचार्य वाक्य की ही भांति समास को भी
अखण्ड मानते हैं । यद्यपि उन्होंने समासों में एकार्थीभाव
की उद्भावना की है जो समासों को अविभाज्य होने के स्थान पर विभाज्य रूप में

1- अनुस्यूतेव संसृष्टैरर्थे बुद्धिः प्रवर्तते । व्याख्यातारो विभज्याथ तां भेदेन प्रचक्षते ।।
तदात्मन्यविभक्ते च बुद्ध्यन्तरमुपाश्रिताः । विभागानिव मन्यन्ते विशेषणविशेष्ययोः ।।
वा॰प॰वृ॰स॰ 92,93

2- बुद्ध्यैकं भिद्यते, भिन्नमेकत्वं चोपगच्छति ।
बुद्ध्यावस्था विभज्यन्ते, साद्यर्थस्य विधायिका ।।
व्यपदेशिवदेकस्मिन् बुद्ध्या नानार्थ कल्पना ।
तथा कल्पितभेदः सन् अर्थात्मा व्यपदिश्यते ।। वा॰ प॰ वृ॰स॰ 15,16

प्रकट करता है । फिर भी वे समास को अखण्ड ही मानते हैं । वस्तुत: समस्त पद में विभिन्न अवयवों का एकार्थीभाव नहीं होता वरन् समस्त पद में विभिन्न अवयव एकार्थीभूत होते हैं, जिन्हें समस्त पद से पृथक करना दुष्कर ही नहीं असम्भव है । यथा - 'राजपुरुष:' पद में 'राज्ञ:' एवं 'पुरुष:' इन दोनों का एकार्थीभाव होकर इन दोनों का समास नहीं होता अपितु 'राजपुरुष:' इस समास में 'राज्ञ:' एवं 'पुरुष:' दोनों एकार्थीभूत हैं तथा इन दोनों को राजपुरुष: में से पृथक् नहीं किया जा सकता । वस्तुत: समास अखण्ड तथा निरवयव है जैसा कि वैयाकरण मानते हैं, और यह निरवयव तथा अखण्ड समास ही अपने अर्थ का बोध कराता है ।

कतिपय लोग अविभाज्य तथा निरवयव समस्त पदों के अर्थ प्राप्ति की दृष्टि से उनका विभाजन करते हैं, तथा उन्हें विभाज्य मान लेते हैं । किन्तु, वस्तुत: अर्थ प्राप्ति के उद्देश्य से किया गया समस्त पदों का विभाजन वास्तविक न होकर काल्पनिक होता है । जो अर्थ बोध न कर सकने वाले लोगों को सरलतम ढंग से अर्थ बोध कराता है । वैयाकरण आचार्य समस्त पदों के विभाजन को सर्वथा असत्य तथा काल्पनिक मानते हैं । वे यह प्रतिपादित करते हैं कि समस्त पद अखण्ड तथा निरवयव हैं तथा इस रूप में ही रहते हुए अपने अर्थ को प्रकाशित करते हैं । समस्त पदों के अर्थ बोध के लिये उनका खण्डश: विभाजन करना अयुक्तियुक्त है । वस्तुत: वे अखण्ड हैं तथा रहते हुए ही अपने अर्थ के बोधक होते हैं । खण्डश: विभाजन किये जाने पर समास का तो अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है और उसके स्थान पर समस्त पद से अर्थ साम्य रखने वाला वाक्य उपस्थित हो जाता है जो स्वरूपत: समास से भिन्न है ।

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि समास अखण्ड है और अखण्ड रूप में ही रहकर अपने अर्थ का बोधक होता है, तो आखिर वह किस प्रकार अपने अर्थ को बोध कराता है । वैयाकरणों का कहना है वस्तुत: अर्थ की

बोधक बुद्धि होती है वह अखण्ड पदों समासादि का प्रत्यक्ष कर उनका अर्थबोध करती है । यह अर्थ बोधक शक्ति मानव में ही नहीं पशु पक्षियों में भी देखी जाती है । वैयाकरणों का कहना है कि प्राणियों में विद्यमान प्रतिभा ही वाक्यार्थ है । यहाँ पर एक प्रश्न पुन: उपस्थित किया जा सकता है कि यदि प्रतिभा ही वाक्यार्थ है, वही समासार्थ है तो आखिर समस्त व्यक्तियों को किसी वस्तु एवं पद का अर्थबोध करने में समय पृथक्-पृथक् क्यों लगता है । कोई कोई व्यक्ति शब्द का साक्षात्कार तत्काल ही अर्थबोध कर लेता है । जबकि कुछ लोगों को शब्द श्रवण के अनन्तर भी अर्थ बोध में पर्याप्त समय लगता है । आखिर ऐसा क्यों है[1] वैयाकरण इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि वस्तुत: प्रतिभा संस्कारजन्य है । अत: संस्कारजन्य होने के कारण विभिन्न व्यक्तियों में उनके पूर्व संस्कारों में विभिन्नता होने के कारण ही बौद्धिक स्तर में भी विभिन्नता पायी जाती है, फलस्वरूप कुछ लोगों को अर्थबोध शब्द श्रवण के साथ ही हो जाता है, और कुछ लोगों को कुछ समय बाद होता है, ऐसा भी सम्भव है कि कुछ लोगों को अर्थबोध हो ही न ।

वस्तुत: समास अखण्ड पद है, उसका क्रमश: विभाजन कर उसमें अवयवों की अवधारणा मिथ्या कल्पना है, जो मन्दबुद्धि लोगों द्वारा प्रयोग में लायी जाती है तथा सत्य समझ ली जाती है । समस्त पद अखण्ड रहकर ही अपने अर्थ के बोधक होते हैं । अर्थबोध की दृष्टि से उनके विभाजन की कल्पना करना मात्र मिथ्या प्रयास है, जो स्वीकरणीय नहीं है । क्योंकि समास को विभाज्य मान लेने पर 'रथन्तर' जैसे समस्त पदों का अर्थबोध सम्भव ही नहीं हो पाता । अत: समासों को अखण्ड तथा अखण्ड रहते हुए ही अपने अर्थ का बोधक होना, मानना ही युक्तियुक्त तथा समीचीन है ।

1- प्रतिभा च - जन्मान्तरसंस्कारजाऽपि । यथा मधौपिकस्य
पञ्चमस्वर विरावो जन्मान्तर संस्कारज: । वै॰सि॰ल॰म॰ पृ॰ 397

तृतीय अध्याय

संस्कृत भाषा में समासों का प्रयोग

संस्कृत भाषा में समास - प्रयोग

संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य विश्व की किसी भी भाषा में रचित साहित्य की तुलना में सर्वाधिक समृद्ध एवं सम्पन्न है । संस्कृत - साहित्य के आगार को दिनानुदिन और अधिक समृद्ध बनाने की दिशा में प्रयासरत अनेकानेक साहित्य - प्रणयी जनों ने अपनी लेखनी को संस्कृत भाषा का सम्बल देकर संस्कृत साहित्य को समय-समय पर नित्य नूतन भेंट अर्पित करते रहे हैं, और आज भी कर रहे हैं । फलस्वरूप संस्कृत साहित्य काव्य• नाटक• गद्य एवं चम्पू आदि नानारूपों में समाज के समक्ष उपस्थित हुआ है । निरन्तर हो रहे साहित्य सृजन को दृष्टि में रखते हुए अपने द्वारा सृजित साहित्य को दूसरे से पृथक् रखने एवं उसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करने के प्रयास के रूप में रचनाकारों ने कुछ विशिष्टताओं का प्रतिपादन कर अनेक नये - नये प्रयोग किये हैं । इसी कड़ी में काव्य-सृजन में समासों का प्रयोग भी है, जिनको प्रारम्भ में तो सीमित मात्रा में ही प्रयोग में लाया जाता रहा, किन्तु बाद में अनुकूल अवसर पाकर समास साहित्यिक भाषा के आवश्यक तत्त्व ही नहीं बन गये वरन् उनके बढ़ रहे महत्व के कारण साहित्य के क्षेत्र में 'सामासिक शैली' का प्रादुर्भाव हुआ । फलस्वरूप साहित्य-प्रणयन में अधिकाधिक समासों का प्रयोग किया जाने लगा जिसका प्रभाव संस्कृत-जगत् में आज भी विद्यमान है और सम्भव है कि आगे आने वाले दिनों में भी बना रहे और समासों का प्रयोग संस्कृत साहित्य में बढ़ता ही जाये ।

समास के प्रयोगों का उद्भव और विकास

अपने महत्व एवं विशिष्टताओं के बल पर आज सामासिक पद भाषा के अभिन्न एवं आवश्यक अंग बन गये हैं । ग्रन्थ रचना की तो दूर की बात है लोक व्यवहार एवं जन सामान्य की बातचीत में भी सामासिक पदों का बहुतायत

के साथ प्रयोग किया जा रहा है । जहाँ तक काव्य रचना की बात है संस्कृत साहित्य का शायद ही कोई ग्रन्थ ऐसा हो जो सामासिक पदों के प्रयोग से अछूता हो । यदि यह कहा जाय कि सामासिक पदों से रहित ग्रन्थ को खोज पाना संस्कृत साहित्य में असम्भव है, तो अतिशयोक्ति न होगी ।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भाषा में अधिकाधिक मात्रा में प्रयोग में आने वाले सामासिक पदों का सर्वप्रथम प्रयोग कहाँ हुआ, उनके उद्भव एवं विकास की गति एवं दिशा क्या रही ।

प्राच्य भाषा वैज्ञानिक वैदिक साहित्य में सामासिक पदों के प्रयोग को मूल इण्डो॰ योरोपीय भाषा से ग्रहण किया हुआ मानते हैं । तुलनात्मक भाषा विज्ञान के आधार पर आधुनिक विद्वान इस मत का प्रतिपादन करते हुए इस मत की पुष्टि में इण्डो-योरोपीय भाषा-परिवार की अन्य भाषाओं से समासों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । यथा - वैदिक 'द्विपद' पद लैटिन बिपस पद (BIPES) के समान एवं वैदिक शतपद् पद लैटिन पद सेण्टिपस (CENTIPES) के समान है ।

किन्तु यह मत तो तभी स्वीकरणीय है जब इण्डो परिवार के भाषा - परिवार को स्वीकार कर उनका मूल एक ही भाषा को माना जाय । साथ ही यह मत स्वीकार कर लेने पर संस्कृत भाषा में समासों के उद्भव एवं विकास की समस्या तो हल हो जाती है किन्तु मूल भाषा में सामासिक पदों का प्रारम्भ कब हुआ, यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है, तथा उसका समाधान नहीं हो पाता ।

उक्त प्रश्न के समाधान के लिये हमें ग्रन्थों का आश्रय छोड़कर कल्पना एवं अनुमान का अवलम्बन लेना पड़ता है । जिसके आधार पर यह निर्णय निकाला जा सकता है कि सामासिक पदों का प्रयोग भाषा की उत्पत्ति के तत्काल बाद शुरू हुआ होगा । इस कल्पना एवं अनुमान का आधार मानव की प्रवृत्ति है जिसके

चलते वह कम से कम श्रम में अधिक से अधिक कार्य करना चाहता है । सामासिक पदों का भी प्रयोग भाषा में कम से कम शब्दों का प्रयोग कर विचार सम्प्रेषण के लिये किया गया होगा ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सामासिक पदों का प्रयोग भाषा की उत्पत्ति के साथ ही प्रारम्भ हुआ है, तथा उनके प्रयोगों के उद्‌भव का प्रश्न भाषा की उत्पत्ति के साथ ही जुड़ा हुआ है । जिसे देखते हुए इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सामासिक पदों के प्रयोग के बीच भाषा की उत्पत्ति में निहित हैं । जिस समय भाषा की उत्पत्ति हुई तत्काल बाद समस्त पदों का भी प्रयोग व्यवहार में किया जाने लगा ।

जहाँ तक संस्कृत भाषा में समस्त पदों के प्रयोग एवं की बात आती है । संस्कृत साहित्य में कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं है जो सामासिक पदों से अछूता हो । लेकिन जहाँ संस्कृत भाषा में सर्वप्रथम सामासिक पदों के प्रयोग की बात आती है तो संस्कृत भाषा में सर्वप्रथम समासों का प्रयोग वैदिक भाषा प्रारम्भिक ग्रन्थ ऋग्वेद में हुआ । उसके बाद के समस्त ग्रन्थों में सामासिक पदों का छिटपुट प्रयोग पाया जाता है ।

किन्तु प्रारम्भिक वैदिक ग्रन्थो में विभिन्न समासों का नाम या समास शब्द का ही उल्लेख नहीं मिलता । 'समास' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख ऋक्तन्त्र में मिलता है ।[1] इसके अतिरिक्त समासों के एक विभाग 'द्वन्द्व' का शाब्दिक प्रयोग तैत्तिरीय संहिता के 'द्वादश द्वन्द्वानि'[2] तथा ऐतरेय ब्राह्मण के 'द्वन्द्वम्'[3] इत्यादि में मिलता है । किन्तु द्वन्द्व पद का यह प्राचीनतम प्रयोग समास विशेष के लिये प्रयुक्त होता है ।[4]

1- ऋक् तन्त्र - 2·1·1
2- तैत्तिरीय संहिता 1·6·9·4
3- ऐतरेय ब्राह्मण - 2·27, 3·50
4- अथर्ववेद प्रातिशाख्य 4·49

वैदिक साहित्य में समासों का विभाजन या समासों का उल्लेख यद्यपि प्राप्त नहीं होता किन्तु समस्त वैदिक साहित्य में समासों के पर्याप्त उदाहरण मिल जाते हैं । सामासिक पदों से युक्त होने पर भी वेदों में दो पदों से अधिक के समास बहुत ही कम मिलते हैं । ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में तीन पदों के समास अति विरल हैं और ऐसे समासों के उदाहरण अंगुलियों में गिनने भर के लिये हैं । यथा - अदब्धव्रतप्रमतिः (अहिंसित व्रतों वाली बुद्धि है जिसकी)[1] तथा पूर्वकामकृत्व ने (पहली इच्छाओं को पूरा करने वाले के लिये) ।[2]

जहाँ तक दो पदों के समासों की बात है वे लगभग समस्त वैदिक साहित्य में पाये जाते हैं । तीन पदों के सामासिक पदों का प्रयोग यद्यपि एक-दो बार वेदों में भी हुआ है किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों तक आते - आते उनका पर्याप्त प्रयोग होने लगा । साथ ही समासों की यह यात्रा 'कल्पसूत्रों' तक पहुंचकर और अधिक विकसित हो गयी । फलस्वरूप 'कल्पसूत्रों' में तीन से भी अधिक पदों के सामासिक पदों के उदाहरण बहुत से मिलते हैं ।

समस्त पदों के प्रयोग की विकासशील परम्परा संस्कृत साहित्य को वैदिक साहित्य से दाय के रूप में प्राप्त हुआ । फलस्वरूप संस्कृत साहित्य में उनकी विकास यात्रा चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर गयी । समासों का जितना विकास संस्कृत में हुआ उतना किसी अन्य भाषा में नहीं हुआ है ।

वेदों से दो पदों के समासों से प्रारम्भ हुई विकास यात्रा ब्राह्मण एवं कल्पसूत्रों तक पहुंचते पहुंचते तीन की संख्या पार कर गयी, और चार-चार, पाँच-पाँच

1- ऋग्वेद - 2.9.1

2- अथर्ववेद - 7.116.1

पदों के समास मिलने लगे । किन्तु समासों की यह विकास यात्रा लौकिक संस्कृत में पहुँचकर पदों की संख्या की सीमा को पारकर कवि के सामर्थ्य एवं उसकी इच्छा पर निर्भर करने लगी । फलस्वरूप वैदिक साहित्य में जहाँ मात्र दो-दो या तीन-तीन पदों के ही सामासिक पद पाये जाते हैं वहीं लौकिक साहित्य में सामासिक पदों के प्रयोग में पदसंख्या की ओर ध्यान देना ही बन्द कर दिया गया, बल्कि उसके स्थान पर अनेकानेक सामर्थ्यवान् पदों को समस्त कर प्रयोग में लाया जाने लगा ।

लौकिक संस्कृत में सामासिक पदों का प्रयोग महाकाव्यकाल से ही प्रारम्भ हो जाता है । रामायण तथा महाभारत में अनेकानेक सामासिक पद उपलब्ध होते हैं । काव्य जगत् में अश्वघोष एवं कालिदास के साहित्य में कई कई पदों के समास प्राप्त होते हैं जिनका अनुकरण कर परवर्ती साहित्यकारों ने अपनी कृतियों में समासान्तपदावली का भरपूर प्रयोग किया है । जहाँ तक गद्य काव्य में हमें उनका सर्वप्रथम प्रयोग रुद्रदामन् के शिलालेख (160 ई० - 170 ई०) में मिलता है, जिसमे उसके रचयिता को सामासिक पदों से निर्मित विशेषण के माध्यम से मधुर काव्य प्रणयन में प्रवीण बताया गया है ।[1] साथ ही उक्त शिलालेख में अन्य अनेक सामासिक पद प्राप्त होते हैं।[2] वस्तुतः गद्य काव्य के लिये समास प्रयोग आवश्यक है । आचार्य दण्डी ने तो उन्हें गद्य काव्य का प्राण स्वरूप माना है ।[3]

1- स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालङ्कृतगद्यपद्य प्रवीणेन । जूनागढ़ प्रशस्ति ।

2- गिरिशिखरतरूतटाट्टालकोपतल्पद्वार शरणोच्छ्रयविध्वंसिना । जूनागढ़ प्रशस्ति ।

3- ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्यजीवितम् । काव्यादर्श ।·80

समासों के प्रयोग की परम्परा सुबन्धु, बाण एवं दण्डी के काव्य में ही पूर्ण विकसित रूप में देखने को मिलती है । जहां पग-पग पर सामासिक पदों का प्रयोग किया गया है । कहीं कहीं तो उनके प्रयोग में अति ही हो गयी है - और पूरा वाक्य समासान्त पदावली की ही भेंट चढ़ गया है जो पुस्तक के पृष्ठ के समाप्त होने पर भी समाप्त नहीं होती । यह स्थिति समास-प्रयोग की चरम स्थिति है ।[1] जो सुबन्धु, बाण एवं दण्डी तीनों के ग्रन्थों में प्राप्त होती है ।

समासों की यह विकास यात्रा बाण तक आकर रुकती नहीं वरन् उनसे और अधिक प्रश्रय तथा महत्व पाकर अर्वाचीन साहित्यकारों को भी सामासिक पदों के प्रयोग के लिये बाध्य कर देती है । फलस्वरूप बाण आदि के अनुकरण पर पं॰ विश्वेश्वर पाण्डेय, पं० अम्बिकादत्त व्यास तथा पण्डिता क्षमाराव ने अपने-अपने ग्रन्थों में समासान्त पदावली का भरपूर प्रयोग किया है । पं० अम्बिकादत्त व्यास को तो उनकी समासान्त पदावली के अत्यधिक प्रयोग के कारण आधुनिक बाण की संज्ञा से भी विभूषित किया जाता है । वस्तुत: उनके द्वारा प्रयुक्त सामासिक पदों को देखकर महाकवि बाण का काव्य याद आ जाता है ।[2]

संस्कृत साहित्य में समस्त पदों के प्रयोग को देखते हुए स्पष्ट हो जाता है कि यहां समास - प्रयोग की दशा अत्यन्त विकसित स्थिति तक पहुंच चुकी है । वस्तुत: सामासिक पदों का जितना विकास संस्कृत भाषा में हुआ है उतना विकास किसी अन्य इण्डो - योरोपीयन परिवार की भाषा में नहीं हुआ है । अत्यन्त

1- कन्दर्पकेलिसम्पल्लम्पटलाटीललाटतटलुलितालकवल्लीलालाभारकलुषस्पर्शैरनेकानलभृङ्ग मधुरिमगुण:, - - - - - - - मलयमारुतो ववौ । वासवदत्ता

2- तत्र चाहं प्रलम्ब-सावर्त-लाङ्गूलम्, खरनखाग्र-संपातसाचीकृत-भूभागम्, पृष्ठ - संस्पृष्ट-देवी-दिव्य-दुकूलम्, परिपन्थिप्रतिकूलं शार्दूलम्॰ । शिवराज विजय पृ॰523-24

विकसित अवस्था में पहुँच कर भी समासों का प्रयोग रूका नहीं, वे निरन्तर प्रयोग में लाये जा रहे हैं, जिसे देखते हुए कहा जा सकता है कि समास-प्रयोग का मार्ग कभी भी अवरूद्ध नहीं होगा । भाषा की उत्पत्ति के साथ प्रारम्भ हुआ समासों का प्रयोग, इस संसार में भाषा के विद्यमान रहने तक जारी रहेगा । भाषा की समाप्ति पर ही उनकी विकास यात्रा रूकेगी, जिसकी सम्भावना करना ही व्यर्थ है क्योंकि सृष्टि के रहते भाषा की समाप्ति की कल्पना करना ही हास्यास्पद है । अतः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सामासिक पदों की विकास यात्रा अनवरूद्ध रूप से चलती रहेगी जो सृष्टि के साथ ही विराम लेगी ।

समास - प्रयोग के हेतु और प्रयोजन

संस्कृत भाषा में निबद्ध प्रत्येक कृति चाहे वह जिस विधा में हो में समासों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया है । समासों के अत्यधिक प्रयोग को देखते हुए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर कौन से हेतु एवं प्रयोजन हैं जिन्होंने काव्यकारों को भाषा में समस्त पदों का प्रयोग करने के लिये उत्साहित किया ।

यद्यपि समस्त पदों के प्रयोग के मूल में छिपे हेतु एवं प्रयोजन के निर्धारण के सन्दर्भ में कहीं भी स्पष्ट रूप से विचार नहीं किया गया किन्तु कहीं भी उनके निर्धारण न किये जाने के कारण उक्त प्रश्न को अविचारित भी नहीं छोड़ा जा सकता । यह तो निश्चित ही है समासों का प्रयोग सोद्देश्य किया गया है अतः उसके मूल में कुछ न कुछ हेतु होना ही चाहिये क्योंकि बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता, प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य ही होता है । अतः समस्त पदों के प्रयोग के भी कुछ न कुछ हेतु तथा प्रयोजन अवश्य ही है ।

समास प्रयोग के हेतु :- आचार्य वामन, भामह,[1] मम्मटादि[2] ने काव्य के हेतुओं की व्यापक रूप से चर्चा की है । यद्यपि उन्होंने समासों को अपनी चर्चा का विषय नहीं बनाया किन्तु काव्य की भाषा के अभिन्न अंग होने के साथ ही साथ काव्य-भाषा के प्राण-स्वरूप होने के कारण काव्य के हेतुओं को ही किसी न किसी रूप में 'समासों के प्रयोग' के हेतु रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है । क्योंकि काव्य का प्रणयन - किसी भी सुसंगत एवं सुव्यवस्थित अर्थ को भाषा में चमत्कारिक ढंग से निबद्ध कर ही किया जाता है । समास भाषा में प्रयुक्त होकर उक्त कार्य को अच्छे ढंग से सम्पादित कर देते हैं । अतः काव्य के हेतुओं के आधार पर ही समास-प्रयोग के हेतुओं को निर्धारित किया जाता है ।

यद्यपि समास-प्रयोग के ये हेतु अनेक हो सकते हैं, किन्तु मुख्य रूप से 3 हेतु ही दिखायी देते हैं । जो निम्नवत् हैं -

§1§ प्रतिभा ।

§2§ युग-धर्म

§3§ अभ्यास ।

प्रतिभा :- किसी काव्य या ग्रन्थ के प्रणकता में सामान्य जन की तुलना में विशिष्ट प्रतिभा विद्यमान होती है । जिसके बल पर वह सामान्य जन द्वारा अकल्पनीय भावों की कल्पना कर साहित्य का प्रणयन करता है । कोई भी ग्रन्थकार, उपदेष्टा या वाचक कम से कम शब्दों में अधिकाधिक भावों की

1- शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम् ।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ।। काव्यादर्श 1•10

2- शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।। का•प्र• 1•3

अभिव्यक्तिका प्रयास करते हैं, और उनके इस प्रयास को मूर्त रूप देने में सहयोग देते हैं - समस्त पद । जिनका प्रयोग कर वे कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक विचारों को व्यक्त कर देते हैं । किन्तु इन समस्त पदों का प्रयोग भी सामान्य - जन की पहुँच के बाहर की चीज है । सामान्य जन मात्र उन्हीं समस्त पदों को व्यवहार में ला सकते हैं जो निरन्तर प्रयोग में लाये जाने के कारण अर्थ-विशेष में रूढ़ हो गये हैं, जिनके अर्थ को सारा समाज जानता है और उनका श्रवण कर अर्थबोध कर लेता है । किन्तु जो समस्त पद जन-सामान्य के व्यवहार में नहीं आते उनका प्रयोग एवं उनसे अर्थ-बोध प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर सकता । विशिष्ट-पदों के प्रयोग एवं अर्थबोध के लिये विशिष्ट प्रतिभा की आवश्यकता होती है । विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति ही समस्त पदों का सुव्यवस्थित ढंग से प्रयोग कर सकते हैं तथा उनसे अर्थबोध कर सकते हैं ।

स्पष्ट है कि समस्त पदों के प्रयोग एवं उनके अर्थ-बोध के मूल में प्रतिभा ही है जो किसी भी व्यक्ति को समासों का प्रयोग कर कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक विचारों को व्यक्त करने की प्रेरणा देती है । व्यवहार में भी देखा जाता है कि कम प्रतिभाशाली या सामान्य जन प्राय: अपनी भाषा में समस्त पदों का प्रयोग प्राय: नहीं करता और यदि करता भी है तो न के बराबर । जबकि प्रतिभा - शाली व्यक्ति अपने विचारों को व्यक्त करने में अधिकाधिक समस्त पदों को प्रयोग करता है । जिससे स्पष्ट होता है कि प्रयोग के उद्भव एवं विकास में व्यक्ति, वक्ता या लेखक की प्रतिभा ही मूल हेतु है । इस प्रतिभा को 'शक्ति' नाम से भी निरूपित किया जा सकता है । क्योंकि शक्ति का भी लक्ष्यार्थ व्यक्ति में निहित सामर्थ्य ही है जिसके बल पर वह समासों का प्रयोग कर सकता है तथा उनसे अर्थ-बोध कर सकता है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रतिभा या शक्ति को समास-प्रयोग के मुख्य हेतु के रूप में स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि प्रतिभा या शक्ति ही व्यक्ति को वह सामर्थ्य प्रदान करती है, जिससे वह समास प्रयोग में समर्थ होता है । अत: व्यक्ति में

निहित प्रतिभा या शक्ति ही समास प्रयोग के उद्भव एवं विकास में मुख्य तथा मूल हेतु है ।

युग - धर्म :- कभी - कभी कोई वस्तु निरन्तर व्यवहार में आने के कारण युग - धर्म बन जाती है, और हर जगह उसकी उपस्थिति की अपेक्षा की जाती है । साहित्य प्रणयन में समासों का प्रयोग भी काल विशेष में युगधर्म बन जाने के कारण काव्य की भाषा में महत्वपूर्ण स्थान को पा गया । फलस्वरूप हर रचनाकार, हर वक्ता, हर उपदेष्टा अपने द्वारा प्रयुक्त भाषा में अधिकाधिक समासों का प्रयोग करने लगा । जिसका परिणाम हुआ - काव्य की भाषा समासमय हो गयी । कुछ प्रारम्भिक रचनाओं को छोड़कर बाद वाली रचनाओं में प्राय: हर पङ्क्ति में एक दो सामासिक पद अवश्य ही मिल जाते हैं । दण्डी एवं बाणभट्ट के काल तक आते -आते तो अति ही हो गयी । उनकी रचनाओं में एक दो सामासिक पदों के प्रयोग को नगण्य समझते हुए एक-एक दो-दो पङ्क्तियों के सामासिक पदों का प्रयोग किया गया । जो उनकी एवं उनके साथ काल -विशेष की अत्यधिक समास-प्रियता का ही परिचायक है । यद्यपि लोक व्यवहार का भी उल्लेख समास प्रयोग के हेतु के रूप में किया जा सकता है । क्योंकि कोई भी व्यक्ति लोक व्यवहार में प्रचलित व्यवस्था को ही देखकर उसके अनुरूप अपने आप को ढाल कर उसके अनुसार आचरण करता है । अत: समासों के अधिकाधिक प्रयोग में लोक व्यवहार भी एक हेतु है । किन्तु लोक व्यवहार को समास-प्रयोग का पृथक् हेतु मानना उचित नहीं है । क्योंकि लोक व्यवहार का अन्तर्भाव युग-धर्म के अन्तर्गत हो जाता है । कोई भी वस्तु निरन्तर लोक व्यवहार में रहने के बाद ही युग-धर्म बनती है । अत: लोक व्यवहार को युग-धर्म से अलग देखना उचित नहीं है ।

यद्यपि युगधर्म समास प्रयोग में हेतु है किन्तु उसे समास प्रयोग के उद्भव में हेतु नहीं माना जा सकता है । क्योंकि युगधर्म का स्वरूप कोई वस्तु कुछ काल तक

व्यवहार में आने के बाद ही ग्रहण करती है । अत: समासों का युग धर्म बनना समासों के प्रयोग के उद्भव के कुछ काल बाद ही मानना उचित होगा । साथ ही युगधर्म को समास प्रयोग के उद्भव के स्थान पर मूल रूप में समास प्रयोग के विकास में हेतु माना जा सकता है ।

अभ्यास :- समास - प्रयोग के हेतु के रूप में उल्लिखित अभ्यासका तात्पर्य केवल सामासिक पदों के अभ्यास से नहीं है । वरन् अभ्यास का अर्थ अधिक व्यापक है । जिसके अन्तर्गत - शास्त्र चर्चा, काव्य पठन पाठन एवं गुरू निर्देशित शास्त्रीय ज्ञान के साथ ही साथ व्यावहारिक ज्ञान भी अपेक्षित है । कोई भी व्यक्ति इन सबमें पारंगत होने पर ही पूर्ण अभ्यस्त कहा जा सकता है, तथा सब की सम्यक् जानकारी रखने वाला व्यक्ति ही यथावसर उनका व्याख्यान कर सकता है । फलस्वरूप व्यक्ति को गुरू निर्देश शास्त्र चर्चा एवं काव्य के पठन पाठन से भाषा का पर्याप्त ज्ञान हो जाता है, जिसके बल पर वह अपनी आवश्यकतानुसार शब्दों का चयन कर भावों को अभिव्यक्त करता है । कोई भी व्यक्ति प्रारम्भ से ही भाषा का धुरन्धर नहीं होता वरन् निरन्तर व्यवहार करने से ही उसे उसका ज्ञान होता है । समास भी भाषा के एक अंग हैं । अत: समासों का सफलता पूर्वक प्रयोग करना व्यक्ति को अनायास ही नहीं आ जाता अपितु निरन्तर किये गये अभ्यास के फलस्वरूप ही कोई व्यक्ति इनके प्रयोग में पारङ्गत होता है । व्यवहार में भी देखा जाता है कि गुरू द्वारा पूर्णरूपेण निर्देशित, शास्त्र एवं काव्य चर्चा में निरन्तर लगा रहने वाला व्यक्ति भी अपने प्रारम्भिक जीवन में भाषा में पूर्ण अधिकार कर आधिकाधिक मात्रा में समासों एवं अलंकारों का प्रयोग नहीं कर पाता किन्तु निरन्तर प्रयास करते रहने पर उसे एक दिन इनमें उपूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है और वह 'सामासिक शैली' का प्रयोग करने लग जाता है ।

अत: समासों के बदले हुए प्रयोग में उनका अभ्यास एक प्रमुख कारण है । यद्यपि उसका परिण ाम समास प्रयोग के उद्भव में नहीं किया जा सकता हकन्तु 'समास प्रयोग' के विकास में उसका अपना महत्वपूर्ण योगदान है ।

समीक्षा :- प्रस्तुत प्रकरण में 'समास प्रयोग' के हेतु के रूप में प्रतिभा या शक्ति, युग-धर्म या लोक व्यवहार तथा अभ्यास या निरन्तर प्रयास को परिगणित किया गया है । यद्यपि इन तीनों में से प्रतिभा या शक्ति को छोड़कर अन्य किसी का समासों के प्रयोग के उद्भव के साथ कोई सीधा या प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है । अत: यदि यह का जाय कि उन्हें समास प्रयोग के हेतु के रूप में मानना उचित नहीं है, संगत नहीं होगा । यद्यपि यह ठीक है कि युगधर्म तथा अभ्यास समास-प्रयोग के प्रारम्भ में योगदान न दे पाये होंगे, किन्तुइतना तो निश्चित ही है कि समासों के एक बार प्रयोग मे आ जाने के बाद इन्होंने उनके प्रयोग में उत्तरोत्तर वृद्धि में योगदान दिया, जिससे सामासिक शैली प्रौढ़ावस्था में पहुँच सकी और दण्डी बाण तथा पं0 अम्बिकादत्त व्यास जैसे समास प्रेमी रचनाकार दशकुमारचरित, हर्ष - चरित एवं कादम्बरी तथा शिवराजविजय जैसी समास गर्विता कृतियों को प्रणयन कर सके ।

अत: स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर प्रतिभा या शक्ति को समास प्रयोग के उद्भव में अति महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है वहीं दूसरी ओर युगधर्म तथा अभ्यास भी समास प्रयोग के विकास में योगदान देने के कारण कम महत्वपूर्ण नहीं है । प्रतिभा या शक्ति ने जहाँ एक ओर समास-प्रयोग की परम्परा प्रारम्भ की वहीं दूसरी ओर युगधर्म तथा अभ्यास ने उस परम्परा को आगे ले जाने में योगदान दिया। इस दृष्टि से समासों के प्रयोग के विकास में प्रतिभा, युगधर्म तथा अभ्यास में से किसी को भी स्थान कम महत्वपूर्ण नहीं है । अत: उक्त तीनों को ही 'समास-प्रयोग' के उद्भव तथा विकास में हेतु माना जा सकता है ।

समास-प्रयोग के प्रयोजन :- समास-प्रयोग के हेतुओं की भाँति ही उनके प्रयोजनों के निर्धारण हेतु भी कहीं पर विचार नहीं किया गया । किन्तु संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त समस्त पदों का आलोडन-विलोडन करने पर उनके मूल में छिपे प्रयोजन स्पष्ट हो जाते हैं । समास-प्रयोग के सन्दर्भ में मुख्य रूप से तीन प्रयोजन हैं । यथा -

(1) शब्द - लाघव ।
(2) भाषा सौष्ठव ।
(3) पाण्डित्य प्रदर्शन ।

शब्द-लाघव :- शब्द लाघव का अर्थ है कम से कम शब्दों का प्रयोग । वाक्य में समस्त पदों का प्रयोग एक प्रकार का शब्द-लाघव ही है । समस्त पदों के प्रयोग में मुख्य प्रयोजन शब्द-लाघव की भावना रही है । मानव किसी भी कार्य को करने में कम से कम समय तथा कम से कम श्रम को व्यय करने के पक्ष में सदैव से रहा है । यह उसकी सदैवसे प्रवृत्ति रही है । भाषा के प्रयोग में भी वह किसी बात को अभिव्यक्त करने में कम से कम शब्दों का प्रयोग कर अपने भावों को पूर्ण रूपेण व्यक्त करने की इच्छा रखता था । जिसको पूर्ण किया समासों के प्रयोग ने । एक छोटा सा समस्त पद लम्बे वाक्य के अर्थ को आत्मसात कर पूर्णरूपेण उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ होता है । अतः भाषा में कम से कम शब्दों का प्रयोग करने के उद्देश्य समस्त पदों का प्रयोग किया जाने लगा । चूँकि ये समस्त पद वाक्यार्थ का पूर्णरूपेण बोध करा देते हैं अतः उनके प्रयोग से वाक्य में कोई दोष भी नहीं आता, और कम से कम पदों में वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति भी हो जाती है । इसी भावना के साथ ही समस्त पदों का भाषा में प्रयोग हुआ ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि समस्त पदों के प्रयोग का मुख्य प्रयोजन के रूप में लेखक, उपदेष्टा या वक्ता की कम से कम शब्दों के प्रयोग की भावना रही है । इस भावना को पूर्ण किया शब्द लाघव ने, जिसने समस्त पदों के प्रयोग का मार्ग प्रशस्त किया ।

भाषा सौष्ठव :- भाषा में चमत्कार उत्पन्न करने की भावना ने भी समस्त पदों के प्रयोगों को दृढ़ आधार प्रदान किया है । रचनाकार प्रायः अपनी रचना को नानाविध विशिष्टताओं से अलङ्कृत कर समाज के समक्ष उपस्थित करना चाहता है । इस दृष्टि से भाषा में अनेकानेक अलङ्कार रसादि के साथ ही साथ समस्त पदों का प्रयोग किया जाता है । रस एवं अलङ्कार जहाँ एक ओर भाषा एवं भावों से श्रोता या पाठक को आनन्दानुभूति कराने में सक्षम होते हैं, वहीं दूसरी ओर समास भी अल्प समय एवं अल्प शब्दों में वाक्य का अर्थ बोध कराने के साथ ही साथ भाषा को स्वरूपतः चमत्कारयुक्त बना देते हैं । जिससे भाषा में एक विशिष्ट प्रकार का सौष्ठव आ जाता है । समस्त पदों से युक्त भाषा का श्रवण या पठन कर श्रोता या वक्ता जहाँ ए ओर भाषा के चमत्कार से आनन्द की अनुभूति करता है वहीं दूसरी ओर समस्त पदों के द्वारा हुआ अर्थबोध भी उसे आनन्दानुभूति कराता है । फलस्वरूप भाषा में समस्त पदों का प्रयोग अधिकाधिक मात्रा में किया जाने लगा जिससे वाक्य की भाषा में सौष्ठव सहज ही स्थान पाने लगा । इस प्रकार भाषा में चमत्कार उत्पन्न करने की समस्त पदों की शक्ति को देखते हुए उनके प्रयोग के प्रयोजन के रूप में 'भाषा सौष्ठव' को भी माना जा सकता है ।

पाण्डित्य प्रदर्शन :- समासों के प्रयोग को जहाँ एक ओर शब्द-लाघव एवं भाषा सौष्ठव ने दृढ़ आधार प्रदान किया, वहीं दूसरी ओर कवि या लेखक की अहं की भावना ने भी उनके प्रयोग की दिशा में योगदान दिया । प्रारम्भ में समस्त पदों का प्रयोग वाक्य को संक्षिप्त करने के उद्देश्य से किया जाता

रहा, किन्तु कुछ काल बाद दण्डी एवं बाण के काल तक आते -आते वह कवि प्रतिभा का पैमाना बन गया । जिस कवि की रचना में जितने अधिक सामासिक पदों का प्रयोग किया गया उसे उतना ही अधिक समर्थ एवं भाषा में अधिकार रखने वाला माना गया । फलस्वरूप अपने आप को अत्यधिक प्रतिभाशाली एवं सामर्थ्यवान् सिद्ध करने के उद्देश्य से कवि-लेखकों द्वारा समासों का प्रयोग किया जाने लगा । समासों का अधिकाधिक प्रयोग पाण्डित्य का परिचायक बन गया, अतः पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना ने उनके अधिकाधिक प्रयोग में अहं भूमिका निभायी । फलस्वरूप गद्य काव्य की तो बात ही क्या महाकाव्यों सहित अन्य पद्यमय रचनाओं में भी सामासिक पदों का प्रयोग किया जाने लगा । कहीं - कहीं पर तो इसकी अति ही हो गयी है । जहाँ रचनाकारों ने छन्द की एक-एक दो-दो पङ्क्तियों को सामासिक पदों में बाँधा है ।[1] सामासिक पदों के अत्यधिक प्रयोग से काव्य दुःसाध्य तथा सामान्य जनों की पहुँच के बाहर हो गये । इसके पीछे रचनाकारों की पाण्डित्य प्रदर्शन की ही भावना था । श्री हर्ष ने स्वयं कहा है -'पण्डित होने का दर्प करने वाला कोई दुःशील मनुष्य इस काव्य के मर्म को हठ पूर्वक जानने का चापल्य न कर सेके, इसीलिये हमने जान-बूझकर कहीं-कहीं इस ग्रन्थ [नैषधीयचरित] में ग्रन्थियाँ लगा दी हैं । जो

1- उन्मीलल्लीलनीलोत्पलदलदलनामोदभेदस्विपूर
क्रीडत्क्रीडद्विजालीगरुदुदिलमरुत्स्फालवाचालवीचिः ।
ऐतेनाखानि शाखानिवहनवहरित्पर्णपूर्ण द्रुमाली -
व्यालीढोपान्तशान्त व्यथपथिकदृशां दत्त रागस्तडागः ।। नैषध॰ 12·101

सज्जन श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरु को प्रसन्न करके इन सामासादिक गूढ़ ग्रन्थियों को सुलझा लेंगे, वे ही इस काव्य के रस की लहरों में हिलोरें ले सकेंगे ।[1] अतः समस्त पदों के प्रयोग के विकास में पाण्डित्य प्रदर्शन भी एक उद्देश्य या प्रयोजन के रूप में कार्य करता हुआ उनके प्रयोग को बल प्रदान करता है ।

समीक्षा :- यद्यपि संस्कृत भाषा भिन्न आचार्यों ने कहीं पर भी समास-प्रयोग के प्रयोजन के सन्दर्भ में विचार नहीं किया । किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि बिना प्रयोजन या उद्देश्य के मूर्ख व्यक्ति भी आचरण नहीं करता। ऐसी स्थिति में चूंकि समस्त पदों का प्रयोग किया गया है अतः उनके प्रयोग के मूल में भी कुछ प्रयोजन निहित हैं, जिनका निर्धारण करना यद्यपि दुष्कर है फिर भी समस्त पदों के प्रयोग को देखने से उनका प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है । सम्भव है आचार्यों द्वारा प्रयोग में लाये गये समस्त पदों के मूल में प्रयोजन या उद्देश्य अनेक रहे हों जिनका परिगणन या अनुमान कर सकने में हम आज अक्षम हैं किन्तु इतना तो है ही कि हम उन समस्त प्रयोजनों की कल्पना या उनका अनुमान भले न कर सकें किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि उनमें से कुछ का अनुमान किया जा सकता है । समस्त पदों के प्रयोगों को दृष्टि में रखकर इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि समस्त पदों के प्रयोग में शब्द-लाघव, भाषा-सौष्ठव एवं पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना रही है । जिसकी सिद्धि रचनाकारों ने समासों का प्रयोग कर ली है । अतः शब्द-लाघव, भाषा सौष्ठव एवं पाण्डित्य प्रदर्शन को समास-प्रयोग के प्रयोजन के रूप में माना जाना असंगत नहीं होगा ।

1- ग्रन्थ ग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञं मन्यमना हठेन पठिती मास्मिन्खलः खेलतु ।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय -
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः । नैषध 22.52

समास - प्रयोग के गुण - दोष

संस्कृतज्ञ आचार्यों ने समस्त पदों का प्रयोग व्यापक रूप से किया है । ये समस्त-पद अपनी विशिष्टताओं द्वारा जहां एक ओर भाषा को अलङ्कृत करते हुए, अपने गुणों से उसमें वैशिष्ट्य उत्पन्न कर देते हैं जो भाषा के स्वरूप एवं सौन्दर्य में चार चाँद लगा देते हैं,वहीं दूसरी ओर समस्त पदों के मूल में निहित कतिपय दोष भाषा की अर्थबाधकता आदि में बाधा उत्पन्न कर समास-प्रयोग के समक्ष प्रश्न चिन्ह खड़ा करते हुए उन्हें निर्दोष नहीं बने रहने देते । अर्थात् समस्त पदों में जहां एक ओर अनेक गुण हैं वहीं दूसरी ओर उनके प्रयोग में अनेक दोष भी विद्यमान हैं, जो समासों के प्रयोग की अति को सीमित करते हैं ।

समास-प्रयोग के गुण :- समस्त पदों की अनेक विशेषताएं हैं तथा उनमें अनेक गुण विद्यमान हैं जिनकी सार्थता को देखकर संस्कृत-भाषा-भिज्ञ आचार्य उनके प्रति बिना आकृष्ट हुए नहीं रह सके । फलस्वरूप उन्होंने समस्त पदों का प्रयोग करते हुए स्वरचित साहित्य को उनके गुणों एवं वैशिष्ट्य से अलङ्कृत किया । संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त समस्त पदों के गुणों को देखते हुए उन्हें व्याख्यायित करना आवश्यक हो जाता है । संक्षेप में समस्त पदों के गुण हैं । यथा -

§1§ अर्थ-वैशिष्ट्य ।

§2§ सीमित प्रत्यय प्रयोग ।

§3§ लोक - व्यवहार को महत्व ।

§4§ पद - शबद्धता ।

§5§ निश्चित पद क्रमता ।

<u>अर्थ वैशिष्ट्य :-</u> समस्त पदों में विशिष्ट शक्ति निहित होती है जिसके बल पर वे विशिष्टार्थ के प्रतिपादक होते हैं । समस्त पदों के विभिन्न अवयव अपने अर्थों का परित्याग करते हुए परस्पर एकीभूत होकर विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करते हैं । समस्त पदों द्वारा बोध्य विशिष्ट अर्थ उसके अवयवार्थ से मिलता जुलता भी हो सकता है, तथा अवयवार्थ से सर्वथा भिन्न भी । अवयवों के अर्थों से भिन्न अर्थों का बोध कराते हुए समस्त पद जहाँ एक तथा सर्वथा भिन्न विशिष्ट अर्थ को प्रस्तुत करते हैं । यथा -'पङ्कज' शब्द के अवयवों 'पङ्क' एवं 'ज' का अर्थ क्रमशः 'कीचड़' एवं उत्पन्न होने वाला है किन्तु 'पङ्कज' शब्द कीचड़ में उत्पन्न होने वाले पदार्थों का बोध न कराकर 'कमल' विशिष्टार्थ का बोधक होता है । इसी प्रकार अवयार्थ से युक्त अर्थ वाले समस्त पदों में भी समस्त पद भी विशिष्टार्थ के द्योतक होते हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन समस्त पदों का अपना विशिष्ट गुण है जो सदैव उनके साथ संयुक्त रहते हुए पदों के अर्थ में वैशिष्ट्य उत्पन्न कर अर्थ बोध कराते हैं ।

<u>सीमित - प्रत्यय प्रयोग :-</u> समस्त पदों का एक अन्य गुण है - सीमित प्रत्यय प्रयोग । वाक्यगत प्रत्येक पद में प्रायः सुपादि प्रत्ययों का प्रयोग होता है । इसके अपवाद मात्र निपात ही हैं जिनमें विभक्त्यादि प्रत्ययों को लगाने की आवश्यकता नहीं होती । किन्तु समस्त पदों में इन प्रत्ययों की संख्या निश्चित होती है । प्रत्येक पदावयव में विभक्तियों का प्रयोग न कर प्रत्येक समस्त पद में उनके अवयवों के आधार पर एक वचन, द्विवचन आदि का बोध कराने वाले एक ही प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है । अर्थात् समस्त पदों के अवयव में विभक्ति बोधक प्रत्ययों का योग न कर समस्त पद के अन्त में मात्र एक प्रत्यय को संयुक्त किया जाता है । जो अपने विशिष्ट गुण से समस्त पद के विभिन्न अवयवों के अर्थों का सम्यक् बोध करा देता है ।

व्याकरण के नियमों के अनुसार समस्त पदों के विभिन्न अवयवों में संयुक्त विभक्ति प्रत्ययों का पाणिनि सूत्र 'सुपोधातुप्रातिपदिकयोः' से लोप हो जाता है तथा उनके लोप हो जाने पर 'प्रत्ययलोपेप्रत्ययलक्षणम्' के बल पर लोप हुए प्रत्ययों का वैशिष्ट्य बना ही रहता है। तथा समस्त पदों के विभिन्न अवयवों का अर्थबोध कराने वाली विभक्ति का समासान्त में प्रयोग कर लिया जाता है, जिससे समस्त पदों के विशिष्टार्थ की प्राप्ति हो जाती है।

समस्त पदों के प्रयोगों से स्पष्ट है कि अनेक पदों से युक्त होने पर भी समस्त पदों में प्रायः एक प्रत्यय का ही विधान किया जाता है। यथा - 'सकलनीतिशास्त्रतत्वज्ञः' समस्त पद में सकल, नीति, शास्त्र, तत्व एवं ज्ञ पाँच पद संयुक्त हैं किन्तु इनके अर्थ की अवबोधक विभक्तियों को प्रत्येक पद के साथ न युक्त कर समासान्त 'ज्ञ' के साथ लगाकर प्रत्येक पद के अर्थ का बोध करा दिया जाता है। जिससे प्रमाणित होता है कि समस्त पदों में अनेक प्रत्ययों का प्रयोग न होकर मात्र एक प्रत्यय का ही प्रयोग होता है जो कि उनका अपना विशिष्ट गुण है।

लोक व्यवहार को महत्व :- प्रायः प्रत्येक पद अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का बोध कराते हैं किन्तु समस्त पद व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का बोध कराने के साथ ही साथ लोक व्यवहार को भी महत्व देते हैं। तथा जिन पदों के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ एवं लोक व्यवहार में प्रचलित अर्थों में विरोध या अन्तर पाया जाता है वहाँ समस्त पद व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के स्थान पर लोक व्यवहार में प्रचलित अर्थ को महत्व प्रदान करते हैं। यथा - 'रथन्तर' एवं पङ्कज पदों का व्यत्पत्तिलभ्य अर्थ क्रमशः 'रथ को चलाने वाला' तथा 'पङ्क में उत्पन्न होने वाला' होता है जब कि लोक व्यवहार में ये दोनों पद क्रमशः 'सामगान' विशेष एवं 'कमल' के बोधक माने जाते हैं। ऐसी स्थिति में समस्त पद व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का परित्याग कर लोक - व्यवहार में प्रचलित अर्थ को महत्व प्रदान करते हुए उनके ही बोधक होते हैं। अतः

लाक व्यवहार में प्रचलित अर्थ को महत्व प्रदान करना समस्त पदों का अपना विशिष्ट गुण ही है ।

पदबद्धता :- वाक्य में समस्त पद अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये हुए पृथक - पृथक स्थित रहते हैं, किन्तु समस्त पदों में ऐसा नहीं होता । समस्त पदों के विभिन्न अवयव एकार्थीभाव सामर्थ्य से परस्पर एकीभूत होकर परस्पर आबद्ध हो जाते हैं तथा वे अपने आप को माला में संयोजित विभिन्न पुष्पों के रूप में अपने आपको प्रस्तुत न कर एक गुलदस्ते के रूप में प्रस्तुत करते हैं । जिसमें उसके विभिन्न अवयवों का अस्तित्व लगभग समाप्त हो जाता है तथा वे परस्पर आबद्ध होकर सर्वथा नये ढंग से प्रस्तुत होते हैं ।

स्पष्ट है कि पदबद्धतासमस्त पदों का अपना विशिष्ट गुण है जो मात्र समस्त पदों में ही पाया जाता है । तथा समासों का यह विशिष्ट गुण ही उन्हें वाक्य से अलग करता है ।

निश्चित पद क्रमता :- समासों में उसके अवयवों का क्रम निश्चित होता है, जब कि वाक्य में प्रयुक्त पदों को वाक्य के अन्तर्गत किसी भी स्थान में रखा जा सकता है । समासों के सन्दर्भ में यह छूट नहीं मिलती तथा उन्हें एक निश्चित क्रम में रखना ही पड़ता है । वस्तुतः समास परस्पर सामर्थ्ययुक्त पदों का ही होता है । अतः सामर्थ्ययुक्त पद समस्त होते ही एक निश्चित क्रम में स्थित हो जाते हैं । यदि वे निश्चित क्रम में स्थित न हों तो उनके अर्थ का सम्यक् बोध नहीं हो सकता । यथा - 'सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञः' समस्त पद सकल, नीति शास्त्र, तत्व एवं ज्ञ इन पाँच पदों से मिलकर बना है जिसमें इनका क्रम निश्चित है । इस क्रम को नाममात्र के लिये भी भंग कर देने पर समस्त पद का अर्थ बोध नहीं हो पाता । इन पाँचों पदों में इस निश्चित क्रम में सामर्थ्य विद्यमान है अतः इस क्रम में रहते हुए अपना अर्थ बोध करा देते हैं । जबकि उक्त क्रम को भंग कर देने पर सामर्थ्य विद्यमान न रह जाने के कारण समस्त पद का अर्थ बोध नहीं हो पाता ।

अत: स्पष्ट है कि समस्त पदों के अवयवों का अपना एक निश्चित क्रम होता है तथा उसी निश्चित क्रम में ही स्थित होकर समासों के अवयव अपना अर्थ बोध कराते हुए या उसका परित्याग कर समासार्थ बोध कराते हैं। अत: निश्चित पदक्रमता को समासों का गुण माना जा सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि समासों के अनेक गुण हैं जो अपने वैशिष्ट्य से सामासार्थ में विशिष्टता ला देते हैं। समासों के इन गुणों की संख्या अनेक भी हो सकती है, किन्तु मुख्य रूप से समास उक्त पाँच गुणों से ही युक्त होते हैं जिनका प्रत्यक्ष समस्त पदों के प्रयोग के साथ ही साथ स्थान-स्थान पर हो जाता है। अत: समासों के उक्त पाँच गुणों का ही परिगणन प्रस्तुत प्रकरण में किया गया है।

समासों के दोष :- संसार की कोई भी वस्तु दोष रहित नहीं है। प्रत्येक सिक्के के दो पहलू होते हैं। किसी भी वस्तु में यदि कुछ अच्छाइयाँ हैं तो उसमें कुछ बुराइयों का होना भी निश्चित ही है। इसी प्रकार गुणों के साथ दोषों का होना भी सुनिश्चित ही है। जब संसार की समस्त वस्तुओं में कुछ न कुछ दोष विद्यमान हो तो समास ही दोष रहित कैसे हो सकते हैं। समास में रहने वाले दोषों में मुख्य रूप से अर्थ बोध में होने वाली कठिनाई ही है। अत: उसी का उल्लेख यहाँ पर किया जाता है। अन्य दोषों का कोई विशेष महत्त्व न होने के कारण वे महत्वहीन हो जाते हैं। समस्त पदों के अत्यधिक प्रयोग से समासों का अर्थ बोध कर पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है तथा सामान्य जन के लिये उनका अर्थ ज्ञान कर पाना तो असम्भव ही हो जाता है। दण्डी, वाणभट्ट एवं पं0 अम्बिकादत्त व्यास की सामासिक शैली के समक्ष बड़े-बड़े पण्डितों के शरीर में पसीना आ जाता है, सामान्य जन की तो बात ही क्या है। फिर ये अपने ग्रन्थों में पग-पग पर समस्त पदों का प्रयोग करते भी हैं। दशकुमारचरित की पूर्वपीठिका के आरम्भिक वाक्य ही

अपने उक्त वैशिष्ट्य के कारण दुर्ज्ञेय है ।[1] समासों की दुर्बोधिता को देखकर ही वेवर ने बाण की कादम्बरी का उपमा विशाल जंगल से करते हुए समस्त पदों को व्याघ्र के रूप में निरूपित किया है, जिनके भय से कादम्बरी जैसे मनोरम वन में घुसने का साहस भी लोगों को नहीं हो पाता ।

सामासिक पदों के अत्यधिक प्रयोग से भाषा में जटिलता आ जाती है । इनके प्रयोग से जहाँ एक ओर अर्थबोध कर पाना दुष्कर हो जाता है वहीं दूसरी ओर भाषा के भी अत्यधिक जटिल हो जाने से वह सामान्यजन के लिये मूल्यहीन हो जाती है । तथा वह मात्र श्रवणेन्द्रिय का ही विषय बन कर रह जाती है साथ ही उस स्थिति में भी वह कर्ण कटु हो जाती है । जो कम से कम काव्यभाषा के लिये उचित नहीं है ।

समीक्षा :- यद्यपि समस्त पदों के अनेक गुण हैं । जिनके बल पर वे भाषा को प्रौढ़, प्रवाहमय तथा ओज से परिपूर्ण कर देते हैं, किन्तु उक्त गुणों से युक्त होने पर भी उनकी अर्थबोधकता की कठिनाई उनकी समस्त सार्थकता के समक्ष प्रश्न चिन्ह खड़ाकर देती है । अनेक गुणों से सम्पन्न ग्रन्थ यदि अर्थबोध ही न करा सके तो आखिर उसका महत्त्व ही क्या रह जाता है ।

किन्तु समासों के अर्थबोध में आने वाली कठिनाई को देखते हुए उसके गुण महत्वहीन नहीं हो जाते हैं । फिर समासों का बोध दुष्कर है दुर्ज्ञेय है किन्तु असम्भव तो है नहीं । साथ ही सामासिक पदों में दुर्बोधिता का आरोप बाण, दण्डी एवं

1- तत्र वीरभटपलोत्तरंग तुरंग कुञ्जरमकरभीषणसकलरिपुगण - कटकजलनिधिमथनमन्दरायमाणसमुद्दण्ड भुजदण्डः, - - - - - - । दशकुमारचरित पूर्व पीठिका ।

पं0 अम्बिकादत्त व्यास जैसे कुछ सीमित आचार्यों की शैली पर ही लगाया जा सकता है । जन सामान्य द्वारा प्रयुक्त सामासिक पद या अन्य कवियों आचार्यों द्वारा प्रयुक्त सामासिक पदों के अर्थबोध दुष्कर एवं दुर्ज्ञेय न होकर सहजग्राह्य है । यदि लोगों को उनका भी अर्थबोध नहीं हो पाता तो यह सामासिक पदों का दोष न होकर अर्थबोध न करने वाले व्यक्ति का दोष है । फिर व्यवहार में भी देखा जाता है कि कुछ लोग सामासिक पदों को छोड़ देने पर भी सामान्य पदों का भी अर्थबोध नहीं कर पाते । ऐसी स्थिति में दोष किसके सिर पर मढ़ा जायेगा ।

जहाँ तक कादम्बरी, हर्षचरित, दशकुमार चरित एवं शिवराजविजय आदि ग्रन्थों की दुर्बोधता की बात है तो ये कग्रन्थ सामान्य जनों के लिये न होकर पण्डितजनों के लिये ही लिखे गये हैं । ऐसी स्थिति में यदि उनका अर्थबोध सामान्य जनों को नहीं हो पाता तो कोई खास बात नहीं है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि समस्त पदों में निहित गुणों को देखते हुए उनमें रहने वाले दोष नगण्य एवं महत्वहीन बनकर रह जाते हैं । जहाँ तक दोषों की उपस्थिति की बात है तो शायद संसार की कोई भी ऐसी वस्तु न होगी जो सर्वथा दोष मुक्त हो । प्रकृति का उपहार समस्त संसार को शीतलता प्रदान करने वाला चन्द्रमा भी निर्दोष नहीं है, उसमें भी एक कलंक विद्यमान है । किन्तु उस कलंक के होते हुए भी चन्द्रमा के मूल्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता । उसी प्रकार अनेक गुणों से युक्त समासों के किंचत् दोषों के होने पर भी वे मूल्यहीन नहीं हो जाते, उनके गुणों को देखते हुए साहित्य में उनकी सार्थकता सदैव बनी रहेगी ।

चतुर्थ अध्याय

समास - लक्षण तथा भेद - प्रभेद

समास - लक्षण

समास शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक अस् धातु से घञ् प्रत्यय (सम् + अस् + घञ्) होकर निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ समष्टि, संक्षेप, सम्मिश्रण एवं समाहार होता है।

संस्कृत भाषा में दो या दो से अधिक पदों के योग से एक पद बन जाता है, इसी प्रक्रिया को समास कहते हैं।[1] बाल मनोरमाकार ने भी समास का लक्षण करते हुये अनेक पदों का एक पद हो जाना ही समास कहा है।[2] अन्यत्र समास को संक्षेप[3] तथा समाहार[4] भी कहा गया है। वैयाकरण आचार्यों ने दो या दो से अधिक पदों के सम्मिलन से एक पद बनाने वाले संस्कार विशेष को 'समास' बताया है।[5] वस्तुतः समास दो या दो से अधिक पदों का संक्षिप्त रूप है जो अपने आप में स्वगत पदों के गुणों को समाहित किये रहता है। यथा - 'सभायाः पतिः' इन दो पदों का संक्षिप्त होकर 'सभापतिः' समास होता है। यहाँ 'सभापतिः' का वही अर्थ है जो 'सभायाः पतिः' का है किन्तु दोनों को साथ कर देने से 'सभायाः' शब्द के विभक्तिसूचक प्रत्यय (-याः) का लोप हो गया और 'सभायाः पतिः' इन दो पदों का संक्षिप्त एक पद 'सभापतिः' प्राप्त हो जाता है।

1- अनेकेषां पदानामेकपदीभवनम्। न्याय सिद्धान्त मञ्जरी प्रकाशः पृ॰ 43

2- समस्यते अनेकं पदमिति समासः। बालमनोरमा (2·1·1)

3- (क) संक्षेपः। यथा विष्णुनास्य समस्तस्य समास व्यास योगतः। (तत्त्वसंख्यानम् 46)

(ख) इत्यादौ समासशब्दस्यार्थः संक्षेपः। (प्रमाण चन्द्रिका वे देश तीर्थी संहिता पृ॰54)

4- समासः समाहारः। न्याय कोश पृ॰ 970

5- वैयाकरणास्तु द्व्यादिपदानामेकपदतासंपादकः पदसाधुतार्थकः संस्कार विशेषः। (वाक्यपदीय वृत्तिसमुद्देश)

समास में संयुक्त पदों को दो भागों में विभक्त किया जाता है पूर्व पद तथा उत्तर पद । कभी-कभी दो से अधिक पदों का समास होता है ऐसी स्थिति में भी समास याग्य पदों को पूर्वपद तथा उत्तरपद में ही विभक्त किया जाता है । यथा - 'सकलकलानीतिशास्त्रतत्वज्ञः'- यह समस्त पद सात पदों से मिलकर बना है । परन्तु समास में एक काल में दो से अधिक खण्ड नहीं किये जाते । अतः दो-दो खण्डों का ही समास होता है । पूर्व खण्ड को पूर्वपद तथा उत्तरखण्ड को उत्तरपद कहा जाता है । 'सकलकलानीतिशास्त्रतत्वज्ञः' पद में सर्व प्रथम तत्व और स पदों का समास होता है । नीति और शास्त्र पद समस्त होकर एक पद बन जाते हैं । 'सकल' और 'कला' पद समस्त होकर 'नीतिशास्त्र' पद के साथ समस्त हो जाता है । 'सकल' पद स्वयं स {सह} और 'कला' का समस्त रूप है । 'सकलकलानीति-शास्त्र' पद तत्वज्ञ पद के साथ समस्त होकर 'सकलकलानीतिशास्त्रतत्वज्ञ' पद को जन्म देता है । इसी प्रकार 'राजपुरुषधनवार्ता' पद में राज्ञः, पुरुषः, धनस्य, वार्ता ये चार शब्द हैं परन्तु समास दो-दो पदों का ही होकर 'राजपुरुषधनवार्ता' समस्त पद प्राप्त होता है । इसका अपवाद मात्र द्वन्द्व समास है जहाँ दो से अधिक पदों का समास भी एक साथ हो जाता है ।[1] यथा - 'रामभरतलक्ष्मणशत्रुघ्नाः' समस्त पद में रामः, भरतः, लक्ष्मणः एवं शत्रुघ्नः चार पद हैं । चारों का एक साथ समास होकर 'रामभरतलक्ष्मणशत्रुघ्नाः' समस्त पद बनता है । वैयाकरण 'द्व्यङ्गजातः' जैसे पदों में त्रिपद तत्पुरुष तथा 'अधिकोन्नतांसः' जैसे पदों में त्रिपद बहुव्रीहि मानते हैं । परन्तु इन्हें भी पूर्वपद तथा उत्तरपद के रूप में ही विभक्त कर समस्त किया जाता है । अतः मूलरूप में समस्त पद द्विपद ही होता है ।[2]

1- समासो द्वयोर्द्वयोश्चेद् द्वन्द्वेऽनेकग्रहणम् । 2·1·1 - 25 वार्तिक

2- द्वयोर्द्वयोः समास इति चेन्न बहुषु द्वित्वाभावात् । 2·1·1 - 26 वाँ वार्तिक

समास के भेद - प्रभेद

वैयाकरण आचार्यों ने समासों के अस्तित्व को स्वीकार कर उनका भेद विवेचन अपने-अपने ढंग से किया है । किसी ने समस्त पदों की रूप रचना को महत्व दिया है तो किसी ने समस्त पद के अवयवों को महत्व दिया है । किसी ने अर्थ की दृष्टि से समासों का भेद किया है तो किसी ने समस्त पदों की प्रकृति को अपने भेद - विवेचन का आधार बनाया है ।

व्याकरण साहित्य में समासों का भेद कथन निम्न चार दृष्टियों से किया गया है -

1- समस्त पदों की रूप-रचना की दृष्टि से ।

2- समस्त पदों के अवयवों की दृष्टि से ।

3- समस्त पदों की प्रकृति की दृष्टि से ।

4- समस्त पदों के अर्थ की दृष्टि से ।

<u>समस्त पदों की रूपरचना की दृष्टि से :-</u> कुछ वैयाकरणों ने समस्त पदों की रूपरचना की दृष्टि से 'समास' का वर्गीकरण किया है । रूपरचना की दृष्टि से कुछ आचार्य 'समासों' को अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्वन्द्व एवं बहुव्रीहि भेद से चार प्रकार का बताते हैं ।[1] अन्यत्र तो कुछ इन चार भेदों के साथ ही द्विगु, कर्मधारय एवं उपपद समास का कथन करते हुये समासों को सात भागों में विभक्त करते हैं ।[2] जगदीश तर्कालंकार ने कर्मधारयादि छः भेदों को ही स्वीकार किया है ।[3]

1- समासश्चतुर्विधः अव्ययीभावः तत्पुरुषः द्वन्द्वः बहुव्रीहिश्चइति केचिच्छाब्दिकाहुः ।
न्यायकोश पृ॰ 970

2- स चायं समासः सप्तविधः कर्मधारयः द्विगुः तत्पुरुषः अव्ययीभावः बहुव्रीहिः द्वन्द्वः उपपद संज्ञश्चेति । शब्दशक्तिप्रकाशिका श्लोक 32 की टीका

3- स चायं षड्विधः कर्मधारयादि प्रभेदतः । यश्चोपपदसंज्ञोऽन्यस्तेनासौ सप्तधामतः ।
श॰श॰प्र॰ श्लोक॰ 32

'समास' के इन्हीं कर्मधारयादि छः भेदों का कथन उद्भट ने अपने एक श्लोक में किया है ।[1]

वस्तुतः रूपरचना की दृष्टि से समास छः ही हैं । जिन आचार्यों ने समास को चार भागों में विभक्त किया है उन्होंने समास के अन्य रूपों कर्मधारय एवं द्विगु को तत्पुरुष के अन्तर्गत ही समाहित कर लिया है । अतः समासों को 6 भागों में ही विभाजित किया जाता है -

1- अव्ययीभाव ।
2- तत्पुरुष ।
3- कर्मधारय ।
4- द्विगु ।
5- द्वन्द्व ।
6- बहुव्रीहि ।

अव्ययीभावः - अव्ययीभाव शब्द का यौगिक अर्थ है जो अव्यय नहीं था उसका अव्यय हो जाना ।[2] अव्ययीभाव समास में विद्यमान पदों में से प्रायः प्रथम पद अव्यय रहता है और दूसरा संज्ञा शब्द (सुबन्त) और ये दोनों पद समस्त होकर अव्यय हो जाते हैं । कभी-कभी अव्यय के अविद्यमान होने पर भी दो सुबन्त पद समस्त हो जाते हैं किन्तु ऐसा तभी होता है जब समस्तपद अव्यय होता है ।[3]

1- द्वन्द्वो द्विगुरपि चाहं मद्गेहे नित्यमव्ययीभावः।
तत्पुरुष । कर्मधारय येनाहं स्याम्बहुव्रीहिः ।।

2- अनव्ययमव्ययं भवतीत्यव्ययीभावः । अव्ययीभावस्याव्ययत्वम्
अव्ययीभावश्च (पाणिनि सूत्र 1.1.41) इति सूत्रेण वोध्यते । न्या॰ कोश पृ 97

3- तिष्ठद्गु-प्रभृतीनि च (अष्टाध्यायी 2,1,17), पारे मध्ये षष्ठ्या वा (अ॰ 2,1,18)
संख्या वंश्येन, (2,1,19), नदीभिश्च (2,1,20), अन्यपदार्थे च संज्ञायाम् (2,1,21)

अव्ययीभाव समास में प्राय: पूर्व पद ही प्रधान होता है । वैयाकरण आचार्य भी पूर्वपदार्थ प्रधानता ही अव्ययीभाव का लक्षण मानते हैं ।[1] किन्तु अव्ययीभाव समास का यह लक्षण 'उन्मत्तगङ्गम' जैसे समस्त पदों को पूर्व पद की प्रधानता न होने से व्याप्त न कर सकने तथा सूपप्रति जैसे पद में उत्तर पद प्रधानता को व्याप्त न करने के कारण दोषयुक्त माना जाता है ।[2] साथ ही 'अर्धपिप्पली' जैसे समस्त पद जो तत्पुरुष समास के अन्तर्गत जाने जाते हैं, को भी यह लक्षण व्याप्त कर लेता है । अत: अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति जैसे दोषों से युक्त होने के कारण इस लक्षण को स्वीकार नहीं किया जा सकता ।[3]

अत: जो अव्यय नहीं था, उसका अव्यय हो जाना ही 'अव्ययीभाव समास' का लक्षण है जो समस्त 'अव्ययीभाव समास' की कोटि में विद्यमान समस्त पदों को व्याप्त करता है ।

अव्ययीभाव समास में अव्यय का प्रयोग प्राय: पूर्वपद के रूप में होता है, परन्तु शाकप्रति, अक्षपरि इत्यादि समासों में अव्यय का प्रयोग उत्तरपद के रूप में भी प्राप्त होता है । साथ ही ऐसे पदों के विग्रह में कहीं-कहीं अव्यय विद्यमान नहीं रहता है । यथा - शाकस्य लेश: शाकप्रति, अक्षेण विपरीतं वृत्तम् अक्षपरि किन्तु जहाँ अव्ययीभाव समास विकल्प से होता है वहाँ विग्रह में अव्यय का ही प्रयोग होता है । यथा - अनुगङ्गम् - गङ्गाया अनु,[4] आ मुक्ति - आ मुक्ते: ।[5]

'अव्ययीभाव समास' के रूप में समस्त होने से अव्यय होने के कारण किसी भी समस्त पद का रूप नहीं चलते । किसी भी समस्त पद के अन्तिम शब्द का नपुंसकलिंग[6] के एकवचन में जैसा रूप होता है, वही रूप अव्ययी भाव समास का हो जाता है और वही नित्य रहता है ।

1- (अ) पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभाव इति लक्षणं तु प्रायिकं बोध्यम् । न्या॰को॰पृ॰ 97
(ब) पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभाव: । वै॰भू॰सार पृ॰ 337

2- तथाहि उन्मत्तगङ्गमित्यव्ययीभावे पूर्वपदार्थप्राधान्याभावादव्याप्ति: सूपप्रतीत्यव्ययीभाव:उत्तरपदार्थप्राधान्यादव्याप्तिश्च । (वै॰भू॰)

3- अर्धपिप्पलीत्यात्र तत्पुरुषे पूर्वपदार्थप्राधान्यादतिव्याप्तिरप्यस्मिन् लक्षणे बोध्या । अतो नेदं सिद्धान्तभूतं लक्षणमिति (न्या॰को॰पृष्ठ 97)

तत्पुरुष:- पाणिनि कृत अष्टाध्यायी में तत्पुरुष: ‖2·1·22‖ से लेकर शेषो बहुव्रीहि: तक जो समास विधायक सूत्र हैं उनमें तत्पुरुष का अधिकार है, अर्थात् उन सूत्रों से जो समास होता है वह तत्पुरुष कहलाता है ।[7] तत्पुरुष समास में प्रथम पद द्वितीय पद का वैशिष्ट्यबोधक होता है अर्थात् प्रथम पद विशेषण और उत्तर पद विशेष्य होता है साथ ही विशेष्य प्रधान होता है । इसलिये तत्पुरुष का लक्षण 'उत्तरपदार्थ प्रधानता' कहा गया है ।[8] किन्तु उत्तरपदार्थ प्रधानता तत्पुरुष का लक्षण स्वीकार किये जाने पर 'अर्धपिप्पली' इत्यादि की अव्याप्ति तथा 'सुप्रति' जैसे अव्ययीभाव समासों की अति व्याप्ति होने के कारण यह लक्षण दोष युक्त हो जाता है ।[9]

तत्पुरुष शब्द के दो अर्थ होते हैं - 'तस्य पुरुष: तत्पुरुष:' एवं 'स: पुरुष: तत्पुरुष:' । इन दो अर्थों के अनुसार ही तत्पुरुष समास व्यधिकरण एवं समानाधिकरण भेद से दो प्रकार का होता है । वाचस्पत्यम् में तत्पुरुष के 3 मुख्य भेद स्वीकार किये गये हैं । किन्तु 3 भेद स्वीकार करते हुए भी व्यधिकरण तत्पुरुष को ही तत्पुरुष माना गया है शेष अन्य को द्विगु एवं कर्मधारय के रूप में स्वीकार किया गया है ।[10]

6- अव्ययीभावश्च समासो नपुंसकलिङ्गो भवति । ‖अव्ययीभावश्च,2,4,18 की वृत्ति अष्टा· टीका 315

7- शाब्दिकाश्च तत्पुरुषाधिकारविहित: समासस्तत्पुरुष: इत्याहु: । न्या·को·वृ· 311

8- उत्तरपदार्थ प्रधान स्तत्पुरुष: । वै· भू· सार· पृष्ठ 337

9- उत्तरपदार्थ प्रधान स्तत्पुरुष: । तन्न । अर्धपिप्पली इत्यादि तत्पुरुषे अव्याप्ते: । सुप्रति इत्याद्यव्ययीभावेतिव्याप्तेश्च । ‖वाच·‖ न्या·को·पृ·311

10- तन्मतेसव तत्पुरुष: प्रकारान्तरेण त्रिविध: । व्यधिकरणपदघटित: समानाधिकरण - पद घटित: संज्ञानवबोधकसंख्यावाचकपदघटिकश्चेति । तत्र संज्ञानवबोधकसंख्या पूर्वक समानाधिकरणपदघटितस्तत्पुरुषो द्विगुरित्युच्यते । द्विगुविषयपरिहारेण समानाधिकरण पदघटित तत्पुरुष: कर्मधारय इत्युच्यते । तद्भिन्नो व्यधिकरणपदघटित: तत्पुरुष इत्युच्यते । ‖वाच·‖ न्या· को· पृ· 312

व्यधिकरण का अर्थ है - अधिकरण का एक न होना । अतः व्यधिकरण तत्पुरूष में दोनों पदों का अधिकरण एक ही विभक्ति नहीं होती । परिणामस्वरूप व्यधिकरण तत्पुरूष समास में पूर्वपद प्रथमा विभक्ति को छोड़कर द्वितीया से लेकर सप्तमी विभक्ति पर्यन्त किसी भी विभक्ति का हो सकता है । उत्तर पद सदैव प्रथमा विभक्ति में ही रहता है । समास का प्रथम शब्द प्रथमा विभक्ति में नहीं हो सकता क्योंकि उसके प्रथमा विभक्ति का होने पर व्यधिकरण तत्पुरूष हो ही नहीं सकता समानाधिकरण हो जायेगा । इस प्रकार से व्यधिकरण तत्पुरूष द्वितीया विभक्ति से लेकर सप्तमी विभक्ति को आधार बनाने के कारण छः प्रकार का होता है । यथा - द्वितीया तत्पुरूष ष्[1] व॰प॰ष समस्तपद में पूर्वपद जिस विभक्ति में विद्यमान होता है, समास उसी विभक्ति के माध्यम से जाना जाता है । अर्थात् समस्त पद का प्रथम पद जिस विभक्ति में रहेगा, उसी के नाम पर इस समास का नाम होगा । यथा - ग्रामगतः ﴾द्वितीया तत्पुरूष﴿, चैत्रनीतः ﴾तृतीया तत्पुरूष﴿, ब्राह्मणदत्त ﴾चतुर्थी तत्पुरूष﴿, वृक्षपतित ﴾पंचमी त॰﴿, चैत्रधनम् ﴾ष॰त॰﴿, गृहपक्व ﴾स॰त॰﴿ ।[2]

वैयाकरण आचार्य व्यधिकरण तत्पुरूष को ही मूल रूप में तत्पुरूष समास के रूप में स्वीकार करते हैं । तत्पुरूष के एक अन्य भेद 'समानाधिकरण तत्पुरूष' को वे कर्मधारय समास मानते हैं । यही कारण है कि आचार्यगण कर्मधारय समास को तत्पुरूष समास के एक भेद के रूप में स्वीकार कर उसका तत्पुरूष में ही अन्तर्भाव कर लेते हैं ।

1-﴾अ﴿ स च तत्पुरूषो द्वितीयादिभेदेन षड्विधः । न्याय॰ कोश॰ पृ॰ 312
﴾ब﴿ द्वितीयादिसुबर्थस्य भेदादेव च षड्विधः । श॰ श॰ प्र॰ श्लोक 40
﴾स﴿ द्वितीयादिसुवर्थस्य कर्मत्वकर्तृत्वादेर्बोधभेदादेतस्य द्वितीया तृतीयादितत्पुरूषत्वेन षड्भेदाः । श॰ श॰ प्र॰ पृ॰ 227

2- तथा हि ग्रामगत इत्यत्रद्वितीया तत्पुरूषः । चैत्रनीत इत्यत्र तृतीयतत्पुरूषः ब्राह्मणदत्त इत्यत्र चतुर्थीतत्पुरूषः । वृक्षपतित इत्यत्र पञ्चमी तत्पुरूषः । चैत्रधनम् मैत्रगतिरित्यत्र षष्ठीतत्पुरूषः । गृह पक्व इत्यत्र सप्तमी तत्पुरूषः इति ।
न्याय॰ को॰ पृ॰ 312

कर्मधारय :- 'कर्मधारय' स 'तत्पुरुष' का ही एक भेद है जिसे 'समानाधिकरण तत्पुरुष' के नाम से भी अभिहित किया जाता है ।[1] कर्मधारय समास के दोनों पदों का सामानाधिकरण्य होता है । कर्मधारय को तत्पुरुष से पृथक् करने वाले तत्वों के रूप में पदों की अधिकरणता ही है । क्योंकि कर्मधारय समास में द्वितीय पद के साथ ही साथ प्रथम पद भी प्रथमा विभक्ति में ही होता है जबकि तत्पुरुष समास में पूर्वपद प्रथमा विभक्ति को छोड़कर द्वितीया से सप्तमी पर्यन्त किसी भी विभक्ति का हो सकता है ।आचार्य जगदीश तर्कालंकार ने कर्मधारय समास को परिभाषित करते हुये कहा है कि - 'ऐसे दो सुबन्त अवयव जो क्रम से विशेषण और विशेष्य रूप के हों'और उसमें एक सुबन्त के द्वारा अभिहित अर्थ में दूसरे सुबन्त का अर्थ तादात्म्य सम्बन्ध से बोधक हो, कर्मधारय समास कहलाता है ।[2]

कर्मधारय समास में प्रायः पूर्वपद उत्तर पद का विशेषण होता है तथा उत्तर पद संज्ञा होता है । कभी 2 दोनों पद संज्ञा होते हैं जिसमें प्रथमपद विशेषण होता है । साथ ही जब कभी दोनों पद संज्ञा होते हैं और उनमें पृथक पद द्वितीय का विशेषण नहीं होता तो दोनों ही पद परस्पर मिलकर संयुक्त रूप से किसी तीसरे पद का विशेषण बन जाते हैं ।

कर्मधारय समास मुख्य रूप से चार प्रकार का होता है -

(1) विशेषण पूर्वपद कर्मधारय ।

(2) उपमान पूर्वपद कर्मधारय ।

(3) उपमानोत्तर पद कर्मधारय ।

(4) विशेषणोभयपद कर्मधारय ।

1- (अ) तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः । (अष्टा॰ 1॰2॰42)
(ब) तत्पुरुषः समानाधिकरणपदः कर्मधारयसंज्ञो भवति ।(अष्टा॰ 1॰2॰42 की वृत्ति

2- क्रमिकं यत्रामयुगमेकार्थेऽन्यार्थबोधकम् ।
तादात्म्येन भवेदेष समासः कर्मधारयः । श॰ श॰प्र॰ श्लोक 34

विशेषण पूर्व पद कर्मधारय :- जहाँ समस्त पद में प्रथम पद विशेषण और द्वितीय पद 'विशेष्य हो वहाँ विशेषण पूर्वपद कर्मधारय' समास होता है ।[1] यथा नीलम् उत्पलम् नीलोत्पलम् । यहाँ नीलम् विशेषण और उत्पलम् विशेष्य है । चूँकि विशेषण पूर्वपद के रूप में प्रयुक्त हुआ है अतः इसे विशेषण पूर्वपद कर्मधारय नहीं है ।

उपमान पूर्व पद कर्मधारय :- उपमान वाचक सुबन्त का समानधर्म वाचक सुबन्त के साथ हुआ कर्मधारय समास उपमानपूर्वपद कर्मधारय समास कहलाता है ।[2] जब किसी वस्तु से उपमा दी जाय तो वह वस्तु जिसे उपमा दी जाय और वह गुण जिसकी उपमा हो परस्पर मिलकर कर्मधारय समास होंगे और उसे उपमान पूर्वपद कर्मधारय समास कहा जायेगा ।[3] यथा - घन इव श्यामः घनश्यामः । इस उदाहरण में किसी वस्तु की उपमा मेघ से दी गयी है और यह बताया गया है कि वह वस्तु ऐसी श्याम है जैसे बादल । यहाँ 'मेघ' उपमान और 'श्याम' सामान्य गुण है । और चूँकि उपमान 'घन' पूर्वपद के रूप में समास में आता है इसीलिये इसको उपमान पूर्व पद समास कहते हैं ।

उपमानोत्तरपद कर्मधारय:- जब उपमित ‖जिस वस्तु की उपमा दी जाय‖ और उपमान ‖जिससे उपमा दी जाय‖ दोनों साथ-साथ आवें, तब उस समास को उपमानोत्तर पद कर्मधारय कहते हैं ।[4] क्योंकि यहाँ उपमान प्रथम पद न होकर उत्तरपद होता है । उपमानोत्तरपद कर्मधारय समास में 'विशेष्य' पूर्वपद तथा विशेषण उत्तरपद के रूप में विद्यमान रहता है । यथा - मुखकमलम् - मुखं कमलमिव । यहाँ प्रथम पद 'मुख' उपमेय तथा उत्तरपद 'कमल' उपमान है, साथ ही 'मुख' विशेष्य तथा 'कमल' विशेषण है । अतः यहाँ 'उपमानोत्तरपद कर्मधारय समास' है ।

‖1‖ विशेषणं विशेष्येण बहुलम् ‖अ॰ 2·1·57‖
‖2‖ उपमान वाचीनि सुबन्तानि सामान्य वचनैः सुबन्तैः सह समस्यते ।‖2·1·55वीं वृत्ति‖
‖3‖ उपमानानि सामान्य वचनैः । ‖2·1·55‖
‖4‖ उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे । ‖अ·2·1·56‖

'उपमान पूर्व पद कर्मधारय' एवं 'उपमानोत्तर पद कर्मधारय समास के मध्य मुख्य रूप से 'उपतान' की स्थिति का ही अन्तर है, साथ ही उपमानपूर्व पद कर्मधारय समास में उस गुण का कथन किया जाता है जिसके कारण उपमा होती है जबकि उपमानोत्तरपद कर्मधारय में वह गुण प्रकट नहीं किया जाता वरन् यह बतला दिया जाता है कि उपमेय एवं उपमान समान हैं ।

<u>विशेषणोभयपद कर्मधारय</u> :- जब समास के दोनों पद विशेषण हों साथ ही साथ समानाधिकरण में प्रयुक्त हो, विशेषणोभावपद कर्मधारय समास कहते हैं । यथा - 'कृष्णश्च श्वेतश्च कृष्णश्वेत:' । यहाँ पर 'कृष्ण' एवं 'श्वेत' दोनों ही पद विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हुये समानाधिकरण में अवस्थित है । अत: यह विशेषणोभय पद कर्मधारय समास है ।

<u>द्विगुसमास</u>:- कर्मधारय समास की ही भाँति द्विगु समास भी तत्पुरुष समास का ही एक भेद है । जब कर्मधारय समास में प्रथम शब्द संख्यावाचक हो और दूसरा शब्द कोई संज्ञा तो उस समास को द्विगु समास कहते हैं ।[1] नैयायिक आचार्य जगदीश तर्कालंकार ने भी संख्यावाचक शब्द से युक्त लक्ष्यार्थबोध में सक्षम समास को द्विगु समास कहा है ।[2] 'द्विगु' शब्द में स्वयं 'द्विगु समास' का लक्षण घटित होता है । यथा 'द्विगु' शब्द में प्रथम पद 'द्वि' संख्यावाची और दूसरा गु (गो) संज्ञा है ।

आचार्य जगदीश तर्कालंकार द्विगु समास के तीन भेद - तद्धितार्थ द्विगु, समाहार द्विगु एवं उत्तरपद द्विगु मानते हैं ।[3] आचार्य पाणिनि ने स्वयं भी द्विगु समास के इन तीनों भेदों को स्वीकार किया है ।[4]

1-(अ) संख्यापूर्वो द्विगु: । (अ॰ 2॰1॰52)
(ब) संज्ञा विषयान्यत्वे सति संख्यावाचक पूर्वनामतुल्यार्थकोत्तरनामक: समास: ।
(म॰प्र॰4 पृ॰44)

2- संख्याशब्द युतोनाम तदलक्ष्यार्थबोधकम् ।
अभेदेनैव यत्स्वार्थे स द्विगु:- - - - । (श॰श॰प्र॰पृ॰ 217 श्लोक 35)

3- अयं द्विगुस्त्रिविध: । तद्धितार्थ: उत्तरपदपरक: समाहारार्थकश्चेति

4-(अ) तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च (अ॰2॰1॰51), संख्यापूर्वो द्विगु: (2॰1॰52) वृत्ति अ
न्या॰को॰पृ॰317

तद्धितार्थ द्विगु:- जिस 'द्विगु समास' में उत्तर पद तद्धित प्रत्यय युक्त हो उसे तद्धितार्थ द्विगु कहते हैं ।[1] यथा - द्वाभ्यां मुद्राभ्याम् क्रीतस्य 'द्विमुदो वृष', द्वाभ्यां वषभ्यामभिन्नवयस्कस्य 'द्विवर्षागौ' इत्यादि ।

समाहार द्विगु :- जिस द्विगु समास का उत्तर पद पूर्व संख्यावाची शब्द के साथ अन्वित होकर अपने अर्थ के साथ ही साथ समूह (समाहार) का द्योतक हो, उस द्विगु समास को समाहार द्विगु कहते हैं ।[2] यह समाहार द्विगु समास सदैव नपुंसकलिंग एकवचन में रहता है ।[3] यथा - प चानां गवां समाहार:, प चगवम् । किन्तु यदि कभी समाहार द्विगु समास का उत्तरपद आकारान्त हो[4] अथवा वट् लोक, मूल इत्यादि अकारान्त हो[5] तो समस्त पद स्त्रीलिंग में हो जाता है ।

उत्तरपद द्विगु :- जिस द्विगु समास से युक्त समस्तपद का उत्तरपद समस्तपद की अर्थाभिव्यक्ति के लिये किसी अन्य शब्द की आकांक्षा रखता है, उसे उत्तर पद द्विगु समास कहते हैं ।[6] यथा - पञ्च गावो धनमस्य इति पञ्चगवधन: (पुरुष:) ।

1-(अ) यो द्विगु: स्वोत्तर तद्धितार्थान्वितार्थान्वितस्वार्थक: स इति (तद्धितार्थ:)
(ब) तद्धितार्थान्वितस्वार्थस्तद्धितार्थो द्विगुर्मत: । श॰श॰प्र॰ श्लोक 36 पृ॰ 220

2-(अ) स्वार्थान्वितसमाहारलक्षकस्वान्त्यशब्दक: ।
(ब) उक्ताभ्यामितर: किं वा समाहारद्विगुर्द्विगु: ।। श॰श॰प्र॰ श्लोक 38 पृ॰ 222
(ब) स्वोपस्थाप्यार्थस्य समाहार लक्षको यदीयान्त्यशब्द: स द्विगु: समाहार द्विगु: ।
न्या॰ को॰ पृ॰ 973

3- द्विगुरेकवचनम् (अ॰2॰4॰1), स नपुंसकम् (अ॰2॰4॰17)

4- आबन्तो वा (वार्तिक)

5- अकारान्तोत्तरपदो द्विगु: स्त्रियामिष्ट: । पात्रान्तस्यन । वार्तिक

6-(अ) स्वान्तर्निविष्ट शब्दाभ्यां शब्दान्तरसमासग: ।
यो द्विगु: शाब्दिकैरुक्त: स उत्तरपद द्विगु: ।। श॰श॰प्र॰श्लोक 37 पृ॰ 221
(ब) यो द्विगु: स्वघटकनामभ्यां सह साकांक्ष नामान्तरेण समासस्य अन्तर्गत: स: ।
न्या॰ को॰ पृ॰ 149

<u>द्वन्द्व समास</u>:- दो या अधिक पद च (और) का अर्थ प्रकट करते हुये परस्पर संयुक्त होते हैं तो उसे द्वन्द्व समास कहते हैं ।[1] द्वन्द्व समास में समस्त पद में अन्वित सभी पदों के अर्थ का सम्यक् बोध होता है ।[2] जिस पद का जो भी अर्थ होता है वह अर्थ द्वन्द्व समास में स्पष्टतः परिलक्षित होता है ।[3]

द्वन्द्व समास में समस्त पद में अन्वित दोनों पद [4] या दो से अधिक पद अन्वित होने पर समस्त पद के सभी पद प्रधान होते हैं ।[5] यथा- रामश्च कृष्णश्च रामकृष्णौ, रामश्च लक्ष्मणश्च भरतश्च शत्रुघ्नश्च - रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाः ।

प्राचीन वैयाकरण द्वन्द्व समास के इतरेतर एवं समाहार दो भेद स्वीकार करते हैं ।[6] कुछ आचार्य 'एकशेष' को भी द्वन्द्व के ही एक भेद के रूप में स्वीकार करते हैं । किन्तु 'एकशेष' को द्वन्द्व का एक भेद स्वीकार करना उचित नहीं है क्यों कि 'एकशेष' को समास की ही भांति स्वतंत्र पृथक वृत्ति के रूप में माना गया है । सिद्धान्तकौमुदी के 'सर्वसमासशेष' प्रकरण में महोविहीक्षित में 'एकशेष' को एक पृथक वृत्ति ही मानते हैं ।[7] अतः द्वन्द्व समास के इतरेतर द्वन्द्व एवं समाहार द्वन्द्व दो ही भेद हैं ।[8] जिन्हें समस्त आचार्य स्वीकार करते हैं ।

1- चार्थे द्वन्द्वः । (अ॰2॰2॰29) अनेकं सुबन्तं चार्थे वर्तमानं समस्यो द्वन्द्वश्च समासो भवति । वृत्ति

2- परस्परानन्वित समस्यमाननिखिल पदार्थ बोधक समासः । (म॰प्र॰4 पृ॰ 44)

3- यद्यदर्थक्यन्नामव्यूहो यद्यत् प्रकार के ।
बोधे समर्थः स द्वन्द्वः समासस्तावदर्थकः । श॰श॰ प्र॰ श्लोक 48 पृ॰ 260

4- उभयपदार्थ प्रधानोद्वन्द्वः । वै॰भू॰सार पृष्ठ 373

5- सर्वपदार्थप्रधानः समासः । (न्या॰वा॰ । पृ॰ ।।)

6- द्वौ भेदावस्य शास्त्रोक्तौ समाहरेतरेतरौ । श॰ श॰ प्र॰ श्लोक 49

7- कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्त धातुरूपाः पञ्चवृत्तयः । परार्थाभिधानं वृत्तिः । (सिद्धान्तकौमुदी सर्वसमासशेषप्रकरण)

8-(अ) द्वन्द्वस्यको भेदौ-समाहार इतरेतरश्च शास्त्र सिद्धौ । श॰श॰प्र॰पृ॰ 27।
(ब) द्वन्द्वो द्विविधः । समाहारः इतरेतरश्चेति । न्या॰ को॰ पृ॰ 372

इतरेतर द्वन्द्व :- जिस द्वन्द्व समास में समस्त अवयवभूत पद अपना प्रधानत्व रखते हैं उसे इतरेतर द्वन्द्व समास कहते हैं ।[1] वैयाकरण लोग समस्तपद के सभी पदों के अन्वय की सामर्थ्य रखने वाले समास को इतरेतर द्वन्द्व मानते हैं ।[2] जगदीश तर्कालंकार का मानना है कि इतरेतर द्वन्द्व समास में समस्त पद में संयुक्त सभी पद परस्पर दूसरे की आकांक्षा रखते हैं ।[3] यथा – रामश्च लक्ष्मणश्च रामलक्ष्मणौ । इतरेतर द्वन्द्व समास के समस्त पद में यदि दो पद हैं तो समस्तपद द्विवचन में रखा जाता है किन्तु यदि दो से अधिक हैं तो समस्त पद बहुवचन में हो जाता है । यथा – रामश्च लक्ष्मणश्च रामलक्ष्मणौ रामश्चभरतश्चलक्ष्मणश्चशत्रुघ्नश्च रामभरतलक्ष्मण-शत्रुघ्ना: ।

समाहार द्वन्द्व :- जब द्वन्द्व समास में संयुक्त पद अपने अर्थ का बोध कराने के साथ ही मुख्यरूप से एक समूह (समाहार) को बोध कराते हैं, तब वह समाहार द्वन्द्व समास कहलाता है ।[4] समाहार द्वन्द्व समास अन्य सुबन्त की आकांक्षा से रहित होता है ।[5] वह पृथक-पृथक रूप से पदों को महत्त्व न प्रदान कर संहति (समाहार) का द्योतन करता है ।[6] यथा – आहारश्च निद्राच भयञ्च आहारनिद्राभयम् इस समाहार में आहार निद्रा और भय वा अर्थ है पर प्रधानतया जीवों के लक्षण का बोध होता है ।

1- संहन्यमानप्राधान्य इतरेतरयोग: इति । (वाचस्पत्यम्)

2- शाब्दिकाश्च मिलितानामन्वय इतरेतर: इति वदन्ति । न्यायकोश पृ॰ 138

3- एकवचनान्यसुबाकांक्ष: (इतरेतरद्वन्द्व:) समास: । श॰श॰प्र॰पृ॰ 27।

4- समूहार्थको द्वन्द्व संज्ञक: समास: इति शाब्दिका आहु: । न्या॰कोश पृ॰ 973

5- एकवचनान्य सुबाकांक्षाविहीन: समाहार: । श॰श॰प्र॰पृ॰ 27।

6- संहतिप्राधान्ये समाहारद्वन्द्व: । वाचस्पत्यम् ।

बहुव्रीहि:- जब समास में आये हुये पद परस्पर मिलकर किसी अन्य शब्द के विशेषण - स्वरूप रहते हैं तो उसे बहुव्रीहि समास कहते हैं ।[1] वैयाकरण आचार्य समस्तपद में संयुक्त पदों से अतिरिक्त अन्य पद की प्रधानता बहुव्रीहि का लक्षण मानते हैं ।[2] वस्तुत: बहुव्रीहि समास के रूप में संयुक्त पद अपने गर्भ में अपने अर्थों के अतिरिक्त अन्य पद के अर्थ को भी वहन करते हैं तथा बहुव्रीहि के माध्यम से उसका ज्ञापन करते हैं ।[3]

'बहुव्रीहि' समास का लक्षण बहुव्रीहि' शब्द में ही घटिताहोता है । यथा - बहुव्रीहि शब्द का यौगिक अर्थ है बहु: व्रीहि: यस्य अस्ति स: बहुव्रीहि । इसमें दो शब्द हैं "बहु"और 'व्रीहि' । प्रथम शब्द दूसरे शब्द का विशेषण है और दोनों पद मिलकर किसी तीसरे के विशेषण हैं । इसी लिये इस प्रकार के समासों का नाम'बहुव्रीहि' है ।

रूप रचना की दृष्टि से बहुव्रीहि समास के मुख्य दो भेद हैं -

(अ) समानाधिकरण बहुव्रीहि ।

(ब) व्यधिकरण बहुव्रीहि ।[4]

सभी पद एक ही अधिकरण (विभक्ति) में

समानाधिकरण बहुव्रीहि :- जिस बहुव्रीहि समास में संयुक्त, स्थित हो समानाधिकरण बहुव्रीहि समास कहलाता है । यथा प्राप्तमुदकं यं स:प्राप्तोदक:

समानाधिकरण बहुव्रीहि समास प्रथमाविभक्ति को छोड़कर द्वितीया से लेकर सप्तमी विभक्ति पर्यन्त किसी भी विभक्ति में अवस्थित हो सकता है । इसीलिये

1- अनेकमन्यपदार्थे । 2·2·24·। अनेकं सुबन्तमन्यपदार्थे वर्तमानं समस्यते बहुव्रीहिश्च समासो भवति । अ· 2·2·24 की वृत्ति ।

2-(अ) अन्यपदार्थ प्रधानो बहुव्रीहि: । वै· भू· सार· पृष्ठ 337
(ब) शाब्दिकानां मते प्रायेणान्दपदार्थप्रधान: समासविशेषो बहुव्रीहि: । न्या·का·पृ· 599

3- बहुव्रीहि: स्वगर्भार्थसम्बन्धित्वेन बोधक: । श·श·प्र· श्लोक 43

समानाधिकरण बहुव्रीहि का द्वितीया निष्ठ, तृतीया निष्ठ, चतुर्थी निष्ठ, पञ्चमी निष्ठ, षष्ठी निष्ठ, सप्तमी निष्ठ 6 भेद होते हैं । यह भेद विग्रह में आये हुये यत् शब्द की विभक्ति से जाने जाते हैं । यदि विग्रह वाक्य में यत् द्वितीया विभक्तियोमें तो समास द्वितीयानिष्ठ समानाधिकरण बहुव्रीहि होगा और यदि तृतीया में तो तृतीयानिष्ठ समानाधिकरण बहुव्रीहि समास होगा । इसी प्रकार अन्य भेद भी होंगे ।

व्यधिकरण बहुव्रीहि :- जिस बहुव्रीहि समास में संयुक्त पदों का अधिकरण(विभक्ति) पृथक-पृथक हो उसे व्यधिकरण बहुव्रीहि समास कहते हैं ।

व्यधिकरण बहुव्रीहि समास में एक पद प्रथमान्त होता है दूसरा षष्ठी या सप्तमी विभक्ति में होता है । यथा - चन्द्रः शेखरे यस्य सः चन्द्रशेखरः ।

बहुव्रीहि समास में संयुक्त पदों की संख्या को आधार बनाकर 'बहुव्रीहि 'समास' का विभाजन द्विपद, त्रिपद, चतुष्पद आदि भेद से करते हुये उसे नाना प्रकार का मानाजाता है ।[1] किन्तु यह एक अनावश्यक एवं असंगत प्रयास है । क्योंकि हम देखते हैं कि अनेक पदों के परस्पर सम्मिलन से बनने वाले बहुव्रीहि समास में भी क्रमशः दो - दो पद ही संयुक्त होते हैं । यथा - 'अधिकोन्नतांसः' समस्त पद बहुव्रीहि समास है । जो अधिकः, उन्नतः और अंसः से मिलकर बना है । परन्तु इन तीनों पदों में क्रमशः दो का समास होते हुये 'अधिकोन्नतांसः' शब्द बनता है । अधिक उन्नतः यः सः अधिकोन्नतः, अधिकोन्नतः अंसः यस्य सः अधिकोन्नतांसः की बहुव्रीहि समास का समस्त पद में विद्यमान पदों की संख्या के आधार पर किया गया विभाजन असंगत है । दो से अधिक पदों से युक्त समस्त पदों को भी दो-दो पदों में सरलता से विभक्त किया जा सकता है ।

1-(अ) स्वान्तर्निविष्टाद्दित्यादिनामभिर्विग्रहात् पुनः ।
बहुव्रीहिर्बहुविधो द्विपद - त्रिपदादिकः । श॰श॰प्र॰ श्लोक 47 ।

एक अन्य प्रकार से भी बहुव्रीहि समास का विभाजन किया जाता है । जिसके आधार पर बहुव्रीहि समास के दो मुख्य भेद हैं -

§अ§ तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि ।

§ब§ अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि ।[1]

तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि :- जिस बहुव्रीहि समास में समस्त पद के अवयव अपने अर्थ के साथ ही साथ गुणों से भी युक्त होकर संयुक्त होते हैं वह तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास कहलाता है ।[2] तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास में उसके अवयव अपने अर्थ के साथ अन्वित होकर समासार्थ द्योतित करने में समर्थ होते हैं ।[3] यथा - 'लम्बकर्णमानय' अर्थात 'लम्बे कान हैं जिसके ऐसे व्यक्ति को लाओ' समस्त पद तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास का उदाहरण है क्योंकि इस समस्त पद द्वारा द्योतित अर्थ लम्बे कान वाले व्यक्ति के साथ ही 'लम्बे कानों' का भी आनयन हो रहा है । अतः यहाँ पर तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि स्पष्ट है ।

तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास में समस्त पद §विशेषण§ का क्रिया के साथ विशेष्य विधि से अन्वय होता है । यथा - चैत्रादिन्भोजय ।

स्पष्ट है तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास में उसके अवयवार्थ के साथ ही साथ अवयवों के गुणों का भी अन्वय होता है तथा अवयवार्थ के साथ गुणों का अन्वय होने पर ही समासार्थ की प्राप्ति होती है । अर्थात् तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास

1-§अ§ प्रकारान्तरेण बहुव्रीहिर्द्विविधः । तद्गुणसंविज्ञानः अतदगुणसंविज्ञानश्चेति ।
न्यायकोश पृ॰ 600

§ब§ तद्गुणसंविज्ञानोऽतद्गुणसंविज्ञानश्च बहुव्रीहिर्द्वौ भेदौ । श॰श॰प्र॰श्लोक 45 की टीका पृ॰ 257

2- शब्द श॰ प्र॰ कारिका 45 पृ 257

3- त॰ प्र॰ ख॰ 4 पृष्ठ 49

में समस्त पद का स्वरूप ग्रहण करने के पूर्व अवयवों में जिन गुणों का भाव होता है, वे गुण अवयवों के अर्थ के साथ ही अन्वित होकर समासार्थ बोध कराते हैं ।[1] बहुव्रीहि के इस भेद में अवयवो के साथ ही साथ अवयवों के गुण भी समस्त पद में संयुक्त हो जाते हैं । यथा - 'हारग्रीवंपश्य अर्थात् हार वाली ग्रीवा देखो' यहाँ पर समस्त पद के अवयव हार एवं ग्रीवा के अर्थों के साथ ही साथ उनके गुणों का भी अन्वय हो जाने से हार वाली ग्रीवा के साथ ही साथ हार एवं ग्रीवा भी देखी जाती है, जो तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास का ही वैशिष्ट्य है ।

<u>अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास :-</u> जिस बहुव्रीहि समास में समस्त पद के अवयव अपने अर्थों को अन्वित कर समासार्थ बोध तो कराते हैं किन्तु अवयवों में निहित गुणों का अन्वय करने में असमर्थ होते हैं - अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास कहलाता है [2] अर्थात् अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास में समस्त पद के अवयव परस्पर अन्वित होकर समासार्थ का प्रतिपादन करते हैं किन्तु उस समासार्थ के द्वारा समस्त पद में विद्यमान अवयवों के गुणों का किञ्चित् भी बोध नहीं होता । यथा - 'दृष्टिसागरमनय - जिसने सागर को देखा है ऐसे व्यक्ति को लाओ' इस उदाहरण में समस्त पद 'दृष्टिसागर' के अवयवों दृष्टि एवं सागर का परस्पर अन्वय होकर सागर को देख चुके व्यक्ति का बोध तो हो जाता है किन्तु इन अवयवों में विद्यमान गुण 'देखा गया सागर' का आनयन सम्भव नहीं हो पाता ।

वस्तुत: बहुव्रीहि समास के इन दोनों भेदों तद्गुण संविज्ञान एवं अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि में उतना बड़ा अन्तर नहीं है जिस रूप में नैयायिक आचार्य जगदीश तर्कालंकार आदि ने स्वीकार किया है । बहुव्रीहि के इन दोनों भेदों में अवयवोंमें विद्यमान गुण मात्र का समस्त पद द्वारा कथन किये जाने या न किये जाने का ही अन्तर है । जिसके कथन का बहुव्रीहि समास के स्वरूप या उसके अर्थ के द्योतन में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता । इसी कारण वैयाकरण आचार्यों ने बहुव्रीहि समास के इन

1- शब्द शक्ति प्रकाशिका का 45 पृ॰ 257

का कथन कहीं नहीं किया । किन्तु न्यायदर्शन में गुणों का अपना विशिष्ट महत्व है, इसी कारण नैयायिक आचार्यों ने अवयवों के गुणों की समस्त पदों में विद्यमानता या अविद्यमानता के आधार पर बहुव्रीहि समास के तद्गुण सविज्ञान तथा अतद्गुण सविज्ञान प्रकार से भेद स्वीकार किया है, जिसे बाद में वेदान्त इत्यादि अन्य मतावलम्बी आचार्यों ने भी स्वीकार किया है ।

अन्य समास

रूप रचना की दृष्टि से अव्ययीभावादि छ: समासों के अतिरिक्त कुछ और भी समास हैं जो संस्कृत साहित्य में पाये जाते हैं । यद्यपि आचार्यों ने अव्ययीभावादि समासों में इनका अन्तर्भाव कर लिया है, किन्तु स्वरूप की दृष्टि से मौलिक होने के कारण इनका कथन अलग से ही करना उचित है । अव्ययीभावादि छ: समासों के अतिरिक्त निम्न चार समास हैं ।

(क) उपपद समास ।

(ख) अलुक् समास ।

(ग) नञ् समास ।

(घ) एकशेष समास ।

(क) उपपद समास:- जब समास का प्रथम शब्द कोई ऐसा पद हो जिसके कर्म आदि रूप से रहने पर ही, उस समस्त पद के द्वितीय शब्द का अर्थ सिद्ध हो, उपपद समास कहलाता है । उपपद समास में द्वितीय पद कृदन्त ही होना चाहिये उसे क्रिया रूप का न होना चाहिये ।[1] साथ ही कृदन्त के रूप में आया हुवा द्वितीय पद इस प्रकार का हो जिसका अर्थ प्रथम पद के न रहने पर असम्भव हो जाये ।[2] प्रथम शब्द को उपपद [3] कहते हैं इसी से इस समास का नाम उपपद समास है । यथा -

---

1- यद्युत्तरपदं नामानुत्तरं सदबोधकम् । धातुकृद्यामुपपदसमास:स तदन्तक: ।श•श•प्र•का 50

कुम्भं करोति इति कुम्भकारः में 'कुम्भ' और 'कार' दो पद हैं। कुम्भ कर्म रूप से उपपद है, 'कार' क्रिया रूप का न होकर कृदन्त का है। साथ ही यदि पूर्व में उपपद कुम्भ न हो तो 'कारः' का कोई तात्पर्य नहीं रह जाता अतः कुम्भकारः में उपपद समास है।

(ख) अलुक् समास :- समास में संयुक्त पदों में से प्रथम पद की विभक्ति प्रत्यय का लोप हो जाता है, किन्तु संस्कृत साहित्य में कुछ ऐसे समस्त पद भी प्रयुक्त हुये हैं जिनमें संयुक्त पदों के प्रथम पद की विभक्ति का लोप नहीं हुआ। ऐसे, वे समस्त पद जिनमें पूर्वपद की विभक्ति का लोप नहीं होता,[1] अलुक् समास कहलाते हैं। यथा - मनसागुप्ता (किसी व्यक्ति का नाम), जनुषान्धः (जन्मान्ध), परस्मैपदम् (संस्कृत व्याकरण का पारिभाषिक पद), देवानांप्रियः (मूर्ख) दूरादगतः इत्यादि।

किन्तु अलुक् समास की स्वीकृति मात्र पूर्व ग्रन्थकारों को ही प्राप्त है। पूर्व ग्रन्थकारों के साहित्य में आये हुये समस्त पदों को ही हम 'अलुक्समास' के उदाहरण के रूप में ले सकते हैं। उनके अतिरिक्त किसी अन्य समस्त पद में विभक्ति (प्रत्यय) का लोप न करने का हम लोगों को अधिकार प्राप्त नहीं है।

(ग) नञ् समास :- जब समास में प्रथम पद न (नञ्) या उसका वाचक कोई अन्य पद रहे तथा द्वितीय पद कोई संज्ञा या विशेषण रहे तो उसे नञ् समास कहा जाता है।[2] बहुधा यह 'न' व्यंजन के पूर्व आने पर 'अ' में[3] और स्वर के पूर्व आने पर 'अन्' में[4] बदल जाता है। यथा - 'न कृतम् अकृतम', 'न आगतम् अनागतम्'

1- अलुगुत्तरपदे (अ॰ 6॰3॰1)

2- (अ) नञ्। (अ॰ 2॰ 2॰ 6)
(ब) नञर्थबोधकतया न पद घटितः समासः। (न्याय मंजरी 4 पृ॰14)न्याय को॰400

3- नलोपो नञः। (अ॰ 6॰ 3॰ 3)

4- तस्मान्नुडचि। (अ॰ 6॰ 3॰ 74)

परन्तु कभी-2 यह परिवर्तित नहीं होता है । यथा - 'न गः नगः' ।

(घ) एकशेष :- संस्कृत साहित्य में कुछ ऐसे पद प्राप्त होते हैं जो अकेले होते हुए भी दो पदों के अर्थ का बोध कराते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ दो पदों में से केवल एक ही पद अवशिष्ट रहकर दोनों पदों के अर्थ का अकेले ही बोध कराये वहाँ 'एकशेष' होता है । यथा - माता च पिता च पितरौ, भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ आदि ।

कुछ आचार्यों ने 'एक शेष' को द्वन्द्व समास के ही एक भेद के रूप में स्वीकार किया है । किन्तु वैयाकरण आचार्य 'एकशेष' को समास ही नहीं मानते । वार्तिककार कात्यायन ने 'एकशेष' को समास मानने से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का उल्लेख अपने वार्तिक में किया है ।[1] साथ ही वैयाकरण आचार्यों ने एकशेष को समास न मानकर उसको भी एक पृथक् वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है ।[2] आचार्य भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी के सर्वसमासशेष प्रकरण में 'एकशेष' के पृथक् वृत्ति होने का स्पष्ट उल्लेख किया है ।[3]

'एकशेष' में अवशिष्ट पद का वचन [illegible] पदों की संख्या के अनुसार होता है तथा उसका लिङ्ग शेष रहने वाले पद के समान होता है । यदि 'एकशेष' में पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग पद मिलते हैं तो 'एकशेष' में अवशिष्ट पद पुल्लिंग में होता है ।

कुछ आचार्यों की मान्यता है कि पुत्रौ, भ्रातरौ, शुद्धौ, चटकौ, छटौ आदि पदों में एक शेष नहीं है । वस्तुतः ये सभी स्वतन्त्र प्रकृति हैं तथा विशेष अर्थों के बोधक हैं । इनका प्रयोग सदैव द्विवचन में होता है । पितरौ शब्द मूलरूप

1- समास इति चेत्स्वर समासान्तेषु दोषः । अ० 1० 2० 64 का 5 वाँ वार्तिक

2- व्याकरणशास्त्रसिद्धो वृत्ति विशेषः । न्याय कोश पृ० 189

3- कृत्तद्धित समासैकशेषसनाद्यन्त धातुरूपाः पञ्चवृत्तयः । सि० कौ० सर्वसमासशेषप्रकरण

से माता और पिता अर्थ का वाचक है तथा वह सदैव द्विवचन में प्रयुक्त होता है । यह मातृ और पितृ पदों का समस्त रूप नहीं है क्योंकि उनका समस्त रूप तो माता पितरौ होता है ।[1] अतः 'एकशेष' को समास मानना उचित नहीं है ।

समस्त पदों के अवयवों की दृष्टि से समास विभाजन

कतिपय वैयाकरणों ने समासों का वर्गीकरण उनके अवयवों के आधार पर किया है । समस्त पदों के अवयवों के आधार पर समास को छः भागों में विभक्त किया जा सकता है ।[2]

§1§ सुबन्त का सुबन्त के साथ समास यथा राजपुरुषः ।[3]

§2§ सुबन्त का तिङन्त के साथ समास यथा पर्यभूषयत् ।[4]

§3§ सुबन्त का नाम के साथ समास यथा कुम्भकारः ।[5]

§4§ सुबन्त का धातु के साथ समास यथा कटप्रूः ।[6]

§5§ तिङन्त का तिङन्त के साथ समास यथा पिबत खादता ।[7]

§6§ तिङन्त का सुबन्त के साथ समास यथा कृन्तविचक्षणा जहिस्तम्ब ।[8]

1- कौमारास्तु-मात्रा पितुर्द्वन्द्वे मातापितृभ्यां मातापितराभ्यामिति प्रयोगाद्वयीदर्शना चैतस्य पितराविित्यत्र नैकशेषः, परन्तु पुष्पदन्तादिवत् मातृत्वपितृत्वाभ्यां विभिन्न - रूपाभ्यामेक शक्तिपदमेव नितद्विवचनाकाङ्क्षं पितृपदं प्रकृत्यन्तरम् । एवं श्वश्रूश्च श्वसुरश्चेत्यर्थे श्वसुरौ इत्यत्र श्वसुरपदमपि श्वश्रूश्वसुरस्य द्वन्द्वे श्वश्रूश्वसुराविति त्वेन प्रयोगदर्शनात् । श॰ श॰ प्र॰ पृ॰

§2§ सुपां सुपा तिङ्नाम्ना धातुनाऽथ तिङां तिङा ।
सुबन्तेनेति विज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः ।। सि॰कौ॰सर्वसमास शेष प्रकरण ।

§3§ सुपां सुपा पदद्वयमपि सुबन्तम् । राजपुरुष इत्यादिः । वै॰भू॰सार पृष्ठ 332

§4§ सुपां तिङा पूर्वपदं सुबन्तमुत्तरपदम् तिङन्त । पर्यभूषयत् अनुव्यचलत् ।

§5§ सुपां नाम्ना कुम्भकार इत्यादिः । वै॰भू॰ सार पृष्ठ 333

§6§ सुपां धातुना । उत्तरपदं धातुमात्रं यः सुप्तिङन्तम् । कटप्रूः, आयतस्तूः ।
वै॰भू॰सार पृष्ठ 334

§7§ तिङां तिङा । पिबतखादता, पचतभृज्जतेत्यादि । वै॰भू॰सार पृ॰ 334

समास का यह वर्गीकरण समस्त पद में संयुक्त पूर्व पद तथा उत्तरपद के क्रम को दृष्टि में रखकर किया गया है । यदि समास के पदों के क्रम की अवहेलना की जाय तो 'सुबन्त का तिङन्त से' एवं 'तिङन्त का सुबन्त से' समास के स्थान पर 'सुबन्त का सुबन्त से' एक ही भेद होगा । क्योंकि सुबन्त के अन्तर्गत सुबन्त के साथ ही तिङन्त का भी अन्तर्भाव हो जाता है । अतः 'सुबन्त का तिङन्त से' एवं 'तिङन्त का सुबन्त से' समास में कोई अन्तर नहीं है । क्योंकि दोनों में सुबन्त और तिङन्त पदों का ही समास है । अतः अवयवों की दृष्टि से समास 5 प्रकार का ही है ।[1] इसी प्रकार सुबन्त का नाम, तथा सुबन्त का धातु के साथ पृथक्-पृथक् समास मानना भी मात्र व्याकरण की प्रक्रिया के निमित्त के लिए ही है । क्योंकि नाम और धातु दोनों का अन्तर्भाव सुबन्त के साथ होजाता है । अतः अवयवों की दृष्टि से समास के ये दोनों वर्ग 'सुबन्त का सुबन्त के साथ समास' के अन्तर्गत ही आते हैं । इस प्रकार समस्त पद के अवयवों की दृष्टि से समास केवल 3 प्रकार का होता है -

(1) सुबन्त का सुबन्त के साथ समास ।

(2) तिङन्त का तिङन्त के साथ समास ।

(3) सुबन्त का तिङन्तके साथ समास ।

<u>सुबन्त का सुबन्त के साथ समास :-</u> जिस समास में संयुक्त सभी पद सुबन्त होते हैं वे समास इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं । सुबन्त के अन्तर्गत धातु तथा नाम भी आते हैं क्योंकि इनमें भी सुप् लगा होता है । यथा - राजपुरुषः, कुम्भकारः, कटप्रूः इत्यादि ।

1- अत्र सुपां तिङेत्यनेनैव तिङां सुबन्तेनेत्यस्यादि ग्रहणात्, षड् (सप्तरूप) विधत्वं चिन्त्यम् पञ्चविधत्वमेव युक्तम् । बालमनोरमा सिद्धान्त कौमुदी सर्वसमासशेषु प्रकार

तिङन्त का तिङन्तके साथ समास :- जिस समास के दोनों पद तिङन्त होते हैं, उन समासों की गणना इस वर्ग के अन्तर्गत की जाती है । यथा - पिबत खादता ।

सुबन्त का तिङन्तके साथ समास :- जिस समस्त पद का एक पद सुबन्त एवं दूसरा तिङन्त होता है, उनका क्रम चाहे जो भी हो, समास के इस वर्ग के अन्तर्गत आता है । यथ - पर्यभूषयत्, कृन्तविचक्षणा आदि ।

समस्त पदों की प्रकृति की दृष्टि से समास - विभाजन

समस्त पदों की प्रकृति की दृष्टि से भी समासों का विभाजन किया गया है । आचार्य जयादित्य ने प्रकृति के आधार पर समासों का विभाजन करते हुए उनके दो भेद किये हैं -

{1} नित्य समास ।

{2} अनित्य समास ।[1]

नित्य समास :- वे समस्त पद जो नित्य समस्त रूप में ही प्रयोग में आते हैं तथा व्यस्त रूप में जिनका प्रयोग नहीं किया जा सकता, नित्य समास कहलाते हैं । वस्तुत: कुछ समस्त पद ऐसे हैं जो अर्थ विशेष में रूढ हो जाने के कारण अपना अर्थबोध कराते हैं किन्तु यदि उन समस्त पदों का व्यस्त रूप में प्रयोग करने हेतु उसके अवयवों में विभक्ति आदि का प्रयोग किया जाता है तो वह 'व्यस्त रूप' समस्त

1- नित्यानित्यभेदेन समासस्य द्वैविध्यमप्यस्ति । यदुक्तं जयादित्येन -
विभक्तिमात्र प्रक्षेपान्निर्गतान्तर्गतनासु ।
स्वार्थस्याबोधबोधाभ्यां नित्यानित्यौ समासकौ ।। श॰श॰प्र॰पृ॰ 196

पद का अर्थ - बोध नहीं करा पाता ।[1] फलतः ऐसे समस्त पदों का वाक्य या वृत्ति द्वारा अर्थबोध न हो पाने के कारण व्यस्त प्रयोग का निषेध कर सदैव समास रूप में ही प्रयोग करने का अवधान किया गया है । यथा - 'कृष्णसर्पः' समास का अर्थ है 'कृष्ण सर्प (कोबरा) नामक विशेष सर्प' किन्तु इस समस्त पद के व्यस्त रूप 'कृष्णः सर्पः' का अर्थ 'काला सर्प' हो जाता है जो अयुक्तियुक्त एवं असंगत है ।

महर्षि पाणिनि ने नित्य समासों का विधान करते हुए अव्ययं॰ (2·1·6) एवं विभाषा (2·1·11) सम्बन्धों के मध्य में आए हुए सूत्रों के द्वारा नित्य समासों का परिगणन किया है । कुछ विशेष स्थितियों का परिगणन अन्यत्र भी किया गया है जिनका उल्लेख कात्यायन एवं पतञ्जलि ने अपने वार्तिक एवं महाभाष्य में किया है ।

वैयाकरण आचार्यों ने नित्य समासों को परिभाषित करते हुए कहा है कि जिन समस्त पदों का विग्रह उनके अपने अवयवों (स्वपदों) के माध्यम से सम्भव न हो नित्य समास कहलाते हैं । जो युक्तियुक्त हैं । क्योंकि 'कृष्णसर्पः' 'असुरः' आदि नित्य समासों का स्वपद विग्रह नहीं होता ।[2]

<u>अनित्य समास :-</u> जिन समासों का 'समस्त रूप' के साथ ही साथ 'व्यस्त रूप' में भी प्रयोग किये जाने पर अर्थबोध हो जाता है अर्थात् जिन समासों का प्रयोग 'व्यस्त रूप' में किये जाने की छूट है तथा 'व्यस्त स्वरूप' समासार्थ का बोध करा देता है, अनित्य समास कहलाते हैं । ये समास वाक्य के रूप में भी प्रयोग किये जा सकते हैं, इनका समस्त रूप में ही प्रयोग किया जाना अनिवार्य नहीं है । समस्त पद का जो अर्थ होता है, वही अर्थ समास के अवयवों में विभक्ति आदि के संयोजन से प्राप्त हो जाता है । परिणामस्वरूप समस्त पद एवं उसके वृत्ति वाक्य के अर्थ बोध

1- स्वान्तर्गतनामसु विभक्तिमात्र प्रक्षेपेण यत्तत्स्यार्थस्याबोधः सः नित्यः समासः । यथा - कृष्णसर्पनिर्मक्षिकासुरादिः, श॰श॰प्र॰पृ॰ 197

2- शाब्दिकास्तु समस्यमानयावत्पदरहितविग्रह - वाक्य सूचितः समासविशेषः इत्याहुः (वाच०) न्यायकोश पृ॰ 419

में कोई अन्तर नहीं पड़ता । यथा- राजपुरूष, पूर्वकाय आदि समस्त पदों का प्रयोग उक्त समास रूप के अतिरिक्त 'राज्ञः पुरूषः' तथा 'पूर्व कायस्य' वाक्य के रूप में भी होता है तथा वाक्य एवं समास दोनों का अर्थ भी समान होता है । ऐसी स्थिति में समास के स्थान पर वाक्य का भी प्रयोग किया जा सकता है ।

जिन समस्त पदों के स्थान पर वाक्य-प्रयोग सम्भव है वे अनित्य समास कहलाते हैं । अष्टाध्यायी में सूत्र विभाषा[2] के बाद परिगणित प्रायः समस्त समास अनित्य ही हैं जिनका समस्त तथा व्यस्त रूप में से किसी भी एक रूप का प्रयोग करने के लिये हम स्वतंत्र हैं । इनका विग्रह समास के अवयवों से ही होता है । अर्थात अनित्य समासों का विग्रह स्वपद ही होता है नित्य समासों कीभाँति अस्वपद नहीं

1- स्वान्तर्गतनाम्सु विभक्तिमात्र प्रक्षेपेण यल्लभ्यस्यार्थस्य बोधः सः ।
यथा - राजपुरूषपूर्वकायादिः । अत्र तल्लभ्यार्थस्य राज्ञः पुरूषः
पूर्व कायस्य इत्यादिवाक्यादपि प्रतीतेः । श॰श॰प्र॰पृ॰ 197

2- विभाषा - अष्टाध्यायी 2॰1॰।

समस्त पदों के अर्थ की दृष्टि से समास विभाजन

समस्त पदों के अर्थ को दृष्टि में रखते हुए भी समासों का विभाजन किया जा सकता है । कोई भी समास दो पदों से मिलकर बनता है इनमें से प्रथम पद को पूर्वपद तथा द्वितीयपद को उत्तरपद कहते हैं । समस्त पदों में कभी उनका पूर्वपद तथा कभी उत्तरपद प्रधान होता है, कभी दोनों पदों का अर्थ प्रधान होता है । कभी - कभी ऐसा भी होता है कि दोनों ही पदों का अर्थ गौण होता है तथा कोई अन्य ही अर्थ प्रधान होता है । इस प्रकार समस्त पदों के अर्थ की दृष्टि से समास चार प्रकार का होता है।[1]

§1§ पूर्वपदार्थ प्रधान समास ।

§2§ उत्तरपदार्थ प्रधान समास ।

§3§ उभयपदार्थ प्रधान समास ।

§4§ अन्य पदार्थ प्रधान समास ।

इनमें से पूर्व पदार्थप्रधान समास को अव्ययीभाव, उत्तरपदार्थ प्रधान समास को तत्पुरुष, उभय पदार्थ प्रधान समास को द्वन्द्व और अन्य पदार्थ प्रधान समास को बहुव्रीहि कहते हैं ।[2]

आचार्य जगदीश तर्कालंकार समस्त पदों के अर्थ की दृष्टि से समासों का विभाजन करते हुए समास के पूर्वपदार्थ प्रधानादि चार भेदों के साथ ही 'मध्यमपद प्रधान समास' रूप में समास के पांचवे भेद का उल्लेख करते है ।[3] उन्होंने 'मध्यमपद

---

§1§ समासस्तु चतुर्धेति प्रायोवाद स्तथापरः ।
यो॑ऽयं पूर्वपदार्थादि प्राधान्य विषयः स च ।। वै॰भू॰सार॰ का॰ 29 पृ॰ 335

§2§ पूर्वपदार्थ प्रधानोऽव्ययीभावः, उत्तरपदार्थ प्रधानस्तत्पुरुषः, उभयपदार्थ प्रधानो द्वन्द्वः अन्यपदार्थ प्रधानो बहुव्रीहिः । वै॰ भू॰ सार पृ॰ 337

§3§ पूर्वमध्यान्त्य सर्वान्यपदप्राधान्यतः पुनः ।
प्राच्यैः पञ्चविधः प्रोक्ताः समासो वाग्भटादिभिः ।। श॰श॰प्र॰का॰ 33

प्रधान समास के उदाहरण के रूप में 'पटानधिकरण' समस्त पद दिया है। क्योंकि इस समस्त पद के पटस्य न अधिकरणम् इस विग्रह में 'न' इस मध्य पद का 'निषेध' अर्थ ही प्रधान है। अतः इस प्रकार के समासों में जहाँ मध्यमपद प्रधान हो उन्हें मध्यमपद प्रधान समास की कोटि में रखा जा सकता है। परन्तु जगदीश तर्कालंकार, वाग्भटादि आचार्यों का यह मत समीचीन नहीं है। क्योंकि हम जानते हैं कि समास सदैव दो पदों का ही होता है, अतः दो पदों में कोई मध्यम पद होता ही नहीं। जहाँ तक 'पटानधिकरणम जैसे समस्त पदों की बात है तो इन समस्त पदों में भी दो-दो पदों का ही समास होता है2। इसमें पहले 'न' और अधिकरण' पद का समास होकर 'अनधिकरण' पद बनता है तदनन्तर 'पट के साथ अनाधिकरण' का समास होने पर 'पटानधिकरण' पद बनेगा। प्रारम्भ में 'अनधिकरण' पद में 'न' का निषेध अर्थ प्रधान है। अतः 'अनधिकरण' में पूर्व पदार्थ प्रधान समास माना जायेगा। किन्तु पट के साथ अनधिकरण का समास होकर 'पटानधिकरण' बनने पर उत्तरपद 'अनधिकरण' का अर्थ प्रधान होता है अतः 'पटानधिकरण' को उत्तरपदार्थ प्रधान समास के अन्तर्गत गिना जायेगा। इसके लिये समास के भेद के रूप में पृथक् से मध्यपदार्थ प्रधानसमास मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

पाणिनि इत्यादि आचार्य अर्थ की दृष्टि से समासों के किये गये भेद में पूर्व पदार्थ प्रधान आदि को अव्ययीभावादि के समकक्ष नहीं रखते। क्योंकि अव्ययीभाव समासों के लक्षणों में अर्थ प्रधानता को न तो दृष्टि में रखा गया है और न तो उसे महत्व ही प्रदान किया गया है। पाणिनि इत्यादि आचार्यों ने तो समस्त पदों के स्वर तथा समासान्त प्रत्ययों को ध्यान में रखकर ही समासों का विभजन किया है इसीलिये अर्थ प्रधानता की दृष्टि से समासों के किये गये विभाजन से मुनियों द्वारा किए गये विभाजन के लक्षणों में विरोध है। अतः पूर्वपदार्थ प्रधानादि को अव्ययीभावादि समास का लक्षण नहीं माना जा सकता है।

1- कश्चिन्मध्यपदार्थधार्मिकधीजनकतयैव मध्यपदप्रधानो, यथा पटानधिकरण-प्रतियोगिता नवच्छेदकेत्वादिक स्तत्तपुरुषः, पटस्य न अधिकरणमित्यादिविग्रहे मध्यपदार्थस्यैव विशेष्यत्वात्। [श० श० प्र० का० 32 टीका]

समासों की नित्यता तथा अनित्यता

भाषा में अर्थगाम्भीर्य एवं ओजस्विता के प्रतिपादन हेतु प्राय: समस्त पदों का प्रयोग किया जाता रहा है । फलत: समस्त वाङ्मय में सामासिक पदों की प्रचुरता देखी जाती है । जिन्हें देखकर तो लगता है कि लेखक या वक्ता समस्त पदों के प्रयोग में स्वतन्त्र है तथा अपनी इच्छा एवं आवश्यकतानुसार उनका प्रयोग व्यस्त {वाक्य} या समस्त {समास} रूप में कर सकता है, किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है । वस्तुत: सामासिक पदों के प्रयोग के लिये व्याकरण शास्त्र एवं वैयाकरण आचार्यों के कुछ स्पष्ट निर्देश हैं, जिनके आधार पर ही हम समस्त पदों का वाक्य रूप में या समास के रूप में या वाक्य तथा समास में से किसी भी एक रूप में प्रयोग करते हैं, कर सकते हैं । संस्कृत व्याकरणशास्त्र एवं वैयाकरण आचार्यों ने इस सन्दर्भ में स्पष्ट दिशा-निर्देश करते हुए सुदृढ़ मत की स्थापना की है । व्याकरणशासत्र की मान्यताओं के आधार पर महर्षि पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि प्रभृति अनेक वैयाकरण आचार्य समस्त पदों के प्रयोग के सन्दर्भ में स्पष्ट निर्देश करते हैं । उनका कहना है कि कुछ सामासिक पद ऐसे हैं जो सदैव समास के रूप में ही व्यवहार में लाये जाते हैं, वाक्य के रूप में उनका प्रयोग नहीं किया जा सकता । ऐसे सामासिक पदों की गणना 'नित्य समास' के रूप में की जाती है क्योंकि समास रूप में इनका प्रयोग नित्य तथा अनिवार्य है । इसके विपरीत कुछ सामासिक पद ऐसे हैं जिनका व्यस्त { वाक्य } या समस्त { समास } रूप में प्रयोग करने के लिये हम स्वतन्त्र हैं, अर्थात जिन पदों का समास या वाक्य रूप में प्रयोग करने के लिये विभाषा { 2·1·1 } सूत्र के माध्यम से स्वतन्त्रता प्रदान कर समास का प्रयोग अनिवार्य नहीं

बताया गया, उनके प्रयोग के लिये हम स्वतन्त्र हैं । वहाँ पर चाहें तो उसका प्रयोग 'समस्तपद' के रूप में करें अथवा वाक्य के रूप में, दोनों ही रूपों में उसका प्रयोग किया जा सकता है ।

'समस्त पदों' के सन्दर्भ में जिन स्थितियों में त्रिमुनियों ने 'समास होना' अनिवार्य बताया है, उन विशेष स्थितियों को समास की नित्यता स्थिति एवं समास को नित्य समास तथा जिन स्थितियों में 'समास' करने या न करने के लिये हमें स्वतन्त्र छोड़ दिया है उन स्थितियों को समास की अनित्यता की स्थिति एवं समास को अनित्य समास कहते हैं ।

समासों की नित्यता :- वैयाकरण आचार्यों ने जहाँ पर 'समास होना' अनिवार्य समझा है, उसका स्पष्ट उल्लेख किया है । महर्षि पाणिनि ने 'समासों' की नित्यता का प्रतिपादन तथा उसकी स्थापना करते हुए 'विभाषा' (2·1·11) के माध्यम से नित्य समासों की सीमा निर्धारित की है । साथ ही यह स्पष्ट किया है कि नित्य समासों की यह सीमा अव्ययं० (2·1·6) सूत्र से विभाषा (2·1·11) सूत्र तक के सूत्रों द्वारा सम्पन्न होने वाले समासों तक ही हैं ।[1] यथा - समुदं, अक्षपरि, शलाकापरि, अक्षपरि इत्यादि समस्त पद इन्हीं सूत्रों के माध्यम से ही

1- अधिकारोऽयम् । एतत्सामर्थ्यादेव प्राचीनानां नित्य समासत्वम् ।
'सुप्सुपा' इति तु न नित्यसमास । 'अव्ययम्' इत्यादिसमास विधानाज्ज्ञापकात् । (सिद्धान्त कौमुदी 2·1·11 की वृत्ति)

समस्त होते हैं, तथा इनका समस्त होना अनिवार्य तथा नित्य है ।[1]

महर्षि पाणिनि ने स्पष्ट किया है कि विभक्ति,सामीप्य, समृद्धि, व्यृद्धि (ऋद्धि का अभाव), अर्थाभाव, अत्यय (अतीत होना) असम्प्रति (वर्तमान काल में युक्त न होना), शब्द प्रादुर्भाव (प्रसिद्धि) पश्चात्, यथार्थ,आनुपूर्व्य (अनुक्रम), यौगपद्य (एक ही समास में होना) सादृश्य, सम्पत्ति (आत्मानुरूपता), साकल्य (सम्पूर्णता) और अन्त इन अर्थों में से किसी भी अर्थ में वर्तमान अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है ।[2] साथ ही पाणिनि द्वारा यह कथन 'विभाषा' सूत्र के अधिकार क्षेत्र में है । अतः इन सब स्थितियों में होने वाला समास नित्य होता है ।[3] 'यथा' अव्यय जहाँ सादृश्य भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है वहाँ उसका भी सुबन्त के साथ समास - नित्य होता है । किन्तु जब 'यथा' अव्यय का अर्थ 'सादृश्य' होता है तो यह समास नहीं होता है ।[4] जैसे कि 'यथा हरिस्तथाहरः- विष्णु के सदृश शिव' में समास नहीं होता क्योंकि यहाँ यथा का अर्थ सादृश्य है । साथ ही जब परिमाण व सीमा का विनिश्चय किया जाता है तब 'यावत्' अव्यय का सुबन्त के साथ समास नित्य होता है । यथा-यावन्तः श्लोकाः-यावच्छ्लोकम् ।[5]

1-(a) So are the compounds which have been treated off before this,for by the jnapaka of this aphorism we infer that the compounds thoutht before must be 'Nitya' and not vibhasha. Sidhant Kaumudi Vol 1 S.C. Basu

(b) Compounds like समुद्रं,यथावृद्धं,अक्षपादि &c are invariable compounds (नित्य समास) the sense conveyed by the compound term, not being capable of analysis, by by taking the senses of separate members of the compounds.

(2.1.11. Astadhyayi S.C. Basu)

2- अव्ययं विभक्ति समीपसमृद्धिव्यृद्धि यर्थाभावात्ययासम्प्रतिशब्द प्रादुर्भाव पश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्य सादृश्य संपत्तिसाकल्यान्त वचनेषु । (2·1·6)

3- The compounds taught previous to this sutra (विभाषा), like the technical terms टि,घु,भ & c , would be necessarily 'Nitya'. Because no वा is read in those sutras. Sidhant Kaumudi 2.1.11 S.C. Basu

4- यथाऽसादृश्ये । पा० 2·1·7

5- यावदवधारणे । पा० 2·1·8

इसी प्रकार 'प्रति अव्यय की मात्रा (लेश) अर्थ होने पर सुबन्त के साथ[1] तथा 'परि' अव्यय का प्रयोग अक्ष-शलाका, संख्यात्मक एक द्वि आदि के साथ द्यूत व्यवहार में[2] समास – नित्य होता है । यथा – शाकस्य लेश: शाकप्रति, शलाकया विपरीत वृत्तम् शलाकापरि, एकेन विपरीतं वृत्तम् एकपरि इत्यादि ।

इनके अतिरिक्त कुछ पदों का स्वपद विग्रह नहीं होता उनका भी परिगणन नित्य समास में कर लिया जाता है क्योंकि वे नित्य होते हैं । यथा- चिन्मात्रम् – चिदेव । विग्रह वाक्य में 'एव' शब्द का प्रयोग हुआ है जो कि 'समास' में 'मात्र' शब्द में बदल गया है । यहाँ स्वपद से विग्रह नहीं हुआ । अत: यहाँ नित्यसमास हुआ । इसी प्रकार जिन समस्त पदों का विग्रह होता ही नहीं वे भी नित्य समास के ही अन्तर्गत आते हैं । यथा – कृष्णसर्प: । 'कृष्णसर्प:' रूढ है अत: विग्रह सम्भव न होने के कारण इसमें नित्य समास है ।

इन सब स्थितियों के अतिरिक्त वार्तिककार कात्यायन ने 'अर्थ शब्द' के साथ भी नित्य समास का अभिधान किया है ।[3]

<u>समासों की अनित्यता :-</u> महर्षि पाणिनि ने सूत्र 'विभाषा' (2·1·11) के माध्यम से जहाँ एक ओर समासों की नित्यता का विधान करते हुए उनकी सीमा निर्धारित की है, वहीं दूसरी ओर इसी सूत्र के माध्यम से समासों की अनित्यता या अनित्य समासों का भी कथन किया है । अष्टाध्यायी में इस सूत्र की वृत्ति में स्पष्ट किया गया है कि इस सूत्र के अनन्तर हुआ समस्त समास विधान

1- सुप्प्रतिनामात्रार्थे (2·1·9), मात्रार्थे वर्तमानेन प्रतिना सह सुवन्तं समस्यते (अ·वृ)

2- अक्षशलाकासंख्या: परिणा (2·1·10), अक्षशब्द:शलाकाशब्द:संख्याशब्दश्च म·भा· परिणा सह समस्यन्ते । (2·1·10 अष्टाध्यायी वृत्ति)

3- (अ) अर्थेन नित्यसमासवचनम् (वार्तिक 2·1·36 का), अर्थशब्देन नित्यसमासो वक्तव्य: म·भा·

(ब) With the world अर्थ the compound so formed is a Nitya compound (an variable compound) and agrees in gender with the world which it qualifies, as द्विजार्थः सूप: "Soup for the twice born", ब्राह्मणार्थं पय: 'Milk for the sake of

अनित्य है । यह व्यक्ति के ऊपर है कि वह उन - उन स्थितियों में पदों का समस्त रूप में प्रयोग करता है या व्यस्त रूप में । 'विभाषा' सूत्र के पश्चात् जितने भी समास हैं उनके विधान के लिये हम पूर्णतया स्वतन्त्र हैं, उनका प्रयोग समास के रूप में भी कर सकते हैं और वाक्य के रूप में भी ।[2]

इस प्रकार जहाँ पर समासों के व्यस्त प्रयोग के लिये अवकाश है वहाँ पर महर्षि पाणिनि कात्यायन पतञ्जलि प्रभृति आचार्यों ने निर्देश कर ऐसे समासों के सन्दर्भ में स्वतंत्रता प्रदान कर समासों की अनित्य स्थिति का द्योतन किया है, किन्तु जहाँ पर समास किया जाना अनिवार्य है जहाँ पर समास विधान को अनिवार्य एवं नित्य बताते हुये समासों की नित्यता का प्रतिपादन किया है ।

समासों की वृत्तिरूपता तथा विग्रह वाक्य योजना

वृत्ति का स्वरूप :- व्याकरण शास्त्र में प्रयुक्त 'वृत्ति' शब्द काव्यशास्त्रीय 'वृत्ति' शब्द से सर्वथा भिन्न है । काव्यशास्त्र में 'वृत्ति' का अर्थ अभिधा, व्यञ्जना तथा लक्षणा शब्द शक्तियों से है[3] जब कि व्याकरण शास्त्र में वृत्ति शब्द का प्रयोग कृदन्त, तद्धित युक्त, समास, एकशेष तथा सनाद्यन्तधातुओं के लिये किया गया है । अर्थात् व्याकरण शास्त्र में वृत्ति का क्षेत्र कृदन्त, तद्धितयुक्त पदों, समास एकशेष तथा सनाद्यन्त धातुओं तक विस्तृत है ।[4]

1- यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तद्विभाषा भवति { सूत्र 2.1.11 की अ॰ वृत्ति }

2- All the rules of compounding given here after, are optinal. The same sense can be expressed by the uncompounded words as by them when compounded. (2.1.11. S.C. Basu)

3- तदुक्तम् वाच्यो र्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मत: ।
व्यंग्यो व्यञ्जनया ता: स्युस्तिस्र: शब्दस्य वृत्तय: ।। सा॰द॰परि॰2 श्लोक ।।

4- कृत्तद्धित समासैकशेषसनाद्यन्त धातुरूप प च वृत्तय: । सि॰कौ॰सर्व समास शेष प्रकरण

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने वृत्ति का लक्षण करते हुए कहा है कि परार्थ या अन्तर्हित अर्थ को स्पष्ट करने या सामने लाने वाली विश्लेषण पद्धति को वृत्ति कहते हैं।[1] वस्तुत: वृत्ति एकार्थीभाव पर आश्रित है, समस्त पद एकार्थीभाव सामर्थ्य की विद्यमानता पर ही सम्भव होने के कारण सहज ही वृत्ति रूप सिद्ध होते हैं। वैयाकरण आचार्यों द्वारा उद्धृत कृदन्त तद्धित युक्त पद, एकशेष एवं सनाद्यन्त धातु रूप भी एकार्थीभाव को प्राप्त हो जाने के कारण वृत्ति हैं। वस्तुत: किसी भी पद के अन्त में कृत् प्रत्यय जुड़ने या किसी पद के साथ तद्धित प्रत्यय जुड़ने या एकशेष अथवा सनाद्यन्त धातु रूपों की स्थिति में निष्पन्न पद एकार्थीभूत हो कर अपने विभिन्न अवयवों के अर्थ का परित्याग कर या गौण रूप से उसे स्वीकार करते हुए उनमें अन्तर्निहित या सर्वथा नवीन अर्थ की उद्भावना करते हैं, वृत्ति का भी कार्य यही है,[2] अत: ये सभी वृत्ति ही है। चूंकि कृदन्त, तद्धितयुक्त एवं एकशेष तथा सनाद्यन्त धातुरूप पद, अपने में संयुक्त विभिन्न अवयवों के अर्थ के एकार्थीभूत हो जाने पर ही परार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं और विभिन्न पदों के अर्थों का एकार्थीभाव को प्राप्त कर लेना ही वैयाकरणों द्वारा समास का लक्षण कहा गया है अत: वैयाकरण आचार्यों द्वारा पठित समास के लक्षण में कृदन्त, तद्धितयुक्त एवं एकशेष तथा सनाद्यन्त धातु रूपों पदों का अन्तर्भाव हो जाने के कारण ये सब समास रूप ही हैं तथा 'समास वृत्ति है[3] वैयाकरणों की इस मान्यता के चलते इन सबका 'वृत्ति' होना सिद्ध होता है।[4]

1- परार्थाभिधानं वृत्ति:। महाभाष्य 2·1·1

2- वृत्तय: कृत्तद्धित समासैक शेषसनाद्यन्त धातव: पञ्च इत्याहु: 1- - - । परार्थस्य प्रधानार्थस्याप्रधानपदैर्यत्र स्वार्थ विशेष्यत्वेन ग्रहणं सा वृत्ति:। ज·म·वृत्ति निरूपण

3- समासो वृत्ति:। न्यायकोश पृ· 798

4- असमस्तपदगतानर्थान् विचार्य समस्त पद विषयान् विचारयितुं पञ्चप्रकारवृत्तिपदविचार: प्रस्ताव्यते। हेलाराज वृ·स· प्रारम्भ में

वैयाकरण आचार्य 'जहत्स्वार्था' तथा 'अजहत्स्वार्था' भेद से वृत्ति के दो रूपों को स्वीकार करते हैं ।[1] 'जहत्स्वार्था' शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है - जहति (त्यजन्ति) स्वानि (पदानि) अर्थं यस्यां वृत्तौ सा जहत्स्वार्था । अर्थात् प्रयोग में विद्यमान अवयवभूत पद पृथक् पृथक् रूप से प्रकट किये गये अपने-अपने अर्थों का जिस वृत्ति में परित्याग कर देते हैं उस 'वृत्ति' का नाम जहत्स्वार्था है । वस्तुतः अवयवभूत पदों के अर्थों की अपेक्षा न करते हुए पूरे शब्द समुदाय के द्वारा एक भिन्न अर्थ का बोध कराना जहत्स्वार्था है ।[2] जैसे - रथन्तर पद अपने अवयवों के अर्थों का परित्याग कर सर्वथा नवीन अर्थ 'सामगान' की उद्भावना करता है अतः यह जहत्स्वार्था का उदाहरण है । इसी प्रकार 'अजहत्स्वार्था' शब्द की व्युत्पत्ति है - अजहति (नत्यजन्ति) स्वानि (पदानि) अर्थं यस्यां वृत्तौ सा अजहत्स्वार्था' अर्थात् जिस वृत्ति में शब्द के अवयवभूत पद अपने-अपने अर्थों का परित्याग किये बिना ही, आकाङ्क्षा आदि के कारण, एक नवीन अर्थ को प्रस्तुत करते हैं उस वृत्ति का नाम अजहत्स्वार्था है । अर्थात अजहत्स्वार्था वृत्ति में पद के विभिन्न अवयव अपने अर्थ का परित्याग किये बिना ही अर्थाभिव्यक्ति करते हैं ।[3] यथा - 'राजपुरुषः' इस प्रयोग में राजा तथा पुरुष पद अपने-अपने अर्थों का परित्याग किए बिना ही 'राज-पुरुष' इस अर्थ का बोध कराते हैं जिसमें राज एवं पुरुष इन दोनों अवयवों के अर्थ समन्वित् संसृष्ट अथवा मिले जुले हैं ।

कौण्डभट्ट, तथा नागेश ने (प॰ल॰म॰ में) जहत्स्वार्था वृत्ति को ही एकार्थीभाव की प्रतिपादक मानकर मात्र इसी के सहयोग से 'समास विधान' को स्वीकार किया है, जबकि कैयट तथा नागेश ने स्वयं (लघु मञ्जूषा में) दोनों ही वृत्तियों को समास-विधायक के रूप में माना है ।[4]

1- वृत्तिर्द्विधा-जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था च । प॰ल॰म॰ समा॰ वृ॰वि॰

2- (अ) जहति स्वार्थमुपसर्जनपदानि यस्यासा जहत्स्वार्था । हेलाराज वृ॰सं॰ 44
   (ब) जहति स्वानि पदानि यमिति जहत्स्वः जहत्स्वोऽर्थो यस्या सेत्यर्थ इत्यन्ये (नागेश उद्योत 2॰1॰1)
   (स) अवयवार्थ निरपेक्षत्वेसति समुदायार्थ बोधिकात्वम् जहत्स्वार्थात्वम् । प॰ल॰म॰समास

3- (अ) तद्विपरीता (अजहत्स्वार्था विपरीता) अजहत्स्वार्था । हेलाराज वृ॰सं॰का॰ 44
   (ब) अवयवार्थ संवलित समुदायार्थबोधिकात्वम् जहत्स्वार्थात्वम् । प॰ल॰म॰ समा॰

इस सन्दर्भ में कैयट तथा नागेश द्वारा लघुमंजूषा में व्यक्त विचार ही उचित प्रतीत होते हैं क्योंकि 'परार्थ या अन्तर्निहित अर्थ की अभिव्यक्ति करना' वृत्ति का लक्षण जहत्स्वार्था एवं अजहत्स्वार्था दोनों ही वृत्तियों में घटित होता है तथा विभिन्न पदों के अर्थों को एकार्थीभूत कर समस्त करता है अतः दोनों ही वृत्तियों को एकार्थीभाव सामर्थ्य एवं समास विधायक मानना उचित एवं न्यायसंगत है ।

समासों की वृत्तिरूपता :- संस्कृत व्याकरणशास्त्र में वृत्ति शब्द का प्रयोग प्रायः समास के लिये ही किया गया है । अतः समास सदृश प्रतीत होने वाली वह समस्त पदराशि जिसे वैयाकरणों की परिभाषानुसार 'समास' के अन्तर्गत चाहे अन्तर्भूत किया जा सकता हो या न किया जा सकता हो समस्त स्थितियों में वृत्ति कहलाती है । अर्थात् समस्त पद राशि जो समास सदृश एकार्थीभूत है वह चाहे समस्त हो या न हो दोनों स्थितियों में समासरूप ही है । इसी मन्तव्य को दृष्टि में रखकर वाक्यपदीय के टीकाकार हेलाराज ने वृत्ति समुद्देश्य के उपोद्घात में ही कहा है कि अब आगे 'समासहीन पदों के अर्थ विचार के बाद समासयुक्त पदों के विचार के लिये पाँच प्रकार की वृत्ति ﴾ कृदन्त, तद्धितयुक्त, समास, एकशेष तथा सनाद्यन्त धातु रूप पदों ﴿ पर विचार आरम्भ किया जा रहा है । हेलाराज के उक्त मन्तव्य का आशय यही है कि समास वृत्ति रूप है तथा समस्त पदों के अन्तर्गत ही कृदन्त, तद्धितयुक्त, समास, एकशेष एवं सनाद्यन्त धातुरूप पदों का अन्तर्भाव हो जाता है । अर्थात् कृदन्त, तद्धितयुक्त, एकशेष तथा सनाद्यन्त धातुरूप पद समास रूप है तथा समास ही वृत्ति है ।

समास के विभिन्न भेदों अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्विगु, कर्मधारय, द्वन्द्व एवं बहुव्रीहि समास में एकार्थीभात्व होने के कारण समासत्व विद्यमान है वहीं इन सब में एकार्थीभाव के साथ ही साथ परार्थाभिधानत्व की विद्यमानता के कारण ये सभी वृत्ति भी हैं । क्योंकि वृत्ति लक्षण अवयवार्थों का सर्वथा परित्याग कर या उसे गौण बनाकर

4-﴾ब﴿ यत्र पदानि उपसर्जनीभूत स्वार्थानि, निवृत्त स्वार्थानि प्रधानार्थोपादानाद् व्यर्थानि, अर्थान्तराभिधायीनि वा स एकार्थीभावः ।

महाभाष्य प्रदीप 2·1·1

अवयवार्थ भिन्न विशिष्ट अर्थ का अभिधान करना ही वृत्ति है, और अव्ययीभावादि समस्त पद वृत्ति के इस लक्षण का सर्वथा परिपालन या अनुकरण करते हैं । अतः समास वृत्ति है ।

कुछ आचार्य समस्त पदों को नित्य वाक्य से निष्पन्न मानते हैं । ऐसी स्थिति में समास कार्य हो जाएगा और कार्य में कुछ ऐसे गुण भी सम्भव हैं जो कारण में न हों । समासों का कार्य का यह नया गुण एकार्थीभूत विशिष्ट अर्थ या परार्थभिधानम् अन्य अर्थ को बताना है । यथा - 'राजपुरूष' पद से प्राप्त होने वाली अर्थ । कुछ आचार्यों का मानना है कि ऐसे पदों के अवयव एकार्थीभूत अर्थ या परार्थ को अभिव्यक्त करने के पहले ही अपने अर्थ का परित्याग कर देते हैं । जैसे - कि राजकीय कार्य में नियुक्त बढ़ई अपने कार्य का परित्याग कर राज-कार्य प्रारम्भ कर देता है ठीक वैसे ही समस्त पदों के अवयव अपने अर्थ का परित्याग कर सर्वथा नवीन अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं । कुछ अन्य आचार्यों की मान्यता है कि पदगत अवयव अपने अर्थों का परित्याग नहीं करते अपने अर्थ से विशिष्ट परार्थ को भी अभिव्यक्त करते हैं । इस प्रकार जहत्स्वार्था एवं अजहत्स्वार्था दोनों ही वृत्तियों के लिये अवकाश बनता है । दोनों में ही गौण शब्द का अर्थ मुख्य शब्द में अर्थ का विशेषण बनता है, अर्थ दोनों का ही गृहीत होता है किन्तु इससे समस्त पद के अन्त में द्विवचन का प्रयोग नहीं होता क्योंकि समास एक विशिष्टार्थ का प्रतिपादन करता है न कि दो भिन्न-भिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति । गौण शब्द का अर्थ मुख्य शब्द के अर्थ विशेषण बनकर ही अपने अर्थ का परित्याग करता है अर्थात् एकार्थीभाव या परार्थाभिधान में अवयवार्थों का त्याग भी होता है। अभ्युच्चय भी भिन्न-भिन्न स्थितियों में ये दोनों - त्याग एवं अभ्युच्चय संभव है ।[1]

1- अबुधान् प्रति वृत्तिं च वर्तयन्तः प्रकल्पताम् ।
आहुः परार्थ वचने त्यागाभ्युच्चयधर्मताम् । का॰ 95

वृत्ति के जहत्स्वार्था अर्थात् अपने अर्थ का परित्याग कर नवीन अर्थ की अभिव्यक्ति करना एवं अजहत्स्वार्था अर्थात् पदावयवों के योग से विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन रूप दो भेद होने से गौण शब्द के कार्य को लेकर भी आचार्यों में भी दो मत हैं । कुछ आचार्यों का मानना है कि स्वार्थ के परित्याग के बाद भी उसका अर्थ कुछ न कुछ मात्रा में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है । जैसे राजकार्य में संलग्न किया गया बढ़ई अपने कार्य का परित्याग कर राजकार्य से बढ़ईगीरी ही करता है । अन्य आचार्यों का मानना है कि गौण शब्द अपने अर्थ से विशेषित मुख्यार्थ का ही बोध कराता है । इस प्रकार समास वृत्ति या समस्त पद दो प्रकार के अर्थों का अभिधान करने वाले होते हैं ।[1] कुछ आचार्य मानते हैं कि गौण शब्द अपने अर्थ का पूर्णत: परित्याग कर देता है जिससे समस्त पद से एकार्थीभूत मुख्य शब्दार्थ का ही ग्रहण होता है । इस प्रकार मुख्य शब्द, वृत्ति तथा समास पर्याय है ।[2]

जो आचार्य यह मानते हैं कि वाक्य तथा समास या वृत्तिका एक ही अर्थ होता है उनके अनुसार गौण शब्द अपने अर्थ का परित्याग नहीं करता है और अजहत्स्वार्था भेद से वृत्ति को स्वीकार करते हैं, तथा कुछ दोनों के अर्थों को भिन्न मानते हुए जहत्स्वार्था को स्वीकार करते हैं । किन्तु समास या वृत्ति में जहत्स्वार्था या अजहत्स्वार्था में से किसी एक को स्वीकार करने एवं दूसरे का परित्याग कर देने से समास के अन्तर्गत समस्त समस्त पदों का अन्तर्भाव नहीं हो सकेगा साथ ही वृत्ति का लक्षण - 'अन्तर्निहित अर्थ या परार्थ की अभिव्यक्ति करना' (परार्थाभिधानं वृत्ति:) में भी अति व्याप्ति दोष आ जायेगा, अत: जहत्स्वार्था एवं अजहत्स्वार्था दोनो ही वृत्तियाँ हैं , दोनों के माध्यम से ही संयुक्त पदों का एकार्थीभाव (होकर समास होता

1- अन्वायाद् गम्यते सोऽर्थो विरोधिवा निवर्तते ।
द्व्यर्थमर्थान्तरे वापि तत्राहुरूपसर्जनम् ।। वा॰प॰वृ॰स॰का॰ 95

2- केचित्तु जहत्स्वार्थायां वृत्तावुपसर्जनपदस्य सर्वथैकार्थत्यागं प्रधानार्थवृत्तित्वं च मन्यन्ते । वर्णवदनर्थकमुपसर्जनपदं वृत्तिपदस्यावयवभूतम् । पर्याय वार्यं पुरुषशब्दस्य राजपुरुष शब्द: ।वा॰प॰वृ॰स॰का॰ 95 की टीका

है तथा वृत्तियों में एकार्थीभाव का वही महत्त्व है जो समास में, अतः वृत्ति और समास में कोई भेद नहीं है तथा वृत्ति को समास कहना सर्वथा युक्ति युक्त एवं न्याय-संगत है ।

द्वन्द्व और च का अर्थ

महर्षि पाणिनि ने चार्थे द्वन्द्व सूत्र के माध्यम से द्वन्द्व समास को परिभाषित कर उसके स्वरूपका प्रतिपादन किया है । उक्त आधार को ही ग्रहण करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि जब क्रिया के साथ अन्विति के लिये अनेक विषयों की एक साथ कल्पना तथा उसी उद्देश्य के लिये अभिव्यक्ति की जाती है तो चार्थ (और के अर्थ) में द्वन्द्व समास होता है ।[1] कोशकारों तथा वैयाकरण आचार्यों ने 'च' का अर्थ - समुच्चय, अन्वाचय, इतेरतरयोग और समाहार बताया है ।[2] किन्तु 'च' के अर्थ इतरेतरयोग एवं समाहार को छोड़कर अन्य दो अर्थों की उपस्थिति में एकार्थीभाव सामर्थ्य की अविद्यमानता होने के कारण समास नहीं हो पाता । जैसा कि 'चार्थ' की व्याख्या करने पर स्पष्ट हो जाता है । यथा -

परस्पर निरपेक्ष अनेक पदार्थों के एक क्रियापद में अन्वय को समुच्चय कहते हैं ।[3] उदाहरण के लिये - 'ईश्वरं गुरूं च भजस्व' - इस वाक्य में ईश्वर और गुरू रूप पदार्थ परस्पर निरपेक्ष है । वे एक दूसरे की अपेक्षा न रखते हुए स्वतन्त्र रूप से भजन रूप एक क्रिया में अन्वित होते हैं । अतः यहाँ 'च' का अर्थ समुच्चय है तथा 'ईश्वर' एवं 'गुरू' में एकार्थीभाव सामर्थ्य की अविद्यमानता होने के कारण समास नहीं होता ।

1- अनुस्यूतेव भेदाभ्यामेका प्रख्योपजायते ।
यदा सहविवक्षां तामाहुर्द्वन्द्व : - - - - । वा॰प॰वृ॰स॰का॰ 28 पृ॰ 24

2- समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः । सि॰ कौ॰ 2॰2॰29

3- परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः । सि॰कौ॰ 2॰2॰29

समुच्चय किये जाने वाले पदार्थों में से जब एक पदार्थ का गौणरूप से अन्वय हो तब 'च' के उस अर्थ को 'अन्वाचय' कहते हैं ।[1] उदाहरणार्थ 'भिक्षामत गां चानय' - इस वाक्य में प्रधानकार्य भिक्षा मांगना कहा गया है । तथा गाय लाना गौण कार्य बताया गया है । इस प्रकार एक क्रिया पद के बजाय दो किया पद हैं । इसलिये भिक्षा के लिये जाना और गाय लाना - इन समुच्चय किये जाने वाले पदार्थों में गाय लाना रूप गौण पदार्थ का अन्वय होने से यहाँ 'च' का अर्थ अन्वाचय है। 'च' के अन्वाचय अर्थ में भी एकार्थीभाव सामर्थ्य न होने के कारण समास नहीं होता है ।

जब पदार्थ मिलकर आगे अन्वित हो तो उसे इतरेतर योग कहते हैं ।[2] यथा - 'धवखदिरौ छिन्धि' - इस वाक्य में धव और खदिर पदार्थ परस्पर मिलकर आगे छेदन क्रिया में अन्वित होते हैं । अतः यहाँ 'च' का अर्थ - इतरेतर योग है ।

समूह को समाहार कहते हैं[3] अर्थात् जब 'च' का अर्थ समूह हो तो वह समाहार होता है । समाहार में इतरेतर योग की भांति पदार्थों का अन्य पदार्थों के साथ पृथक्-पृथक् अन्वय नहीं होता अपितु पदार्थों के समूह का अन्वय होता है । यथा - 'संज्ञापरिभाषम्' - इस वाक्य में च का प्रयोग समाहार अर्थ में हुआ है ।

च के उक्त अर्थों में से समच्चय एवं अन्वाचय में एकार्थीभाव सामर्थ्य न होने के कारण समास नहीं होता है[4]। इस सन्दर्भ में पाणिनि सूत्र 'चार्थेद्वन्द्व' के वार्तिकों में वार्तिककार का युगपदधिकरणतावाद उल्लेखनीय है । 'अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम्' में द्वन्द्व के अभाव के लिये वार्तिककार ने कहा है - 'सिद्धं तु युगपदधिकरणवचने द्वन्द्ववचनात' अर्थात् एक-एक शब्द के साथ जब समुदाय अभिधेय होता है तब द्वन्द्व होता है । द्वन्द्व समास में शब्द स्वयं का ही नहीं अपितु अपने से सम्बन्धित का भी

1- अन्यतरस्याऽदनुषङ्गिकत्वेनाऽन्वयोऽन्वाचय: । सि॰कौ॰ 2॰2॰29

2- मिलितानामन्वय: इतरेतरयाग: । सि॰कौ॰ 2॰2॰29

3- समूह: समाहार: । सि॰ कौ॰ 2॰2॰29

4- - - - - - - समुच्चये, - - - - -अन्वाचये च न समासो सामर्थ्यात् ।

द्योतक होता है । यथा - द्वन्द्व समास में आने पर धव तथा खदिर समूह के द्योतक हैं और वह समूह प्रत्येक पद के द्वारा व्यक्त होता है । द्वन्द्व समास का प्रत्येक शब्द समूह तथा उसके अवयवों को व्यक्त करता है ।[1] इसी को युगपदधिकरणता कहते हैं । अतः युगपदधिकरणता के न होने से चार्थ समुच्चय या अन्वाचय होने पर द्वन्द्व समास नहीं होता है । द्वन्द्व समास में प्रत्येक शब्द एक साथ उन सभी अर्थों का बोध कराता है जो समुदाय रूप द्वन्द्व समास से बोध कराये जा सकते हैं ।[2] यथा 'प्लक्षन्यग्रोधौ' में 'प्लक्ष' पद प्लक्ष तथा न्यग्रोध दोनों का बोध कराता है तथा न्यग्रोध भी न्यग्रोध एवं प्लक्ष दोनों का ही वाचक है । ये दो शब्द अपना कार्य उसी प्रकार करते हैं जैसे कि भार उठाने वाले दो श्रमिक ।[3] द्वन्द्व समास में ही दो पद ऐसा कर सकते हैं । द्वन्द्व समास के अवयव वाक्य में प्रयुक्त होने पर यह सब कर सकने में अक्षम होते हैं, फलतः उनसे द्विवचन एवं बहुवचन में प्रत्यय संयुक्त नहीं होते जबकि द्वन्द्व समास द्विवचनान्त एवं बहुवचनान्त प्रत्यय लगाये जाते हैं । यह युगपदधिकरण वचनता का ही परिणाम है ।[4] परन्तु भाष्यकार पतञ्जलि वार्तिककार कात्यायन के युगपदधिकरणतावाद को स्वीकार न कर उसे दुर्गम तथा दुःसाध्य घोषित करते हैं ।[5] वस्तुतः समास में संयुक्त अवयव एकार्थीभूत होकर एकार्थीभाव सामर्थ्य से समुदाय रूप अर्थ का बोध होता है न कि उसके प्रत्येक अवयव से । समस्त पद का प्रत्येक अवयव मात्र अपने ही अर्थ का बोध कराता है किन्तु दो वस्तुओं का ज्ञान अर्थात् समुदाय का ज्ञान समास से होता है, उसमें विद्यमान विशिष्ट शक्ति से होता है । समास में संयुक्त विभिन्न अवयव

1- एवं द्वन्द्वैकशेषद्विवचनबहुवचनान्यथानुपपत्त्या प्रतिपदमनेकार्थत्वमेव स्थाप्यते
{वा•प•वृ•स•का• 31 की टीका पृ•38}

2- युगपदेकेन शब्देन यदधिकरणमभिधेयं द्वन्द्वपदवाच्यम
मिधीयते, समुदायरूपं परस्परारोपितस्वार्थं तदा द्वन्द्वो वक्तव्य इत्यर्थः
वा•प•वृ•स•का• 32 की टीका

3- एवमितरेतरसन्निधाने भारोद्यन्तृवत् परस्परशक्त्याविर्भावनाद्
नियतविषयमेव परस्पराभिधानं शब्दानामित्युक्तम् । {वही}

4- शब्दपौर्वापर्यप्रयोगादर्थपौर्वापर्याभिधानमितिचेद् द्विवचन बहुवचनानुपपत्ति
2•2•29 - 5वां वार्तिक

एकार्थीभूत होकर एकाकार हो जाते हैं उसमें अवयवों का पृथक् पृथक् स्वरूप समाप्त होकर मात्र समास का ही स्वरूप विद्यमान रहता है किन्तु द्वन्द्व समास में प्रत्येक अवयव का अपना-अपना अर्थ निकलता है और समुदाय का बोध समास से होता है । द्वन्द्व समास में द्विवचनान्त तथा बहुवचनान्त प्रत्यय समास के अन्तिम पद में न लगाकर समस्त समास में लगाया जाता है, अतः द्वन्द्व समास में मात्र द्विवचनान्त एवं बहुवचनान्त प्रत्ययों की व्याख्या करने के लिये यह स्वीकार करना कि समास में संयुक्त प्रत्येक पद दोनों अर्थों के बोधक होते हैं, उचित नहीं है । अर्थात युगपदधिकरणता को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

भर्तृहरि ने भाष्यकार के उक्त मन्तव्य को स्वीकार करते हुए कहा है कि यद्यपि यह कहना, कि द्वन्द्व समास में प्रत्येक अवयव अन्य अवयवों के अर्थों का वाचक है, उचित एवं संगत नहीं है फिर भी इसे व्यवहार के लिये कथमपि स्वीकार कर लिया जाता है । यह जानते हुए भी कि समास अखण्ड होता है उसमें विभागों की कल्पना मिथ्या है ।

समस्त पद में प्रयुक्त अवयव समास एवं वाक्य में रहने पर कभी-2 अलग अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, समासों तथा वाक्यों में शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं । ऐसी स्थिति में समास में रहते हुए विभिन्न पद एक अर्थ का बोध कराते हैं किन्तु जब उन पदों का विग्रह कर वाक्य स्वरूप धारण करता है तब वह किसी अन्य अर्थ का बोध कराने लगते हैं । यही द्वन्द्व समास में होता है । यथा - परस्पर सम्बन्ध इतरेतरयोग तथा समाहार के भाव द्वन्द्व समास से व्यक्त किये जा सकते हैं किन्तु वाक्य में उसका द्योतन द्वन्द्व समास के विभिन्न अवयवों के माध्यम से नहीं हो पाता अपितु विग्रह वाक्य में उसको द्योतित करने के लिये 'च' शब्द का प्रयोग किया जाता है और विग्रह वाक्य में प्रयुक्त 'च' पद द्वन्द्व समास के इतरेतर एवं समाहार रूप अर्थ का बोध

1- दुःखा दुरुपपादा च तस्माद् भाष्येऽप्युदाहृता
युगपद्वाचिता सा तु व्यवहारार्थमाश्रिता ।। वृ॰स॰का॰ 34

2- वृत्तिरन्यपदार्थे या तस्मा वाक्येष्वसम्भवः ।
चार्थे द्वन्द्वपदानां च भेदे वृत्तिर्न विद्यते ।। (वा॰प॰वृ॰स॰ का 38)

करा देता है । अर्थात् द्वन्द्व समास के विग्रह वाक्य में प्रयुक्त 'च' पद का उद्देश्य द्वन्द्व के भाव इतरेतर एवं समाहार का बोध कराना है ।

भर्तृहरि का मानना है – द्वन्द्व समास में संयुक्त पदों में समुच्चय या समुच्चित की भावना प्रधान होती है । समूह को समुच्चय कहते हैं तथा 'समुच्चित' पद समास में संयुक्त होने वाले पदों के लिये प्रयोग में लाया जाता है । जहाँ पर द्वन्द्व समास में समुच्चित पदार्थों की भावना प्रधान रहती है वहाँ समास की लिंग एवं संख्या पदार्थ संख्या और पदार्थ लिंग के अनुसार होती है । यथा – रामश्च लक्ष्मणश्च रामलक्ष्मणौ । किन्तु जहाँ पर पदार्थ की अपेक्षा समूह की भावना प्रधान रहती है वहाँ लिंग वचनादि की स्थिति नपुंसकलिंग एवं एक वचन की होती है । यथा – कण्ठालायम् । अर्थात जहाँ पर द्रव्य प्रधान होता है वहाँ पर लिंग वचन द्रव्य के लिंग तथा वचन के आधार पर ही होता है किन्तु जहाँ समाहार या समूह की भावना प्रधान होती है तथा द्रव्य गौण हो जाते हैं वहाँ नपुंसक लिंग एवं एक वचन का प्रयोग होता है ।[1]

बहुव्रीहि और अन्यपद प्रधानता

बहुव्रीहि समास की परिभाषा करते हुए वैयाकरण आचार्यों ने उसे 'अन्य – पदार्थ' का बोधक माना है । वस्तुतः बहुव्रीहि समास में उच्चरित पद से अर्थ बोध तत्पदजन्य न होकर तत्पदजन्यार्थ विशिष्ट होता है । बहुव्रीहि समास के अवयव अपने अर्थ का बोध न कराकर समास में अप्रयुक्त किसी अन्य पदार्थ का सामूहिक रूप से अर्थबोध कराते हैं । इस प्रकार 'प्राप्तमुदकं' इत्यादि का सम्बन्ध 'प्राप्तम्', 'उदकम' आदि से न रहकर 'जलप्राप्त ग्राम' आदि से हो जाता है । जिस ग्राम को समस्त पद के माध्यम

1– समुच्चितस्य प्राधान्ये लिंगसंख्ये स्वभावतः ।
समुच्चयस्य प्राधान्ये शास्त्रं स्यात् प्रतिपादकम् ।। वा॰प॰वृ॰स॰का॰ 199

से 'प्राप्तमुदकं' कहा गया उसी को वृत्ति में 'प्राप्तम् उदकम् यम्' के माध्यम से द्योतित किया जाता है । स्पष्ट है समास में मात्र प्राप्त एवं जल के अर्थ अभिधायक पद ही विद्यमान है किन्तु उससे 'प्राप्त जल वाले गाँव' का अर्थ बोध होता है जो निश्चित रूप से समस्त पद में अविद्यमान किसी अन्य पद का ही अर्थ है ।

स्पष्ट है बहुव्रीहि समास उस पद के अर्थ से युक्त होता है जो समस्त पद का अंग नहीं होता । अतः समासार्थ बोध के लिये समस्त पद के अधिकरण में ही अन्य पद का भी प्रयोग करना पड़ता है । बिना अन्य पद के प्रयोग किये समस्त पद के अभीष्ट अर्थ की उपलब्धि नहीं होती । क्योंकि बहुव्रीहि समास विशेषण होता है जो विशेष्य के वैशिष्ट्य का ही प्रतिपादन करता है अतः विशेष्य रूप अन्य पदार्थ का उल्लेख करना आवश्यक होता है । किन्तु जहाँ विशेष्य पदार्थ अत्यधिक प्रसिद्ध होता है वहाँ उसके वचन पद का समास में समान अधिकरण में प्रयोग करना आवश्यक नहीं होता । यथा - वज्रपाणिः {जिसके हाथ में वज्र है} तथा त्र्यक्षः {तीन नेत्रों वाला} क्रमशः इन्द्र एवं शिव के अर्थ में सुप्रसिद्ध है । अतः इन पदों के प्रयोग के अवसर पर इन्द्र या शिव का अर्थाभिधायक किसी अन्य पद की आवश्यकता वज्रपाणिः या त्र्यक्षः पद के साथ नहीं होती क्योंकि ये पद इन्द्र या शिव के अर्थ में सुप्रसिद्ध होने के कारण स्वयं उन अर्थों का द्योतन कर लेते हैं किन्तु जो पद किसी विशिष्ट अर्थ में प्रसिद्ध नहीं है उनके अर्थ के अभिधान के लिये विशेष्य पद का समस्त पद के साथ रखा जाना आवश्यक है । यथा चित्रगुः {चितकबरी गायों वाला-चित्रा गावो यस्य सः} एवं उष्ट्रमुखः {ऊँट के मुख के समान मुख वाला - उष्ट्रमुखमिव मुखं यस्य सः} जैसे पदों जो किसी विशिष्ट व्यक्ति के अर्थ बोधक के रूप में सुप्रसिद्ध नहीं है उनके अर्थ बोध के लिये विशेष्य पद का होना अति आवश्यक होता है क्योंकि उसके बिना

1- सम्बन्धी नियतो रूढश्चित्राणां न च विद्यते ।
गवां यथा वज्रपाणिस्त्र्यक्षो वापि व्यवस्थितः । व॰प॰वृ॰स॰ का॰ 212

समस्त पद के सही अर्थ की उपलब्धि नहीं होती, जैसे कि चित्रगु: एवं उष्ट्रमुख: आदि पदों के साथ घटित होता है, बिना विशेष्य के स्पष्ट नहीं होता है कि कौन चित्रगु है या कौन उष्ट्रमुख है । अत: ऐसे पदोंके साथ विशेष्य पद रूप अन्य पद का होना अति आवश्यक होता है तभी बहुव्रीहि समास अपना सही अर्थ दे पाता है ।

समास सामान्य के अववोधक होते हैं, वे विशेष का अभिधान करने में सक्षम नहीं होते । यथा समस्त पदों द्वारा संख्या विशेष को प्राप्त नहीं किया जा सकता ।[1] किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि बहुव्रीहि समास मात्र सामान्य का ही अर्थ बोध कराता है, विशेष का नहीं । वस्तुत: बहुव्रीहि समास सामान्य के साथ ही साथ विशेष का भी बोध कराता है किन्तु बहुव्रीहि समास द्वारा प्राप्त होने वाला विशेष सकारात्मक न होकर निषेधात्मक होता है । यथा - उष्ट्रमुख: एवं केशचूड़ आदि समस्त पद उनकी व्यावृत्ति कर देते हैं जिनके मुख ऊँट के मुख के समान तथा जिनके केशों का चूड़ा नहीं है । बहुव्रीहि समास की वृत्ति में प्रयुक्त य: तत् इत्यादि का प्रयोग व्यावृत्ति का ही कार्य करता है और सामान्य अर्थ के अवबोधक पद विशिष्टार्थ बोधक पद के रूप में ग्रहीत होते हैं तथा सामान्य शब्द विशेष की तरह प्रयुक्त होते हैं ।[2]

बहुव्रीहि समास में संयुक्त पदों का सम्बन्ध बहुव्रीहि समास द्वारा द्योतित किये जाने वाले अन्य पदार्थ के साथ होता है जिसका बोध समस्त पद के माध्यम से होता है, परन्तु इस सम्बन्ध का स्वरूप निश्चित नहीं है । वैसे तो षष्ठी

1- न तु सर्वत: परिच्छिन्ने वाक्यार्थे वृत्तिपदस्याभिधानशक्ति : संख्याविशेषादेरतोऽप्रतीते: । वा०प०वृ०स० का० 213 की टीका

2- सामान्यस्यैव तद्विशेषानुप्रयोगो न प्राप्नोति । चित्रगु तत् । चित्रगु किञ्चित् । चित्रगु सर्वमिति । सामान्यमपि यथा विशेषस्तद्वत् । म०भा० 1•4•5

विभक्ति सम्बन्ध की वाचक मानी जाती है किन्तु समास में उसका समानाधिकरण्येन प्रयोग स्वत: सम्भव नहीं है । अत: सम्बन्धी के वाचक पद का प्रयोग करना पड़ता है । षष्ठी विभक्ति का यह सम्बन्ध स्वस्वामिभाव रूप में ही होता है ।[1] तथा इस सम्बन्ध को समस्त पद की वृत्ति में 'यस्य स:' पद द्वारा द्योतित किया जाता है । किन्तु 'यस्य स:' पद के अतिरिक्त 'येन स:' इत्यादि पदों द्वारा द्योतित सम्बन्ध स्वस्वामिभाव नहीं होता । स्पष्ट है कि बहुव्रीहि समास एवं उससे द्योतित होने वाले अन्य पदार्थ के मध्य कई प्रकार के सम्बन्ध होते हैं जिनमें षष्ठी विभक्ति का सम्बन्ध स्वस्वामिभाव सम्बन्ध होता है । सम्बन्ध और सम्बन्धी में तादात्म्य सम्बन्ध होता है, अत: समास की लिंग तथा संख्या अन्य पदार्थ के समान होगी वस्तुत: बहुव्रीहि समास के मुख्य आधार सम्बन्ध तथा सम्बन्धी हैं तथा उन्हीं के माध्यम से बहुव्रीहि समास का अर्थबोध होता है ।

नञ् समास एवं नञ् अर्थ विचार

नञ् समास का परिगणन मुनित्रयी ने तत्पुरुष समास के अन्तर्गत किया है और अन्य आचार्यों ने उसे स्वीकार किया है किन्तु समस्त पद के स्वरूप की दृष्टि से नञ् समास तत्पुरुष समास से भिन्न होता है । तत्पुरुष समास के विग्रह वाक्य में उसके अवयव जहाँ अपने मूल स्वरूप को कायम रखते हुए विभक्ति-प्रत्ययों से युक्त होकर अर्थ बोध कराते हैं वहीं नञ् समास में नञर्थक अवयव का स्वरूप बदल जाता है और वह समास के विग्रह वाक्य में न, नञ् आदि रूपों में परिलक्षित होता है । यद्यपि

1- चित्रा गावो यस्येति स्वामिमात्रस्य प्रतीते: ।

2- हेलाराज, वा॰प॰वृ॰स॰ 213 की टीका

नञ् समास के नञर्थक अवयव एवं उसके विग्रह वाक्य के न, नञ् आदि रूपों में अर्थ की दृष्टि से कोई खास अन्तर नहीं है फिर भी स्वरूपतः भेद तो है ही । यथा - 'न ब्राह्मणः अब्राह्मणः' में विग्रह वाक्य 'न ब्राह्मणः' में न निषेधात्मक निपात है, किन्तु इस विग्रह वाक्य के समस्त पद 'अब्राह्मणः में न निपात का अभाव है पर उसका समानार्थक 'अ' पद विद्यमान है जो स्वरूप की दृष्टि से उससे भिन्न होता हुआ भी नञर्थ का ही बोध कराता है । अतः स्पष्ट है कि समस्त पद में विद्यमान अ आदि अवयवों का वाक्यस्थ 'न' आदि निपातों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है तथा वे समस्त पद में विद्यमान रहकर नञर्थ का ही बोध कराते हैं ।

नञ् समास का स्वरूप क्या है ? इस सन्दर्भ में वैयाकरण आचार्यों ने वि‍शद रूप से विवेचन किया है । भाष्यकार पतंजलि ने नञ् समास में विद्यमान पद-प्रधानता की दृष्टि से उसके स्वरूप को निर्धारित करते हुए तीन विकल्प दिये हैं[1] अन्य पद प्रधानता पूर्वपद प्रधानता, उत्तरपद प्रधानता । वस्तुतः नञ् समास में पद प्रधान नहीं होता वरन् पद प्रधानता के स्थान पर पद का अर्थ प्रधान होता है । अपने इसी वैशिष्ट्य के बल पर वह अन्य समासों से अलग जाना जाता है । अतः व्याकरण शास्त्र में नञ् समास की त्रिविधता की स्थिति को स्वीकार करते हुए उत्तर पदार्थ प्रधानता, पूर्व पदार्थ प्रधानता और अन्यपद प्रधानता की दृष्टि से उसका विवेचन किया गया है ।[2] यथा - समस्त पद 'अब्राह्मण' में यदि 'ब्राह्मण' शब्द की वृत्ति जाति में मानी जाय और 'अब्राह्मण' का अर्थ 'जिसमें ब्राह्मणत्व न हो जैसे क्षत्रिय आदि' किया जाय तो यहां पर अन्य पदार्थ प्रधान नञ् होगा । साथ ही जब नञ् की वृत्ति सामान्यतः अभाव की वाचक होती है और वह उत्तर पद

1- नञ्समासे यतस्तत्र त्रयः पक्षाविचारिताः । वा॰प॰वृ॰ 248

2- किं प्रधानोऽयं समासः उत्तरपदार्थ प्रधानः पूर्वपदार्थप्रधानोऽन्य पदार्थ प्रधानो वेति । महाभाष्य 2·2·6

के अर्थ से विशेषित होकर 'ब्राह्मणत्व' के अभाव को प्रदर्शित करती है । फलत: यह 'अब्राह्मण' पद किसी भी ब्राह्मणेतर व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होगा । इस दृष्टि से पूर्वपदार्थ की प्रधानता होने के कारण यहाँ पूर्व पदार्थ प्रधान नञ् होगा । इसी प्रकार जब ब्राह्मण शब्द का प्रयोग भ्रम या मिथ्याज्ञान के कारण ब्राह्मणेतर 'क्षत्रिय' आदि के लिये प्रयुक्त हो और ब्राह्मणत्व का स्वाभाविक अभाव द्योतित हो तो ऐसी स्थिति में उत्तरपदार्थप्रधानता के कारण उत्तर पदार्थ प्रधान नञ् माना जाता है ।[1]

अन्यपदार्थ प्रधानता :- नञ् समास के कतिपय उदाहरणों में समास के न तो पूर्वपदार्थ की ही प्रधानता होती है और न उत्तरपदार्थ ही प्रधान होता है अपितु पूर्वपदार्थ एवं उत्तरपदार्थ दोनों से अतिरिक्त अन्य पदार्थ प्रधान होता है । ऐसे समासों में समस्त पद द्वारा कथित पदार्थ के सादृश्य आदि के आधार पर अन्यपदार्थ का बोध कर लिया जाता है । यथा - अवर्षा: शब्द से 'न वर्षा अवर्षा हेमन्त:' अर्थबोध होता है क्योंकि हेमन्त में वर्षा न होने पर भी नीहार आदि से वर्षा सदृश्य ही दृश्य उपस्थित हो जाता है । फलत: सादृश्य के कारण 'अवर्षा' शब्द से उसके अवयवों 'अ' एवं 'वर्षा' से अतिरिक्त अन्य पदार्थ 'हेमन्त' का ग्रहण होता है । इसी प्रकार

1- यदाऽन्यपदार्थ: प्रधानंतदा व्यक्ति वचनमुत्तरपदम् अविद्यमाना ब्राह्मणव्यक्तिराश्रयेऽस्मिन् क्षत्रिये, क्षत्रिय - जाताविति । यदा तु पूर्व पदार्थो नञर्थो निवृत्तिरूप: प्रधानंतदा तस्यासत: क्रियायोगाभावान्निषेधस्य प्रसंगपूर्वकादुत्तर पदार्थसदृशमेव प्रतीयते । एवमुत्तरपदार्थ प्राधान्येऽपि ब्राह्मण्येनावसित: क्षत्रियादेरेवाव गम्यते इति नास्ति भेद: स्थितलक्षणस्यार्थस्य । {हेलाराज वा.प.वृ.स.का. 248}

'असास्नी' पद से 'गवय' अर्थ का बोध होता है ।[1]

अन्य पदार्थ प्रधानता के कारण नञ् समास एवं बहुव्रीहि समास में पर्याप्त साम्य पाया जाता है । भर्तृहरि का तो यहाँ तक मानना है कि बहुव्रीहि समास का नञ् समास में पूर्णरूपेण अन्तर्भाव हो जाता है ।[2] किन्तु यह कहना उचित नहीं है क्योंकि बहुव्रीहि समास मत्वर्थीय प्रत्ययों के अभिप्राय में होता है जबकि नञ् समास जाति विशेष से विशिष्ट अन्य पदार्थ का द्योतक होता है । साथ ही साथ नञ् समास का मुख्य कथन अभाव न होकर दूसरी जाति होता है । ऐसी स्थिति में अन्य पदार्थ प्रधानता होने पर भी बहुव्रीहि एवं नञ् समास का भेद स्पष्ट बना रहता है । जिससे बहुव्रीहि का परिगणन नञ् समास के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता ।[3]

<u>पूर्वपदार्थ प्रधानता</u> :- न समास के पूर्वपदार्थ प्रधानता पक्ष में नञर्थ की प्रधानता होती है, और यह नञर्थ प्राय: 'निषेध' ही होता है । ऐसी स्थिति में पूर्वपद निषेधात्मक निपात का अभाव रूप अर्थ उत्तरपद के अर्थ से विशेषित होकर समास का मुख्य अर्थ बन जाता है । यथा 'अब्राह्मण' समस्त पद में 'अ' निषेधात्मक निपात रूप पूर्व पद का अर्थ उत्तर पद 'ब्राह्मण' जाति अर्थ से

1- अवृष्टयो यथा वर्षा नीहाराभ्रसमाकुला: ।
तद्रूपत्वात् मे हेमन्त इत्यभिन्न: प्रतीयते ।। वा॰प॰वृ॰3॰।
असास्नो गौरिति यथा गवयो व्यपदिश्यते ।
जात्यन्तरं न गौरेव सास्नाभाव: प्रतीयते ।। वा॰प॰वृ॰ 298

2- न चैवं विषय: कश्चिद् बहुव्रीहि: प्रकल्पते ।
अगुरश्च इति व्याप्तिर्नञ्समासेन यस्य न ।। वा॰प॰वृ॰ 303

3- एवंविषयो जात्यवच्छिन्नान्यपदार्थद्रव्याभिधायी नञ्समासवन्न कल्पते बहुव्रीहि:, मत्वर्थे भूमादौ बहुव्रीहिविधानात् । वा॰प॰वृ॰स॰ हेलाराज पृ॰ 325

विशेषित होकर जो ब्राह्मण नहीं है, अर्थ का बोध कराता है । इस अर्थ का क्रिया के साथ सम्बन्ध हो सकता है । वस्तुत: पूर्वपदार्थ प्रधान नञ् समास द्वारा भाव रूप अर्थ से विशिष्ट अभाव का कथन किया जाता है । अर्थात् जिसकी सत्ता प्रत्यक्ष प्रकारान्तर से उसी का निषेध किया जाता है । अत: भावरूप अर्थ को अन्तर्निहित करने के कारण इसका क्रिया के साथ योग होता है ।[2]

परन्तु इस स्थिति में भाष्यकार यह शंका उठाते हैं कि नञ् समास का नञर्थक पूर्वपद अवयय होता है, अत: उसके प्रधान होने की स्थिति में समस्त पद अव्यय हो जायेगा और समास नञ् न होकर अव्ययीभाव माना जायेगा[3] तथा समस्त पद के साथ अव्ययीभाव के अनुरूप ही नियम लागू होंगे ।[4] परन्तु यह युक्तियुक्त नहीं है । स्वयं भाष्यकार ने ही इसका समाधान प्रस्तुत किया है ।[5] भर्तृहरि का भी कहना है कि 'नञ्' के अव्यय होने तथा नञर्थ के प्रधान होने पर सर्वत्र अव्ययीभाव

1- विशेषणं ब्राह्मणादि क्रियासम्बन्धिनोऽसत: ।
   यदा विषय भिन्नं तत् तदाऽसत्व प्रतीयते ।। वा०प०वृ० 305

2- तथा चास्य भावरूपानुपातिना क्रिया विशेषेण योगोऽस्त्येव । वा०प०वृ०स०पृ०328

3- अव्ययसंज्ञा प्राप्नोति, अव्ययं ह्यस्य पूर्वपदमिति । महाभाष्य 2•2•6

4- सामान्यद्रव्यवृत्तित्वान्निमित्तानुविधायिन: ।
   अयोगो लिंग संख्याभ्यां स्याद् वा सामान्य धर्मता ।। वा०प०वृ०स० 3•7

5- नेदं वाचनिकमलिंगता असंख्यता च । किं तर्हि
   स्वाभाविकमेतत् - - - - - तत्र किमस्माभि: शक्यं वक्तुं ।
   यन्नञ: प्राक्समासाल्लिंग संख्याभ्यां योगो
   नास्ति, समासे तु भवतीति । महाभाष्य 2•2•6

नहीं माना जा सकता । क्योंकि यदि नञ् अव्यय एवं उसके अर्थप्रधानत्व को अव्ययीभाव का हेतु माना जाए तो निवृत्ति के कथन के कारण क्रिया योग ही सिद्ध नहीं होता ।[1]

उत्तर पदार्थ प्रधानता :- उत्तरपदार्थ प्रधान नञ् समास में उत्तरपदार्थ प्रधान होता है । नञ् समास की उत्तर पदार्थ प्रधानता के कारण ही उसका परिगणन तत्पुरुष समास के अन्तर्गत किया जाता है । किन्तु इन दोनों में मौलिक अन्तर है । नञ् समास में पदार्थ प्रधान होता है जबकि तत्पुरुष समास में पद में । नञ् समास में उत्तर पदार्थ नञ् के अर्थ से विशेषित होकर स्वार्थ का बोध कराता है ।[2] यथा अब्राह्मण: एवं आदि पदों में 'ब्राह्मण' पद का अर्थ प्रधान होता है और वह नञर्थक निपात 'अ' से विशेषित होता है । वस्तुत: 'अब्राह्मण' में भी ब्राह्मण से पर्याप्त साम्य होता है, किन्तु कुछ वैशिष्ट्य यथा - ब्राह्मण के धर्म पूर्णरूपेण न आ पाने के कारण, वह ब्राह्मण न होकर भी ब्राह्मण ही होता है ।[3] इसी कारण यहाँ नञ् 'ब्राह्मण' शब्द का विशेषण मात्र है । वह 'ब्राह्मण' पद के अर्थ को समाप्त न कर उसकी विशिष्टता को प्रकाशित करता है । नञ् द्वारा विशेषित उत्तर पदार्थ सामान्य उत्तर पदार्थ से भिन्न होता है, जो नञ् के वैशिष्ट्य को ही प्रमाणित करता है ।[4]

1- प्रागसत्त्वाभिधायित्वं समासे द्रव्यवाचिता ।
निमित्तानुविधानं च न सर्वत्र स्वभावत: ।।
निमित्तानुविधाने च क्रियायोगो न कल्पते ।
तथा चाव्यपदेश्यत्वादुपादनमनर्थकम् ।। वा॰प॰वृ॰स॰ 308, 309

2- प्राधान्येनाश्रिता: पूर्वं श्रुतै: सामान्यवृत्तय: ।
विशेष एवं प्रक्रान्ता ब्राह्मणक्षत्रियादय: ।। वा॰प॰वृ॰स॰ 259

3- ब्राह्मणोऽब्राह्मण स्तस्मादुपन्यासात् प्रलज्यते ।
अकृते वा कृतासङ्गादविशिष्टं कृताकृतात ।। वा॰प॰वृ॰स॰ 266

4- पदार्थानुपघातेन यत्रव्यत्र विशेषणम् ।

नञ् समास ब्राह्मणार्थ का वाचक न होकर अन्तर्निहितार्थ को प्रकाशित करता है । क्षत्रियादि शब्दों का 'अब्राह्मण' के समास विभक्तिक प्रयोग करने पर अन्तर्निहितार्थ स्पष्ट हो जाता है । क्षत्रिय शब्द 'अब्राह्मण' में अन्तर्भूत अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ को द्योतित नहीं करता । इस अर्थ में ब्राह्मणार्थ न होकर पूर्ण रूपेण अन्तर्निहितार्थ ही है ।[1]

महाभाष्य में कुछ ऐसे नञ् समासों का भी प्रयोग मिलता है जो भाषा एवं व्याकरणिक नियमों की दृष्टि से असाधु हैं । फिर भी भाष्यकार ने उनका प्रयोग किया है । यथा - अकिञ्चित् कुर्वाणम्, अमाष हरमाणम्, अगाधात् उत्सृष्टम् आदि । जबकि इन नञ् समासों का शुद्ध रूप क्रमशः किञ्चिद् अकुर्वाणम् माषम् आह रमाणम् गाधात् अनुत्सृष्टम् आदि है । सम्भवतः भाष्यकार के समय में लोक व्यवहार में उक्त पदों का यही रूप चलता था, जिसे भाष्यकार ने असाधु होने पर भी यथावत् रूप में ग्रहण कर लिया है । इन समस्त पदों के सन्दर्भ में कैय्यट ने भी कहा है कि ये नञ् समास गावी, गोणी आदि पदों की तरह असाधु है किन्तु लोक व्यवहार में देखे जाते हैं ।[2] लोक व्यवहार में प्रचलित होने के कारण ही ये नञ् समास साहित्य में भी प्रविष्ट कर गये हैं ।

1- ते क्षत्रियादिभिर्वाच्या वा सर्वनामभिः ।
यान्तीवान्यपदार्थत्वं नञो रूपाविकल्पनात् ।। वा॰प॰वृ॰स॰ 314

2- गाव्यादिवदसाधुरपि गमकत्वाभिमतो लोके प्रयुज्यते । महाभाष्यप्रदीप 2•1•1

समासों की विग्रह - वाक्य योजना

वैयाकरण आचार्य समास को तत्वतः अखण्ड मानते हैं । किन्तु समास को अखण्ड मानते हुए भी व्याख्या के लिये खण्डों की कल्पना की जाती है, ये खण्ड भाषा के अन्य स्वतंत्र शब्दों के समान होते हैं तथा इनके अर्थ भी स्वतन्त्र होते हैं । ये खण्ड परस्पर आश्रित तो होते हैं किन्तु अपने अपने अर्थ का स्वतन्त्र रूप से द्योतन करते हैं, जबकि समस्त पद में विद्यमान विभिन्न अवयव परस्पर एकीभूत होकर समास में विद्यमान शक्ति के बल पर विशिष्ट अर्थ का बोध कराते हैं । वाक्य द्वारा जिस अर्थ को व्यक्त किया जाता है वाक्य के उन्हीं शब्दों द्वारा निर्मितसमास से उस अर्थ को प्रतिपादित नहीं किया जा सकता । यथा - वाक्य 'गवां कृष्णा सम्पन्न क्षीरात्मा' गायों में काली गाय सर्वाधिक दूध देने वाली है, अर्थ का प्रतिपादन करता है, पर वाक्य में प्रयुक्त इन्हीं विभिन्न पदों के संयुक्त होने से बने समस्त पद 'गोकृष्णा सम्पन्न क्षीरात्मा' से उक्त वाक्य के अर्थ का बोध नहीं होता ।

वाक्य एवं समस्त पदों में विद्यमान विभिन्नता को देखते हुए भी अर्थबोध की सहजता के लिये समस्त पदों का विभाजन या विग्रह किया जाता है । जिस पर कड़ी आपत्ति करते हुए भर्तृहरि ने कहा है अर्थ की स्पष्टता के लिये 'उपसर्जन' आदि की कल्पना करके समास कोविभक्त करना सर्वथा व्यर्थ है । समासार्थ तो अन्वय एवं प्रसंग से स्वयं स्पष्ट हो जाता है ।[1] किन्तु समस्त पदों की अखण्डता का प्रतिपादन करते हुए भी भर्तृहरि समासों के विग्रह की कल्पना को एक ऐसी अनिवार्यता बताते हैं जिसे अवास्तविक होने पर भी कहीं न कहीं और किसी न किसी रूप में स्वीकार करना पड़ता है ।[2] स्पष्ट है समासों के अखण्ड होने पर भी उनके सम्यक्

1- अन्वयाद् गम्यते सोऽर्थो विरोधी वा निवर्तते ।
व्यर्थमर्थान्तरे वाऽपि तत्राहुरुपसर्जनम् । वा॰प॰वृ॰स॰ का 95

2- अर्थात्प्रकरणाद्वापि यत्रापेक्ष्यं प्रतीयते ।

अर्थ बोध के लिये विग्रह करना आवश्यक एवं अनिवार्य हो जाता है, अतः समस्त पदों के स्थान पर उनके विग्रह वाक्य को भी स्वीकार किया जाता है ।

विग्रह वाक्य का स्वरूप :- समास का मूलाधार विग्रह - वाक्य है । जो विग्रह भी हो और वाक्य भी उसे विग्रह वाक्य कहते हैं । साथ ही विशेष रूप से ग्रहण किये गये को भी विग्रह माना जाता । विग्रहार्थ वाक्य भी विग्रह वाक्य कहलाता है तथा विग्रहार्थ वाक्य का अर्थ विग्रह वाक्यार्थ होता है ।[1]

विग्रह के द्वारा ही समस्त पद का शाब्द-बोध होता है । समास में लुप्त प्रत्ययों आदि के कारण समस्त पद का अर्थबोध करना कठिन होता है किन्तु विग्रह वाक्य के द्वारा लिंग, संख्या आदि विधायक प्रत्ययों के माध्यम से अर्थ सहज ही प्राप्त हो जाता है ।[2] विग्रह वाक्य की परिभाषा करते हुए कुछ वैयाकरण आचार्यों ने समास के अर्थ का बोध कराने वाले वाक्य को विग्रह वाक्य कहा है ।[3]

1- विग्रहश्च तद्वाक्यञ्चेति विग्रह वाक्यम् । अथवा विशेषण ग्रहणं विग्रहः ।
विग्रहार्थं यद्वाक्यं तद् विग्रह वाक्यम् । विग्रहवाकस्यार्थो विग्रहवाक्यार्थः ।
न्यास 2.1.

2-(अ) विग्रह एवं समासलभ्यार्थस्य बोधकत्वं तंत्रम् न तु समासे विग्रहार्थस्य ।
विग्रहलभ्ययोर्लिंग संख्ययोर्व्यञ्जकवैधुर्येण प्रायशः समासाबोध्यत्वात् ।
श.श.प्रका. श्लोक 32

(ब) समासवृत्तियोग्यविभक्तन्यतपदानां पृथक्प्रयुज्य
मानानां समूहो विग्रहवाक्यमिति बोध्यम् । बालमनोरमा, सर्वसमासशेषप्रकरण

3- केचिच्छाब्दिकाः वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः इतिवदन्ति । (म.प्र.4 पृ. 43

अर्थ बोध के लिये विग्रह करना आवश्यक एवं अनिवार्य हो जाता है, अतः समस्त पदों के स्थान पर उनके विग्रह वाक्य को भी स्वीकार किया जाता है ।

विग्रह वाक्य का स्वरूप :- समास का मूलाधार विग्रह - वाक्य है । जो विग्रह भी हो और वाक्य भी उसे विग्रह वाक्य कहते हैं । साथ ही विशेष रूप से ग्रहण किये गये को भी विग्रह माना जाता । विग्रहार्थ वाक्य भी विग्रह वाक्य कहलाता है तथा विग्रहार्थ वाक्य का अर्थ विग्रह वाक्यार्थ होता है ।[1]

विग्रह के द्वारा ही समस्त पद का शाब्द-बोध होता है । समास में लुप्त प्रत्ययों आदि के कारण समस्त पद का अर्थबोध करना कठिन होता है किन्तु विग्रह वाक्य के द्वारा लिंग, संख्या आदि विधायक प्रत्ययों के माध्यम से अर्थ सहज ही प्राप्त हो जाता है ।[2] विग्रह वाक्य की परिभाषा करते हुए कुछ वैयाकरण आचार्यों ने समास के अर्थ का बोध कराने वाले वाक्य को विग्रह वाक्य कहा है ।[3]

1- विग्रहश्च तद्वाक्यञ्चेति विग्रह वाक्यम् । अथवा विशेषण ग्रहणं विग्रहः ।
विग्रहार्थं यद्वाक्यं तद् विग्रह वाक्यम् । विग्रहवाकस्यार्थो विग्रहवाक्यार्थः ।
न्यास 2·1·1

2- (अ) विग्रह एवं समासलभ्यार्थस्य बोधकत्वं तंत्रम् न तु समासे विग्रहार्थस्य ।
विग्रहलभ्ययोर्लिंग संख्ययोर्व्यञ्जकवैधुर्येण प्रायशः समासाबोध्यत्वात् ।
श·श·प्रका· श्लोक 32

(ब) समासवृत्तितयोभ्यविभक्तन्यतपदानां पृथक्प्रयुज्य मानानां समूहो विग्रहवाक्यमिति बोध्यम् । बालमनोरमा, सर्वसमासशेषप्रकरण

3- केचिच्छाब्दिकाः वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः इतिवदन्ति । (म·प्र·4 पृ· 43

न्यायकोश में विग्रह वाक्य की एक परिभाषा वैयाकरणों के नाम से प्राप्त होती है । जिसमें कहा गया है - वैयाकरण आचार्य समासादिवृत्तियों के समान अर्थ वाले वाक्य विशेष को विग्रह वाक्य कहते हैं ।[1] वस्तुत: विग्रह वाक्य समासादि वृत्तियों का अर्थबोध कराने वाला सरलतम उपाय है । समासादि वृत्तियों में एकार्थीभाव हो जाने से जहाँ अर्थबोध में कठिनाई होती है, किन्तु विग्रह वाक्य उन कठिनाइयों को दूर कर समासादि वृत्तियों में छिपे अर्थ को सहज ही समक्ष रख देता है । अत: विग्रह वाक्य समासादि वृत्तियों का अर्थाविबोधक होता है । समासों के अर्थाविबोधक विग्रह - वाक्यों की प्रकृति को दृष्टि में रखते हुए आचार्यों ने विग्रह वाक्यों का लौकिक तथा अलौकिक भेद से दो रूपों में विभाजन किया है । अर्थात् विग्रह वाक्य लौकिक तथा अलौकिक भेद से दो प्रकार का होता है ।[2]

अलौकिक विग्रह वाक्य :- वह विग्रह वाक्य जो समस्त पदों के अर्थ बोध में तो सक्षम होता है किन्तु लोक में तथा व्यवहार में प्रचलित नहीं होता अलौकिक विग्रह वाक्य कहलाता है । अर्थात् लोक में अप्रचलित पदों से युक्त अलौकिक वाक्य होता है । अलौकिक अवग्रह वाक्य में व्याकरण नियमों की दृष्टि से असंस्कृत पद प्रयुक्त होते हैं, इसी कारण उनका प्रयोग व्यवहार में नहीं हो पाता।

1-(अ) अन्ये वैयाकरणास्तु समासादिवृत्तिसमानार्थक वाक्य विशेष: इत्याहु: ।
न्यायकोश पृ॰ 750

A sentence that explains or shows the sense of a vritti is called vigraha or the analysis of word. The analysis of a word shows what vritti or modification the original element has undergone. Sidhant Kaumudi P. 546 S.C. Basu

2-(अ)स द्विविध: लौकिकोऽलौकिकश्च । सिद्धान्त कौमुदी सर्वसमासशेष प्रकरणम्

(ब) The vigraha or analysis is of two shorts logical and (लौकिक) and gramatical (अलौकिक) .

यथा - 'राजपुरुष: ' इस समस्त पद का अलौकिक विग्रह 'राजन् अम् पुरुष सु ' है । यह विग्रह वाक्य राजपुरुष: पद के अर्थबोध में तो सक्षम है किन्तु व्याकरणिक नियमों का सम्यक परिपालन न करने के कारण असंस्कृत पदों से युक्त है तथा लोक-व्यवहार से च्युत है ।

<u>लौकिक विग्रह वाक्य</u> :- वह विग्रह वाक्य जो व्याकरणिक नियमों का पालन करता हुआ संस्कृत पदों से युक्त होता है लौकिक विग्रह वाक्य कहलाता है ।[2] यह वाक्य जहाँ एक ओर व्याकरणिक नियमों का पालन करने वाले पदों से युक्त होता है वहीं दूसरी ओर इसके पद व्याकरिणक नियमों से साधु होने के कारण लोक-व्यवहार में भी प्रयुक्त होते है ।[3] लौकिक विग्रह वाक्य ही साधु शब्दों से युक्त होने के कारण लोक में प्रयोग में आता है जबकि अलौकिक विग्रह वाक्य असंस्कृत पदों से युक्त होने के कारण लोक-व्यवहार से दूर होते हैं । लौकिक विग्रह वाक्य के रूप में 'राजपुरुष: ' के विग्रह वाक्य ' राज्ञ: पुरुष: ' लिया जा सकता है । यहाँ राजपुरुष: पद का जो अर्थ है वही अर्थ 'राज्ञ: पुरुष: ' से भी प्राप्त होता है , साथ ही साथ 'राज्ञ: एवं पुरुष: दोनों ही पद व्याकरणिक दृष्टि से संस्कृत हैं तथा लोक व्यवहार में प्रचलित भी हैं ।

1-(अ) प्रयोगानर्होऽसाधुरलौकिक:

(ब) That which is shown by technical terms of grammar, which convey no meaning to outsiders, is a gramatical analysis.
Sidhant Kaumdi(on compound in A General) S.C. Basu.

2- परिनिष्ठित्वात्साधुर्लौकिक: । सिद्धान्त कौमुदी सर्वसमास शेष प्रकरण ।

3- That which is shown by a sentence as employed in ordinary language, where in the words employed are joined together by the rules of Sandhi, and are completely formed words, is logical analysis.
Sidhant Kaumdi (on compounds in general)
(S.C. Basu)

लोक व्यवहार की दृष्टि से लौकिक विग्रह वाक्य ही ग्राह्य है, क्योंकि अलौकिक विग्रह वाक्य एक तो व्यवहार के लिये है ही नहीं, दूसरा उससे समास का अर्थबोध भी जन साधारण को नहीं हो पाता । अतः समासार्थ बोध के लिये लौकिक विग्रह वाक्य का ही प्रयोग किया जाता है ।

पञ्चम अध्याय

समास - शक्ति निर्णय

समास शक्ति निर्णय

भारतीय चिन्तक परम्परा में व्याकरण शास्त्र के आचार्यों के साथ ही साथ नैयायिक तथा मीमांसक आचार्यों ने भी 'समासों' को अपनी विवेचना का विषय बनाया है । उनका मानना है कि जिस प्रकार पाँचों ज्ञानेन्द्रियों में अपने-अपने विषय (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) के बोध कराने की शक्ति अनादि काल से चली आ रही है, ठीक उसी प्रकार विशेष शब्द में विशेष अर्थ के बोध कराने की शक्ति या योग्यता भी अनादि काल से विद्यमान है ।[1] सभी शब्दों का अपने निश्चित अर्थों के साथ योग्यता रूप सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है । 'समास' भी शब्द ही है अतः उनमें भी अर्थाभिव्यक्ति की शक्ति अनादिकाल से विद्यमान है ।

महर्षि पाणिनि समासों का विवेचन करते समय 'समर्थः पदविधिः' सूत्र के माध्यम से परोक्ष रूप में समासों में विद्यमान सामर्थ्य की बात करते हैं । भाष्यकार पतञ्जलि ने महर्षि पाणिनि प्रणीत उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि पद सम्बन्धी विधि समर्थ पदों की ही होती है ।[2] एक पद का दूसरे पद के साथ समस्त होना भी पद-विधि ही है अतः समास रूपी पद विधि उन्हीं पदों की ही होती है जिनका परस्पर सामर्थ्य होता है अर्थात् जिनमें समस्त होने की योग्यता होती है । इस योग्यता या सामर्थ्य के अभाव में पद-विधि या समास होना सम्भव नहीं होता ।

नैयायिक, मीमांसक एवं वैयाकरण प्रभृति आचार्य 'समास' में विद्यमान सामर्थ्य को स्वीकार करते हैं । परन्तु समस्त पदों में विद्यमान रहने वाले इस सामर्थ्य के स्वरूप के सन्दर्भ में उक्त आचार्यों में मतभेद है । फलस्वरूप पदों को परस्पर संयोजित कराने वाला

1- इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा ।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा ।। वै॰ भू॰ 37

2- (अ) पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः । सि॰ कौ॰ 2·1·1
(ब) यः कश्चिदिह शास्त्रे पदविधिः श्रूयते स समर्थो वेदितव्यः । अष्टाध्यायी 2·1·1 वृत्ति

सामर्थ्य अपने स्वरूप भेद के आधार पर एकार्थीभाव एवं व्यपेक्षा भेद से दो प्रकार का माना जाता है ।[1] समस्तपदों में रहने वाले [illegible] सामर्थ्य को वैयाकरण आचार्य एकार्थीभाव सामर्थ्य तथा नैयायिक एवं मीमांसक आचार्य व्यपेक्षा सामर्थ्य के रूप में स्वीकार करते हैं ।

<u>एकार्थीभाव सामर्थ्य</u> :- एकार्थीभाव सामर्थ्य विद्यमान होने पर समस्त पद में संयुक्त हुए दो या दो से अधिक पद अपने पृथक-पृथक अर्थों का परित्याग कर संयुक्त रूप से एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं अर्थात् पृथक् पदों की विभिन्नार्थकता का परित्याग कर एक अर्थ वाला होकर पूरे समुदाय द्वारा एक विशिष्ट अर्थ का अभिधान करते हैं । वैयाकरण आचार्य समासों में इसी एकार्थीभाव सामर्थ्य को स्वीकार करते हैं । एकार्थीभाव सामर्थ्य में समास में विद्यमान विभिन्न पदों का अर्थ गौण हो जाता है अथवा किसी दूसरे प्रधान अर्थ का बोध होने के कारण समाप्त हो जाता है ।[2] इस दृष्टि से एकार्थी - भाव सामर्थ्य में समर्थ शब्द का अभिप्राय है - संगतार्थ [अवयवों का सुसंगत अर्थ वाला होना] अथवा संसृष्टार्थ [अवयवों के अर्थों का परस्पर संसृष्ट होना] ।[3] व्याकरण शास्त्र की यह मान्यता है कि समासयुक्त पदों में एकार्थीभाव सामर्थ्य मानने पर उनसे जो विशिष्ट अर्थ प्रकट होते हैं जिनका प्रकाशन अवयवों से नहीं हो पाता, वे अर्थ समास [समुदाय] में शक्ति मानने पर स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं । यथा - एक विशेष प्रकार के सामगान के लिये 'रथन्तर' शब्द का प्रयोग होता है । एकार्थीभाव सामर्थ्य के द्वारा ही 'रथन्तर' शब्द के विभिन्न अवयव अपने-अपने अर्थ का परित्याग कर सामूहिक रूप से 'रथन्तर' का विशिष्ट अर्थ 'साम विशेष' प्रकट करते हैं । इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण 'शुश्रूषा' लिया जा सकता है । 'शुश्रूषा' शब्द श्रु धातु के साथ सन् प्रत्यय के योग

1- [अ] तत्रेदमपरं द्वैतं भवति - एकार्थीभावो वा सामर्थ्यं व्यपेक्षा वेति । [महाभाष्य 2·1·1]

[ब] सामर्थ्यं द्विविधम् - व्यपेक्षालक्षणम् एकार्थीभाव लक्षणञ्च । बालम· टीका 2·1·1

[स] समर्थानामिति कोऽर्थः? सम्बद्धार्थानां संसृष्टार्थानां वेत्यर्थः । न्यास की पदम जरी टीका सूत्र 2·1·1

2- यत्र पदान्युपसर्जनीभूतस्वार्थानि निवृत्त स्वार्थानि वा प्रधानार्थो - पादानाद् व्यर्थानि अर्थान्तराभिधायीनि वा स एकार्थीभावः ।म·भा·प्रदीप 2·1·1

3- तत्र यदा तावदेकार्थीभावः सामर्थ्यं तदैवं विग्रहः करिष्यते संगतार्थः समर्थः, संसृष्टार्थः समर्थः इति । महाभाष्य 2·1·1

पदों में व्यपेक्षा सामर्थ्य की विद्यमानता को स्वीकार करने वाले आचार्य मानते हैं कि समस्त पदों में समुदाय की दृष्टि से विशिष्ट शक्ति नहीं होती वरन् समस्त पद के अवयवभूत पदों के अपने-अपने अर्थ की पारस्परिक अपेक्षा से विशिष्ट अर्थ का बोध हो जाता है ।[1] यथा - 'राजपुरूषः' इस समस्त पद के अवयवों 'राजा' तथा 'पुरूष' के अर्थों के उपस्थित हो जाने पर उनके परस्पर आकाङ्क्षा आदि के कारण 'स्व स्वामिभाव' रूप सम्बन्ध के द्वारा दोनों का पारस्परिक अन्वय होने से 'राजपुरूषः' इस समस्त पद से 'राज विशिष्ट पुरूष' इस अर्थ का बोध होता है । इस दृष्टि से व्यपेक्षा सामर्थ्य का अभिप्राय है - सम्बद्धार्थ होना ॥ समस्त पद के अवयवों के अर्थों का परस्पर सम्बद्ध होना ॥ ।[2] नैयायिक तथा मीमांसक आचार्य व्यपेक्षा सामर्थ्य का यही अभिप्राय स्वीकार करते हैं ।

<u>एकार्थीभाव सामर्थ्य॥संगतार्थ॥ तथा व्यपेक्षा सामर्थ्य ॥सम्बद्धार्थ॥में अन्तर</u>

वैयाकरण आचार्यों का मानना है कि एकार्थीभाव सामर्थ्य एवं व्यपेक्षा सामर्थ्य क्रमशः समास एवं वाक्य के अर्थ को प्रकाशित करते हैं ।[3] समास एवं वाक्य में प्रयुक्त पदों का पारस्परिक सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है । वाक्य में पदों का जिस प्रकार का सम्बन्ध होता है उसे व्यपेक्षा अर्थात परस्पराश्रयता तथा समास में पदों का जिस प्रकार का सम्बन्ध होता है उसे एकार्थीभाव या अर्थ की एकता कहते हैं । पदों में विद्यमान परस्पराश्रयता का सामर्थ्य सम्बद्धार्थ सामर्थ्य ॥व्यपेक्षा सामर्थ्य॥ तथा अर्थ की एकता का सामर्थ्य संगतार्थ सामर्थ्य ॥एकार्थीभाव सामर्थ्य ॥ होता है । समस्त पद एवं वाक्य की अर्थाभिव्यक्ति उनके पदों में विद्यमान सामर्थ्य के माध्यम से ही होती है । व्यपेक्षा सामर्थ्य से वाक्य के अवयवों के अर्थों के परस्पर अन्वय से वाक्यार्थ

1- व्यपेक्षावादिनस्तु परस्पराकाङ्क्षारूपा व्यपेक्षैवात्र सामर्थ्यं न तु एकार्थीभावः । लघुमञ्जूषा

2- यदा व्यपेक्षा सामर्थ्यं तदा एवं विग्रहः करिष्यते - सम्प्रेक्षितार्थः समर्थः, सम्बद्धार्थः समर्थः इति । महाभाष्य 2·1·1

3- व्यवस्थित विभाषा च सामान्ये कैश्चिदिष्यते ।
तथा वाक्यं व्यपेक्षायां समासोऽन्यत्र शिष्यते ।। वा·प·वृ·स· 45

से स्त्रीलिंग में जनता है । परन्तु शुश्रूषा शब्द के सेवा अर्थ में उसके अवयवभूत 'श्रु' धातु तथा सन् प्रत्यय क्रमश: अपने - अपने अर्थ 'सुनना' और 'इच्छा' का परित्याग करके एक दूसरे ही अर्थ 'सेवा' की अभिव्यक्ति करते हैं । जो निश्चित रूप से एकार्थीभाव सामर्थ्य की ही देन है । जिसकी पुष्टि बाल मनोरमाकार भी करते हैं ।[1] इस प्रकार एकार्थीभाव सामर्थ्य का अर्थ है - संसृष्टार्थ होना अर्थात् एकार्थ होना । वैयाकरण आचार्य एकार्थीभाव सामर्थ्य का यही अर्थ स्वीकार करते हैं ।

<u>व्यपेक्षासामर्थ्य</u> :- वैयाकरण आचार्यों के विपरीत नैयायिक तथा मीमांसक आचार्य समासों में व्यपेक्षा सामर्थ्य मानते हैं । उनकी मान्यता है कि व्यपेक्षा सामर्थ्य के द्वारा समस्त पद के विभिन्न अवयव सर्वप्रथम अपने-अपने अर्थों को प्रकट करते हैं तदनन्तर उन-उन अर्थों का आकाङ्क्षा आदि के कारण परस्पर अन्वय कर समस्त पद के अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं । पदों के अर्थों की पारस्परिक आकाङ्क्षा व्यपेक्षा होती है ।[2] व्यपेक्षा में यह माना जाता है कि जिस प्रकार वाक्य में पद पृथक्-पृथक् रहकर अपने-अपने अर्थों को प्रकट करते हैं और उसके बाद उन-उन अर्थों का आकाङ्क्षा आदि के कारण अन्वय होकर पूरे वाक्य का अर्थ प्राप्त होता है, ठीक उसी प्रकार समस्त पदों के अर्थों की भी उपलब्धि होती है । व्यपेक्षावादी आचार्यों की मान्यता है कि 'राज: पुरूष: जैसे वाक्यों के स्थान पर ही 'राजपुरूष:' जैसे समस्त पद प्रयुक्त होते हैं । अत: जिस प्रकार वाक्य 'राज: पुरूष:' में पदों की पारस्परिक अपेक्षा से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार 'राजपुरूष:' जैसे समस्त पदों में भी अवयवभूत पदों की परस्पर अपेक्षा के आधार पर ही अर्थ की अभिव्यक्ति होती है । अत: समस्त

1- एकार्थीभावलक्षणसामर्थ्यं तु प्रक्रियादशायां प्रत्येकमर्थवत्त्वेन पृथक् ग्रहीतानां पदानां समुदायशक्त्या विशिष्टैकार्थप्रतिपादकतारूपम । बालमनोरमा 2·1·1

2- परस्पराकाङ्क्षारूपा व्यपेक्षा । महाभाष्य प्रदीप 2·1·1

बोध होता है जबकि एकार्थीभाव सामर्थ्य के माध्यम से समस्तपदों के अवयव अपने पृथक् - पृथक् अर्थ का परित्याग कर एकीभूत होकर समस्त रूप में विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करते हैं । व्यपेक्षा एवं एकार्थीभाव सामर्थ्य के मध्य विद्यमान भेद -कथन का अभाव पाणिनि के 'समर्थः पदविधिः ' (2·1·1) सूत्र में होने पर भी उसे ही आधार बनाकर वार्तिककार कात्यायन, महाभाष्यकार पतञ्जलि एवं वाक्यपदीय के रचनाकार भर्तृहरि ने इस भेद को स्पष्ट किया है ।[1]

पदों में विद्यमान रहने वाला यह सम्बद्धार्थ सामर्थ्य (व्यपेक्षा सामर्थ्य) तथा संगतार्थ सामर्थ्य (एकार्थीभाव सामर्थ्य) दोनों ही पदों के अर्थाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं किन्तु सहायक होने पर भी दोनों में स्वरूपतः भेद है । सम्बद्धार्थ सामर्थ्य के बल पर विभिन्न पदों के अर्थ का परस्पर अन्वय होने पर ही अर्थ बोध होता है । पदों में परस्पर विशिष्ट अपेक्षा होती है जिसे परस्पराश्रयता कहते हैं और पदों की यही परस्पराश्रयता ही पदों का सम्बद्धार्थ सामर्थ्य है जिसमें प्रारम्भ में पद अपने-अपने अर्थ का बोध कराते हैं तत्पश्चात उन अर्थों का परस्पर अन्वय होने पर सम्बद्धार्थ की प्राप्ति होती है ।[2] जब कि संगतार्थ सामर्थ्य में पदों की परस्पराश्रयता के स्थान पर विद्यमान दो या दो से अधिक पद अपने-अपने अर्थों का परित्याग कर एकीभूत होकर सामूहिक रूप से एक विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं । संगतार्थ या संसृष्टार्थ सामर्थ्य में पदों का व्यक्तिगत अर्थ समाप्त हो जाता है और समस्त पद विशिष्ट अर्थ को प्रकाशित करता है । संगतार्थ एवं सम्बद्धार्थ सामर्थ्य के मध्य विद्यमान इस भेद को एक उदाहरण के माध्यम से और अधिक अच्छे ढंग से स्पष्ट किया जा सकता है । यथा - 'राज्ञः पुरुषः ' वाक्य एवं 'राजपुरुषः ' समस्त पद दोनों ही राज्ञः एवं पुरुषः पदों की समष्टि हैं । किन्तु दोनों में होने वाला अर्थ बोध भिन्न - भिन्न है । 'राज्ञः पुरुषः '

1- (अ) सामर्थ्यविशेषोक्तमपि लोक व्यवस्थया ।
वृत्त्यवृत्त्योः प्रयोगज्ञैर्विभक्तं प्रतिपत्तृभिः । वा·प·वृ·स· 43

(ब) लक्ष्यज्ञैस्तु लक्ष्यमूलत्वात् स्मृतेः सूत्रकाराशयमनुसृत्य
वृत्तावेकार्थीभावो वाक्ये व्यपेक्षेति विभागः कृतः । वा·प·वृ·स· 43 हेलाराज

2- स्वार्थपर्यवसायिनां पदानाम् आकाङ्क्षादिवशात् परस्परान्वयः
तत् व्यपेक्षाभिधं सामर्थ्यं, विशिष्टा अपेक्षा व्यपेक्षेति व्युत्पत्तेः,
सम्बद्धार्थः समर्थ इति व्युत्पत्तेश्च । बालमनोरमा 2·1·1

वाक्य का अर्थ बोध सम्बद्धार्थ सामर्थ्य {व्यपेक्षा सामर्थ्य} से होता है जबकि 'राजपुरूष:' समस्त पद का अर्थबोध संगतार्थ या संसृष्टार्थ {एकार्थीभाव} सामर्थ्य के माध्यम से होता है। 'राज्ञ: पुरूष:' वाक्य के दोनों पद राज्ञ: तथा पुरूष: पहले अपने-अपने अर्थ क्रमश: 'राजा' का एवं 'पुरूष' का बोध कराते हैं तदनन्तर इन दोनों का परस्पर अन्वय होकर 'राजा का पुरूष' इस अर्थ का बोध होता है। जब कि 'राजपुरूष:' में विद्यमान दोनों पदों का स्वतन्त्र अर्थ निवृत्त हो जाता है और ये दोनों घृत-तैल की भाँति परस्पर संसृष्ट होकर अपने विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। अत: स्पष्ट है कि व्यपेक्षा सामर्थ्य या सम्बद्धार्थ सामर्थ्य के माध्यम से वाक्यों का तथा संगतार्थ, संसृष्टार्थ या एकार्थीभाव सामर्थ्य के द्वारा समस्त पदों का अर्थ बोध होता है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने व्यपेक्षा {सम्बद्धार्थ} सामर्थ्य एवं एकार्थीभाव {संगतार्थ} सामर्थ्य के मध्य विद्यमान भेद विवेचन इसी 'राज्ञ: पुरूष:' एवं 'राजपुरूष:' उदाहरण के माध्यम से किया है। उनका कहना है कि समस्त पद 'राजपुरूष:' के अवयवभूत पद और वाक्य 'राज्ञ: पुरूष:' में विद्यमान पद एक ही हैं, किन्तु पदों की साम्यता होने पर भी उन दोनों में मौलिक अन्तर है, जो कि विशेषण प्रयोग के समय परिलक्षित हो जाता है। यथा - हम 'ऋद्धस्य राज्ञ:पुरूष:' तो कह सकते हैं किन्तु 'ऋद्धस्यराज्ञ: पुरूष:' के अर्थ को 'ऋद्धस्यराजपुरूष:' के द्वारा नहीं व्यक्त कर सकते। क्योंकि समस्त पद में गौण पद {उपसर्जन} का विशेषण कोई ऐसा पद नहीं हो सकता जो उससे अलग हो क्योंकि उपसर्जन {गौण पद} स्वतन्त्र अस्तित्व वाला न हो कर मुख्य पद का मुखापेक्षी होता है। जैसे कि 'राजपुरूष:' समस्त पद में 'राज' उपसर्जन {गौण पद} है तथा पुरूष: मुख्य पद तथा उपसर्जन 'राज' अर्थाभिव्यक्ति के लिये 'पुरूष:' पद की अपेक्षा रखता है और उसके साथ संसृष्ट होकर अर्थ बोध कराता है जबकि 'ऋद्धस्य' विशेषण मात्र 'राज' पद के साथ ही प्रयुक्त होता है और उसके साथ प्रयुक्त होकर 'राजपुरूष:' के संसृष्टार्थ में बाधक बनता है। परन्तु वाक्य या व्यपेक्षा सामर्थ्य में यह स्थिति नहीं होती है। वाक्य में शब्दों का परस्पर सम्बन्ध व्यपेक्षा का होता है अत: उसमें विद्यमान प्रत्येक शब्द स्वतन्त्र होता है, और व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र किसी भी पद के साथ विशेषण पद संयुक्त होकर व्यपेक्षा सामर्थ्य {सम्बद्धार्थ सामर्थ्य} के माध्यम से अर्थ बोध करा देता है। इसी कारण वाक्य में तो पद विशेष के साथ विशेषण का प्रयोग किया

जाता है किन्तु समस्त पदों में पद विशेष के साथ विशेषण का प्रयोग सम्भव नहीं होता । इसी मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए वार्तिककार कात्यायन तथा महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है कि विशेषण सहित पदों का समास होता और समस्त पदों का विशेषण प्रयुक्त नहीं होता ।[1] समास में विशेषण लगाने पर अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं होती ह ।[2]

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि विशेषण सहित का समास नहीं होता और समस्त का विशेषण प्रयुक्त नहीं होता तो ऐसा मानने पर 'देवदत्तस्य गुरूकुलम्', देवदत्तस्य गुरूपुत्रः, एवं देवदत्तस्य दासभार्या इत्यादि में समास नहीं होगा।[3]

वस्तुतः सम्बन्ध से युक्त शब्द होने पर विशिष्ट अर्थ की प्रतीति कराने के उद्देश्य से विशेषण या विशेष्य वाचक पद का प्रयोग स्वीकार्य है ।[4] यथा 'देवदत्तगुरूकुलम्' समस्त पद में देवदत्त, गुरू उपसर्जन के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है । यद्यपि 'गुरू' पद 'गुरूकुलम्' में उपसर्जन (गौण) किन्तु शिष्य के सम्बन्ध से ही कोई भी व्यक्ति गुरू कहला सकता है । अतः 'गुरूकुलम्' में गुरू पद अपने अर्थ की पूर्णता के लिये शिष्यत्व का बोध कराने वाले किसी विशिष्ट पद या विशेषण की अपेक्षा करता है । ऐसी स्थिति में शिष्यत्व का अभिधायक 'देवदत्तस्य' पद 'गुरूकुलम्' के साथ संयुक्त होकर एकार्थीभाव सामर्थ्य की विद्यमानता में 'देवदत्तगुरूकुलम्' एवं व्यपेक्षा सामर्थ्य के होने पर 'देवदत्तस्य - गुरूकुलम्' का स्वरूप धारण कर अर्थ बोध कराता है । दोनों ही स्थितियों में 'देवदत्त' शिष्यत्व का बोध कराते हुए 'गुरूकुल' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है और अभीष्ट अर्थ का बोध कराता है । अतः सम्बन्ध का अर्थ बोध कराने वाले पदों में ऐसे विशेषण का प्रयोग हो सकता है जो समास का अंग तो न हो किन्तु समस्त पद के सम्बन्ध का अर्थ बोध कराने में सक्षम हो । ऐसे उदाहरणों में विशेषण का सम्बन्ध समस्त समास के

1- (अ) सविशेषणानां वृत्तिर्न,वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न । वार्तिक 2.1.1
   (ब) सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणं न प्रयुज्यते । महाभाष्य, 2.1.1

2- तुल्यश्रुतित्वात् तत्वे पि राजादीनामुपाश्रिते ।
   वृत्तौ विशेषणाकाङ्क्षा गमकत्वान्निवर्तते ।। वा.प.वृ.स. 46

3- यदि 'सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणं न प्रयुज्यते' इत्युच्यते, 'देवदत्तस्य गुरूकुलम्', 'देवदत्तस्य गुरूपुत्रः' देवदत्तस्य दासभार्या इत्यत्र वृत्तिर्न प्राप्नोति । महाभाष्य, 2.1.1

4- सम्बन्धिशब्दसापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते । स्वार्थवत् सा व्यपेक्षास्य वृत्तावपि न हीयते ।।
   समुदायेन सम्बन्धो येषां गुरूकुलादिना । संस्पृश्यावयवांस्तेतु युज्यन्ते तद्वतासह ।।
   वा.प.वृ.स. 46,47

अर्थ से होता है न केवल उपसर्जन {गौण पद } से । यद्यपि वह समास के अर्थ के साथ परोक्षत: ही जुड़ पाता है, फिर भी वह जुड़ता है और सम्यक् अर्थ - बोध कराता है ।

पाणिनि समस्त होने पर समासगत पदों की विभक्तियों के लोप का उपदेश करते हैं[1] जो समास के एकार्थीभावत्व को ही समर्थित करता है जब कि वाक्य में पदों की विभक्तियों का लोप नहीं होता साथ ही वाक्यगत पदों का पृथक् पृथक् अर्थ बना रह कर परस्पर अन्वय द्वारा वाक्य का अर्थ बोध कराता है जो उसके व्यपेक्षाभाव का सूचक है । यहाँ पर यह कहा जाता है कि समास में विभक्तियों का लोप तो उपदिष्ट है किन्तु 'गोयुक्तो रथ: ' से 'गोरथ: ' समस्त पद बनने पर 'युक्त' आदि पदों के लोप का कोई उपदेश नहीं किया गया । इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि पाणिनि ने उन्हीं तत्वों के लोप का उपदेश किया है जो शब्द के समास में आने के पूर्व विद्यमान थे । 'गोरथ: गवां रथ: ' का समास है, उसमें युक्त शब्द हैही नहीं । अत: उसके लोप का विधान करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है ।[2] फलत: वैयाकरण आचार्यों ने उसका विधान नहीं किया ।

पदों का साम्य होने पर भी व्यपेक्षा एवं एकार्थीभाव सामर्थ्य से युक्त वाक्य तथा समास भिन्न भिन्न होते हैं, उनके अर्थ भी भिन्न-भिन्न होते हैं यद्यपि यह मान्यता चली आ रही है कि वैकल्पिक रूप से वाक्य के स्थान पर समस्त पदों का प्रयोग होता है । ऐसा होने पर समान पद युक्त वाक्य एवं समास में भिन्नार्थकता का अभाव होना चाहिए परन्तु उनके अर्थ में विद्यमान भिन्नता उन्हें एक दूसरे से पृथक् करती है । वस्तुत: राजपुरूष आदि समस्त पद ऐसे अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं जो सम्पूर्णत: विशेष्य है । समास वस्तुत: अखण्ड तत्व है और जो अखण्ड है उसकी शास्त्र में

1- सुपोधातु प्रातिपदिकयो: । अष्टा॰ 2॰4॰71

2- {अ} असमासे समासे च गोरथादिष्वदर्शनात् ।
युक्तादीनां न शास्त्रेण निवृत्त्यनुगम: कृत: ।। वा॰प॰वृ॰स॰३०

{ब} न वा समासेऽदर्शनात् । न वा वक्तव्यम् । किं कारणम् ।
असमासेऽदर्शनात् । यद्यसमासे दृश्यते तल्लोपारम्भं
प्रयोजयति । न चा समास उपसिक्त शब्द संसृष्ट शब्दो
युक्त शब्द: पूर्णशब्दो वा दृश्यते । म॰ भा॰

व्याख्या नहीं दी जा सकती किन्तु व्याख्या के लिये उनका काल्पनिक विभाग व्याकरण की दृष्टि से किया जाता है ।[1]

यद्यपि समास अखण्ड तत्व है, किन्तु वृत्ति रूप में उसकी व्याख्या ऐसी अनिवार्यता है जिसे अवास्तविक होने पर भी कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में स्वीकार करना पड़ता है ।[2] वस्तुत: ये विभाग पशु के आलेख्य के समान हैं जिससे हमें वास्तविक पशु के स्वरूप को जानने में सहायता मिलती है, परन्तु पशु का आलेख्य तो वास्तविक पशु से भिन्न ही होता है । दोनों को एक समझना भूल है । इसी प्रकार समासार्थ का बोध कराने वाला विग्रह समास का कथंचित् बोध कराने पर भी समास से वस्तुत: भिन्न है । विग्रह के पदों का परस्पर सम्बन्ध व्यपेक्षा का है जब कि समास में यह सम्बन्ध एकार्थीभाव होता है । वाक्य तथा समास में जहाँ अर्थ भिन्न होता है वहाँ पदगत ध्वनि साम्य होने पर भी स्वरूपत: भिन्न होते हैं । वाक्य तथा समास में अर्थ का ही नहीं स्वरूप का भी अन्तर होता है । समास का अन्तिम भाग अधिकांशत: परिवर्तित हो जाता है ।[3]

अर्थ तथा रूप का अन्तर होने पर भी कुछ लोग समास तथा वाक्य को एक ही मानते हैं । उदाहरण के लिये 'नीलम् उत्पलम्' वाक्य में दो पद परस्पर समानाधिकरण है तथा उनमें परस्पर विशेषण विशेष्य भाव है । अत: वे कहते हैं कि ये दोनों पद नीलोत्पलम् समस्त पद में भी विद्यमान हैं । तथा वाक्य एवं समास इन दोनों के पदों में पारस्परिक अपेक्षा व्यपेक्षा का सम्बन्ध होता है अत: वाक्य तथा समास पर्याय हैं । एकार्थीभाव रूप अर्थों की एकता जिसे व्याकरण में समास का असाधारण धर्म माना गया है वास्तव में होता ही नहीं, सर्वत्र व्यपेक्षा का ही सम्बन्ध होता है ।[4]

1- अनुस्यूतेव संसृष्टेरर्थे बुद्धि: प्रवर्तते । व्याख्यातारो विभज्याथ तां भेदेन प्रचक्षते ।।
तदात्मन्यविभक्ते च बुद्ध्यन्तरमुपाश्रिता: । विभागमिव मन्यन्ते विशेषण विशेष्यो: ।।
अबुधान प्रतिवृत्तिं वर्तयन्त: प्रकल्पितम् । आहु: पदार्थवचने त्यागाभ्युच्चयधर्मताम ।।
वा·प·वृ·स· 92,93,94

2- अर्थात् प्रकरणाद् वापि यत्रोपेक्ष्यं प्रतीयते । सामर्थ्यादनपेक्ष्य तस्य वृत्ति: प्रसज्यते ।।
वा·प·वृ 444

3-(अ) अबुधान् प्रत्युपायाश्च विचित्रा: प्रतिपत्तये ।
शब्दान्तरत्वादत्यन्तभेदो वाक्य समासयो: ।। वा·प·वृ·- 49
(ब) तच्च व्यपेक्षैकनियतमेकार्थीभाव विषयात् समासादन्यदेव ।
अर्थभेदेन शब्दानां भेदात् । संख्याविशेषादिश्चार्थभेद: प्रदर्शित: ।
क्वचित् समासान्तदेश्च संभवात् रूपभदोऽप्यस्ति । वा·वृ· 49 हेलराज

परन्तु यह मत समीचीन नहीं है । क्योंकि जिस प्रकार वृक्ष आदि रूढ़ पदों के अवयव नहीं होते ठीक उसी प्रकार नीलोत्पलम्, राजपुरूष: इत्यादि समस्त पदों के अवयव नहीं होते वरन् वे एकार्थीभाव सामर्थ्य के बल पर ही विशिष्टार्थ के द्योतक है ।[5]

एकार्थकता होने के कारण समास वाक्य से सर्वथा भिन्न होता है क्योंकि उसके पदों में भिन्नार्थकता विद्यमान रहती है । अत: इनमें प्रतीत होने वाले सादृश्य के आधार पर इन्हें एक मानना भ्रम है । कभी-कभी यह सादृश्य भी दिखाई नहीं देता । 'वाशिष्ठ' तथा गार्ग्य की व्याख्या करने के लिये मूल शब्दों से मिलते जुलते प्रकृति - प्रत्ययों की कल्पना की जा सकती है । परन्तु 'श्रोत्रिय' जैसे शब्दों के विषय में ऐसा नहीं होता जिस प्रकृति से वह निष्पन्न माना जाता है उसके साथ उसका सादृश्य कथमपि प्रतीत नहीं होता ।[6]

कुछ समस्त पदों के अर्थों तथा उनके समान वाक्यों के अर्थों में कोई अन्तर नहीं होता । यथा - 'सप्तवर्ण' इसका उदाहरण है, जिसका अर्थ है - 'पर्वणि पर्वणि सप्त पर्णानि अस्य' अर्थात् जिसकी गांठ में सात पत्ते होते हैं । यद्यपि 'सप्तपर्ण' शब्द में 'पर्वन्' पद नहीं पाया जाता तथापि इसकी आवृत्ति को ही शब्दार्थ का प्रधान तत्व माना गया है । चूंकि यह प्रधान तत्व 'सप्तपर्ण' समास में नहीं है अत: इसे रूढ़ि मात्र माना जाता है, जबकि 'राजपुरूष' को यौगिक अर्थात सार्थक अवयवों से निर्मित माना गया है ।[7]

4- इति कार्यशब्द वादिनो वृत्तिवाक्ययो: प्रधानार्थभेदेन पर्याययो: सर्वथैक्यं भ्रान्त्याऽध्यवस्यन्ति । नैकार्थीभावोनाम विशेषकर: कश्चिद् व्यपेक्षैव, षत्वादिविषये पि सम्भवात् सर्वत्र सामर्थ्यमिति प्रतिपत्रा: । वा॰प॰वृ॰ 52 हेलाराज

5- पदं यथैव वृक्षादि विशिष्टेऽर्थे व्यवस्थितम् ।
नीलोत्पलाद्यपि तथा भागाभ्यां वर्तते बिना । वा॰वृ॰ 53

6- श्रोत्रियक्षेत्रियादीनां न च वाशिष्ठगार्ग्यवत् ।
भेदेन प्रत्ययो लोके तुल्यरूपा समन्वयात् । वा॰वृ॰ 54

7- सप्तपर्णादिवद् भेदो न वृत्तौ विद्यते क्वचित् ।
रूढ्यरूढिविभागोऽपि क्रियते प्रतिपत्तये । वा॰प॰वृ॰स॰ 55

वस्तुतः समास अखण्ड तत्व है, शास्त्र में उनकी व्याख्या नहीं दी जा सकती, किन्तु व्याख्या हेतु उनका काल्पनिक विभाग किया जाता है । वे अपने समान वाक्यों से भिन्न होते हैं । वाक्य में पदों का व्यपेक्षा रूप सम्बन्ध होता है तथा समास में एकार्थीभाव । अभिप्राय यह है कि एकार्थीभाव अर्थात् अर्थों की एकता से समास तथा व्यपेक्षा अर्थात् पदों के अर्थों के परस्परान्वय से वाक्य निष्पन्न होता है ।

समासों का शाब्द बोध

समस्त पदों में विद्यमान सामर्थ्य के स्वरूप के सन्दर्भ में विभिन्न दार्शनिक मतवादो द्वारा एकार्थीभाव सामर्थ्य एवं व्यपेक्षा सामर्थ्य की मान्यता होने के कारण समस्त पदों के अर्थ विवेचन या अर्थ प्राप्ति के सन्दर्भ में प्राचीन भारतीय विचारकों में मतभेद है । समस्त पदों में विद्यमान रहने वाले सामर्थ्य के सन्दर्भ में एकार्थीभाव एवं व्यपेक्षा सामर्थ्य के आधार पर समस्त पदों की अर्थ विषयक भारतीय विचारधारा को भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है । प्रथम वर्ग में समास में व्यपेक्षा सामर्थ्य को स्वीकार करने वाले नैयायिक तथा मीमांसक आचार्य आते हैं, जिनके सिद्धान्त को व्यपेक्षासामर्थ्यवाद कहते हैं, तथा द्वितीय वर्ग में समस्त पदों में एकार्थी-भाव सामर्थ्य को मानने वाले वैयाकरण आचार्य आते हैं, इन वैयाकरण आचार्यों के समासार्थ बोध सिद्धान्त को एकार्थीभाव सामर्थ्यवाद कहते हैं ।

नैयायिक तथा मीमांसक आचार्य समस्त पदों में व्यपेक्षा सामर्थ्य को स्वीकार कर समासार्थ-बोध के सन्दर्भ में व्यपेक्षा सामर्थ्यवाद का प्रतिपादन करते हैं । किन्तु वैयाकरण आचार्य इन व्यपेक्षासामर्थ्यवादी नैयायिक तथा मीमांसक आचार्यों के सिद्धान्त का खण्डन कर स्वयं को स्वीकृत एकार्थीभाव सामर्थ्यवाद की समासार्थ-बोध के सन्दर्भ में स्थापना करते हुए घोषित करते हैं कि वाक्य की अपेक्षा समास में विशिष्ट शक्ति होती है जिसके आधार पर समस्त पद वाक्य से शब्द साम्य होने पर भी अपे अवयवार्थ से अतिरिक्त विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करते हैं ।

व्यपेक्षा सामर्थ्यवाद

नैयायिक एवं मीमांसक आचार्य समस्त पदों में व्यपेक्षा सामर्थ्य को स्वीकार करते हैं अतः समासार्थ-बोध के सन्दर्भ में वे व्यपेक्षा सामर्थ्यवाद अथवा अजहत्स्वार्थावृत्ति-वाद का प्रतिपादन करते हैं। जहाँ पर पद अपने अवयवों के अर्थ का सर्वथा परित्याग नहीं करते वहाँ अजहत्स्वार्थवृत्ति होती है। नैयायिक तथा मीमांसक आचार्यों की मान्यता है कि समस्त पद के अवयव अपने अर्थ का परित्याग नहीं करते वरन् अपने अर्थ को धारण किये रहने के कारण अपने अर्थ का भी बोध कराते रहते हैं। इसी मान्यता के आधार पर वे व्यपेक्षावाद की प्रतिष्ठापना करते हैं।

व्यपेक्षा सामर्थ्यवाद के प्रतिपादक नैयायिक तथा मीमांसक आचार्य समास आदि वृत्तियों में अवयवों की स्वार्थवाचिका के अतिरिक्त कोई विशेष शक्ति नहीं मानते। समास में विशिष्ट शक्ति न मानने वाले ये आचार्य मानते हैं कि समस्त पदों से जो विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है उसकी उपपत्ति व्यपेक्षा सामर्थ्यवाद में लक्षणा के आधार पर कर ली जाती है। समस्त पदों का अर्थबोध लक्षणा के आधार पर स्वीकार करने वाले प्रसिद्ध नैयायिक जगदीश तर्कालंकार ने अपने मतवाद की स्थापना करते हुए समास में एकार्थीभाव सामर्थ्य की विद्यमानता को स्वीकार करने वाले पतंजलि, कात्यायन तथा भर्तृहरि प्रभृति वैयाकरण आचार्यों के सिद्धान्त का खण्डन किया है। उनका कहना है कि एकार्थीभाव सामर्थ्यवादी वैयाकरण आचार्य समस्त पदों में जो एकार्थीभाव सामर्थ्य या जहत्स्वार्थावृत्ति स्वीकार करते हैं वह युक्ति युक्त नहीं है। क्यों कि समस्त पद अपने अर्थबोध के लिये अवयवों के अर्थों का परित्याग नहीं करते क्योंकि इससे वदतोव्याघात दोष उत्पन्न हो जायेगा क्यों कि यह कहना कि समस्त पदों के अवयवों के विद्यमान रहने पर भी अपने अर्थ का बोध नहीं कराते समीचीन प्रतीत नहीं होता। व्यवहार में भी यह सम्भव नहीं है कि कोई विद्यमान हो एवं उसकी प्रतीति न हो। इनकी मान्यता है कि समस्त पद के अवयव सदैव अपने अर्थ का बोध कराते रहते हैं साथ ही लक्षणा के आधार पर समस्त पदों से उसके अवयवार्थ से भिन्न अर्थ का बोध कर लिया जाता है।

व्यपेक्षा सामर्थ्यवादी आचार्यों की मान्यता है कि पंकजम् मनसादेवी, पद्मनाभ और युधिष्ठिर आदि पदों में वैयाकरण आचार्यों द्वारा मान्य एकार्थीभाव सामर्थ्य या जहत्स्वार्थवृत्ति के आधार पर अर्थ बोध नहीं हो सकता वरन् व्यपेक्षा सा सामर्थ्य या अजहत्स्वार्थावृत्ति ही इन समस्त पदों का अर्थ बोध कराने में सक्षम है । क्योंकि 'पङ्कज' शब्द का 'पङ्क' {कीचड़} में उत्पन्न {कमल} अर्थ अनुभवसिद्ध है जो अजहत्स्वार्थावृत्ति को स्वीकार करने पर ही उपलब्ध होता है । अत: अनुभवसिद्ध अर्थ का बोध कराने वाले इस व्यपेक्षा सामर्थ्यवाद या अजहत्स्वार्थावृत्ति के अस्तित्व की समासार्थ बोध में प्रासंगिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता है ।[1] व्यपेक्षा सामर्थ्यवादियों का कहना है 'पंकज' शब्द के अवयव विभाग 'पङ + जन् + ड' को न जानने वाले लोग भी 'पंकज' शब्द के श्रवण मात्र से ही 'कमल' अर्थ का बोध कर लेते हैं । अत: इस समस्त पद 'पंकज' में कमल अर्थ के लिये विशिष्ट शक्ति मानना उचित नहीं है ।

कुमारिलभट्ट, प्रभाकर तथा मण्डन मिश्र आदि मीमांसक एवं गंगेशोपाध्याय, गदाधरभट्ट तथा जगदीश तर्कालंकार आदि नैयायिक आचार्यों के मतों का सार वैयाकरण आचार्य कौण्डभट्ट तथा नागेश ने अपनी-अपनी कृतियों में दिया हो । इन विद्वानों के अनुसार व्यपेक्षावादी ये नैयायिक तथा मीमांसक आचार्य समास में विशिष्ट शक्ति न मानकर समस्त पदों का अर्थ बोध लक्षणा द्वारा करते हैं ।[2]

1- जहत्स्वार्था तु तत्रैव यत्र रूढिविरोधिनी ।
पंकजं मनसादेवी पद्मनाभो युधिष्ठिर: ।।
तदेतद् वैयाकरणमतं पंकजमस्ति, इत्यादित: पंकजातं
पद्ममस्ति इत्याधनुभवस्थ न्यायमीमांसादि सकल
तन्त्र सिद्धत्वेन गौरवस्य प्रमाणिकत्वादनादरेयम् । श॰श॰प्र॰का॰ 26

2- न समासे शक्ति : । राजपुरुष इत्यादौ राजपदादे: संबन्धिलक्षणैव
राजसंबन्ध्यभिन्न: पुरुष इति बोधोपपत्ते: । वै॰भू॰सार टीका का॰ 7

'राजपुरूष' पद में 'राज' पद से लक्षणा द्वारा 'राज सम्बन्धी' अर्थ प्राप्त होता है और 'राजपुरूष' इस समस्त पद से राज सम्बन्धी पुरूष अर्थ निकलता है। परन्तु राजपुरूष: इत्यादि प्रयोगों में जब तक समस्त पद में संयुक्त इनके अवयवों के अर्थ का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक किसी को भी इनसे 'राजा का पुरूष' इस विशिष्ट अर्थ की उपलब्धि नहीं होती। अत: इन अवयवों के अर्थ के आधार पर समस्त पद के अर्थ बोध के लिये लक्षणा वृत्ति ही आधार बनती है, समुदाय में विद्यमान रहने वाली शक्ति नहीं। इस प्रकार 'राज्ञ:' आदि अंशों का लक्षणा के आधार पर 'राजा का सम्बन्धी' इत्यादि अर्थ मानने पर एक लाभ यह होता है कि 'राजपुरूष' जैसे समस्त पदों के प्रयोग में विद्यमान 'राज्ञ:' इत्यादि पदों के साथ ऋद्धस्य जैसे किसी विशेषण का सम्बन्ध नहीं स्थापित हो पाता। इसके दो हेतु दिये जा सकते हैं। प्रथमत: 'राज्ञ:' पद का अर्थ 'राजा का सम्बन्धी' है न कि केवल 'राजा'। पदों की स्वतन्त्र सत्ता होने पर भी राज पद के साथ ऋद्धस्य विशेषण का प्रयोग नहीं हो सकता है। क्योंकि राजपुरूष पद में राज पद का अर्थ पदार्थ नहीं पदार्थ का एकदेश मात्र है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के साथ अन्वित होता है पदार्थ के एक देश के साथ नहीं।[1] अत: राज्ञ: पद के पदार्थ (राजा का सम्बन्धी) के एक भाग राज्ञ: (राजा का) के साथ ऋद्धस्य आदि विशेषण संयुक्त नहीं हो पाता। द्वितीयत: वार्तिककार कात्यायन तथा महाभाष्यकार पतंजलि का कहना है - विशेषण सहित पदों का समास नहीं होता है और न तो समासयुक्त पदों के अवयवों के साथ ही विशेषण संयुक्त होता है।[2] अर्थात् विशेषण युक्त पदों का परस्पर समास नहीं होता तथा समस्त पदों के अवयवों के साथ विशेषण का सम्बन्ध नहीं होता है। अत: समस्तपद 'राजपुरूष:' के अवयवभूत षष्ठ्यन्त 'राज्ञ:' पद का 'ऋद्धस्य' इस विशेषण से सम्बन्ध नहीं हो पाता। व्यपेक्षा सामर्थ्यवादी नैयायिक

1- पदार्थ: पदार्थेनान्वेति, न तु पदार्थैकदेशेन प०ल०म० समासविवृत्यर्थ विचार

2- (अ) सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषण योगोन। महाभाष्य 2०1०1

(ब) सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणं न प्रयुज्यते। वा० 2०1०1

तथा मीमांसक आचार्य घनश्याम:, निश्कौशाम्बि: तथा गोरथ: इत्यादि का अर्थ बोध होना लक्षणा के आधार पर ही स्वीकार करते हैं । व्यपेक्षावादी यह मानता है कि लक्षणा के आधार पर समस्त पद धनश्याम: के घन पद का अर्थ 'घन इव', निष्कौशाम्बि: निस् का अर्थ निष्क्रान्त, तथा गोरथ: के गो पद का अर्थ गोयुक्त प्राप्त होता है । इसलिये घन,निस्, गो इत्यादि पदों से ही उक्त अर्थों की प्राप्ति हो जाने के कारण समास में पुन: इव आदि शब्दों के प्रयोग किये जाने की आवश्यकता ही नहीं होती । क्योंकि नियम है उक्तार्थानाम् अप्रयाग: अर्थात उन शब्दों का प्रयोग वक्ता नहीं करता जिनका अर्थ, उन शब्दों का प्रयोग वाक्य में किये बिना स्वत: ही प्रकट हो जाता है । अनुक्त अर्थ के लिये ही शब्दों का प्रयोग किया जाता है उक्त अर्थ के लिये नहीं, यह न्याय इसी बात की पुष्टि करता है ।

व्यपेक्षावादियों का मानना है कि 'चित्रगु' पद में 'चित्र' और 'गो' पद लक्षणा शक्ति द्वारा ही 'चित्राभिन्न गो' अर्थ का बोध कराते हैं तदनन्तर गो पद गो सम्बन्धी अर्थ का बोध कराता है । इस प्रकार चित्राभिन्न गो सम्बन्धवान् अर्थ चित्रगु पद द्वारा प्राप्त होता है । इसी प्रकार 'प्राप्तोदक:' पद में उदक पद लक्षणा द्वारा उदक कर्तृक अर्थ को कहते हैं । यद्यपि प्राप्त पद में भी लक्षणा मानी जा सकती है किन्तु उस लक्षणा के विलम्ब से प्राप्त होने के कारण उत्तर पद में ही लक्षणा स्वीकार की जाती है । क्यों कि 'उदक' पद रूढि है इसलिये इसके साथ प्रकृति प्रत्यय तथा उनके अर्थ ज्ञान के बिना ही, केवल उसके अर्थ ज्ञान के पश्चात् ही लक्षणा की उपस्थिति हो जाती है जबकि 'प्राप्त:' पद के यौगिक होने के कारण उसमें लक्षणा मानने से पहले प्र उपसर्ग आप् धातु तथा क्त प्रत्यय इन सब अवयवों तथा उनके अर्थों का ज्ञान होना आवश्यक है । इन सबका ज्ञान हो जाने पर ही 'प्राप्त' पद में लक्षणा मानी जा सकती है । किन्तु इस प्रकार 'प्राप्त' पद में लक्षणा देर से उपस्थित होती है । अत: उत्तर पद 'उदक' में सहज उपलब्ध लक्षणा को ही स्वीकार किया जाता है ।[1] इसके अतिरिक्त

1- (अ) प्राप्तोदक: इत्यादौ उदक पदे एव लक्षणा स्वीकारात् । पूर्व पदस्य यौगिकत्वेन तत्र लक्षणाया धातु-प्रत्यय-तदर्थ ज्ञान साध्यतया विलम्बितत्वात् ।
प॰ल॰म॰ समासादिवृत्यर्थ विचार

(ब) अतएव राज्ञ: पदार्थैकदेशतया न तत्र शोभनस्येत्यादि विशेषणान्वय: । वै॰भू॰सा॰कारि 7 की टीका

उदक पद में लक्षणा मानने का एक और हेतु दिया जा सकता है कि प्रत्यय अपने समीप स्थित पद के अर्थ के साथ ही अपने अर्थ का बोधक होते हैं ।[2] प्रत्यया: सन्निहित - पदार्थगत - स्वार्थ बोधका: भवन्ति एक सर्वमान्य न्याय है । इस न्याय के आधार पर ही 'राजपुरूषम् आनय' इस प्रयोग में पुरूष में लगे हुए अम् प्रत्यय के अर्थ कर्मत्व आदि का अन्वय राजा के साथ नहीं होता । क्योंकि 'राजा' शब्द यद्यपि प्रत्यय अम् के पूर्व है परन्तु वह अम् के सर्वथा समीप नहीं है । अम् प्रत्यय के सर्वाधिक समीप तथा पूर्व में पुरूष पद विद्यमान है अत: प्रत्यय अम् अपने अर्थ कर्मत्व आदि का अन्वय पुरूष के साथ करके पुरूष पद के अर्थ मे साथ ही अपने अर्थ का बोध कराता है । यदि पुरूष पद के समान ही राजन् पद के साथ भी उसका अन्वय देने लगे तो इस वाक्य का अर्थ 'पुरूष के समान राजा को लाओ' होने लगेगा । अत: इस अप्रासंगिक अर्थ से बचने के लिये उक्त न्याय को मानना आवश्यक है । इस न्याय के आधार पर ही प्रादोदक: पद में उदक में लक्षणा मानना उचित है क्योंकि उदक पदक में प्रथमार्थक सु प्रत्यय है वह उदक के साथ ही समन्वित हो सकता है 'प्राप्त के अर्थ से नहीं' । इस प्रकार उदक पद का लक्षणा वृत्ति से अर्थ होगा उदक है कर्ता जिसमें ऐसा प्राप्त है 'कर्म' जिसमें वह ग्राम । इस प्रकार प्राप्तिकर्मक उदक कर्तृक ग्राम सहज ही निकल आयेगा । नीलोत्पलम् इत्यादि कर्मधारय समास युक्त पदों में भी नील और उत्पल पदों का तादात्म्य सम्बन्ध से अन्वय होता है तदनन्तर नीलोत्पल पद से अम् विभक्ति का प्रयोग होता है । व्यपेक्षावादी आचार्य वैयाकरणों की भांति 'नीलोत्पल' आदि पदों को मूल प्रकृति रूप नहीं मानते हैं । उनका मानना है कि नीलोत्पल पद में नील एवं उत्पल पद के तादात्म्य सम्बन्ध की स्पष्ट प्रतीति होती है ।

2- प्रत्ययानां सन्निहितपदार्थगत स्वार्थ बोधक त्वम् । प॰ल॰म॰ समासादि वृत्यर्थ विचार

यदि ऐसे प्रयोगों के लिये तादात्म्य सम्बन्ध युक्त नामार्थ के साथ विभक्ति का प्रयोग होता है तो कोई गौरव या दोष नहीं होगा।[1] क्योंकि फल मुख गौरव दोष जनक नहीं होता है।[2]

इस प्रकार व्यपेक्षा सामर्थ्यवाद सिद्धान्त के अनुसार समस्त पदों के अवयवार्थों का ही आकांक्षा आदि के द्वारा पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कर अन्वय कर समस्त पदों का अर्थ बोध कर लिया जाता है। इस अर्थ बोध के समय समस्त पदों में संयुक्त विभिन्न पदों का अर्थ पृथक् पृथक विद्यमान रहता है तथा उनके परस्परान्वय से ही इसकी उपलब्धि होती है। समस्त पदों के अर्थ बोध के सन्दर्भ में नैयायिक तथा मीमांसक आचार्य वैयाकरणों द्वारा मान्य 'समास में विशिष्ट शक्ति होती है सिद्धान्त का निषेध कर समस्त पद के अवयवार्थों से भिन्न विशिष्ट अर्थ की उपलब्धि लक्षणा द्वारा स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि समासों में विशिष्ट अर्थ की उपलब्धि लक्षणा द्वारा होती है न कि समासों में विशिष्ट शक्ति होती है।[3] और इन आचार्यों की यही मान्यता ही व्यपेक्षा सामर्थ्यवाद के सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना करती है।

1- ननु विशेष्यतया नामार्थ प्रकारकान्वय बुद्धि मात्रं प्रत्येव
नामोत्तरविभक्त युपस्थाप्यत्वं तन्त्रं न तु तादात्म्य -
सम्बन्धावच्छिन्नतत्प्रकारकं बुद्धिं प्रति, गौरवात्।
नामार्थयो नीलोत्पलयोरन्वयासम्भवात् कर्मधारयादिकः
समासे न यौगिकः, किन्तु नीलोत्पलत्वादि विशिष्टे रूढ एव।
तदुक्तं भर्तृहरिणा -
अबुधान् प्रत्युपायाश्च विहिताः पतिपत्तये।
शब्दान्तरत्वादत्यन्तभेदो वाक्य समासयोः॥
इति वैयाकरणः तन्मदम्।
नीलोत्पलमित्यादौ समुदाये रूढय प्रतिसन्धानेऽपि
नीलादि प्रत्येक पदोपस्थित्या तयोस्तादात्म्ये
नान्वय बोधस्यानुभविकत्वेन गौरवस्य। प्रमाणिकत्वाम्। श॰श॰प्र॰का॰ 34
2- फलमुखं गौरवं न दोषाय।
3- न समासे शक्ति : 'राजपुरुषः' इत्यादौ राजपदादेः
सम्बन्धिनि लक्षणैयैव राजसम्बन्धवद्
अभिन्नः पुरुषः 'इति बोधात्। प॰ल॰म॰ समासादिवृत्यर्थ विचार

व्यपेक्षा सामर्थ्यवाद का खण्डन

समास में एकार्थीभाव सामर्थ्य स्वीकार करने वाले वैयाकरण आचार्य समासों से सम्बन्धित व्यपेक्षासामर्थ्यवाद के सिद्धान्त का खण्डन कर समास में एकार्थीभाव सामर्थ्य की विद्यमानता का प्रतिपादन करते हैं । वैयाकरण नागेशभट्ट एवं कौण्डभट्ट ने नैयायिकों एवं मीमांसकों के व्यपेक्षासामर्थ्यवाद ने सिद्धान्त की कटु आलोचना की है । उनका कहना है कि यदि विशिष्ट समुदाय रूप समस्त पद में अर्थाभिधान की विशिष्ट शक्ति को न माना गया तो राजपुरूष: इत्यादि समस्त पदों में 'राज्ञ:' तथा 'पुरूष:' अवयवों के सार्थक होने पर भी समुदायरूप समस्त पद 'राजपुरूष:' अर्थवान् नहीं होगा तथा निरर्थक होने के कारण अर्थवत्ता के अभाव में इस प्रकार के समुदायों की 'अर्थवदधातुरप्रत्यय: प्रतिपादकम्' 1•2•45 सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होगी ।[1] इसलिये यदि समास में विशिष्ट शक्ति की विद्यमानता को स्वीकार न किया गया तो 'राजपुरूष:' आदि समस्तपदों को सिशिष्ट अर्थ का वाचक न माना जायेगा तथा वह समस्तपद शब्द स्वरूप अर्थवान् नहीं होगा । अर्थवत्ता के अभाव में प्रातिपदिक संज्ञा न होने पर प्रातिपदिक से होन वाली सु आदि विभक्तियाँ इन पदों के साथ युक्त न हो सकेगी फलस्वरूप समस्त पद 'अपद' अथवा असाधु हो जायेगी । यदि यह कहा जाय कि 'अर्थवदधातुरप्रत्यय: प्रातिपदिकम्' सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा न हो तो कोई बात नहीं, प्रातिपदिक संज्ञा विधायक दूसरे सूत्र 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से तो प्रातिपदिक संज्ञा हो ही जायेगी । यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि भाष्यकार ने 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र के 'समास' पद को नियमार्थक माना है ।

1- (अ) समासे शक्त्यस्वीकारे विशिष्टस्य अर्थवत्वाभावेन प्रातिपदिकत्वं न स्यात् ।
प•ल•म• समास•

(ब) 'अर्थवद' इति प्रातिपदिक संज्ञायाम् अनेकस्यापि पदस्य प्रातिपदिक संज्ञा प्राप्नोति - दश दाडिमानि,षड् अपूपा:, कुण्डम्, अजाजिनम्, पललपिण्ड: अधरोरूकम् एतत् कुमार्या:, स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीन:, इति ? समुदायोऽत्र अनर्थक: । महाभाष्य 1•2•45

जहाँ समास में पूर्व भाग पद है वहाँ यदि प्रातिपदिक संज्ञा होगी तो समास की ही होगी वाक्य की नहीं ।[1] इस नियम से अर्थवत् समास की ही प्रातिपदिक संज्ञा हो सकती है । इस नियमार्थकता का अभिप्राय यह है कि यदि किसी अर्थवान् समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा होगी तो केवल समस्त पदों की ही होगी ।[2] इस नियम के कारण ही राज्ञ:पुरुष:, देवदत्त: पचति इत्यादि वाक्यों की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती । व्यपेक्षावादियों की दृष्टि में समस्तपद निरर्थक हैं अत: समस्तपद 'पद' नहीं होंगे और उनका भाषा में प्रयोग नहीं होगा[3] किन्तु व्यवहार में समस्त पदों का प्रयोग होता है तथा वे अर्थाभिव्यक्ति भी करते हैं अत: समस्तपद निरर्थक नहीं हैं अपितु समस्तपदों के निरर्थक मानने वाले व्यपेक्षावादी आचार्यों की मान्यता ही असंगत है ।

नैयायिक आचार्य शक्यार्थ से सम्बन्ध ही लक्षणा है - ऐसा मानते हैं । उनका जो यह कहना है कि समस्त पदों में सामुदायिक अर्थवत्ता माने बिना ही, लाक्षणिक अर्थवत्ता के आधार पर भी तो समस्त पदों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा हो सकती है उचित नहीं है क्योंकि यदि समासयुक्त समुदाय का अपना कोई विशिष्ट अर्थ ही नहीं है तो फिर वहाँ लक्षणा वृत्ति ही कैसे उपस्थित हो सकती है । लक्षणा की परिभाषा 'शक्य अर्थात् अभिधाशक्ति से प्रकट होने वाले अर्थ का सम्बन्ध ही लक्षणा है' स्वयं नैयायिक आचार्य मानते हैं । इसलिये यह लक्षणा तब तक नहीं हो सकती जब तक समस्त पद में विशिष्ट अर्थ की उपलब्धि के लिये विशिष्ट शक्ति को स्वीकार ही नहीं करते इसलिये लक्षणा की बात स्वत: समाप्त हो जाती है । तथा लक्षणा वृत्ति की प्राप्ति न होने पर लक्ष्यार्थ के अभाव में समस्त पदों की प्रातिपदिक

1- पूर्वेण सिद्धे समास ग्रहणम् नियमार्थम्, यत्र संघाते पूर्वोभाग: पदं तस्य चेद् भवति तर्हि समासस्यैव । तेन वाक्यस्य न । सि॰कौ॰ वृत्त्यादि॰ की वृत्ति

2- अर्थवत्समुदायानां समास ग्रहणं नियमार्थं भविष्यति, समास एव अर्थवतां समुदाय: प्रातिपदिक संज्ञो भवति नान्य: । महाभाष्य ।•2• 45

3- अपदं न प्रयुञ्जीत ।

संज्ञा नहीं हो सकती । प्रातिपदिक संज्ञा के अभाव में तदाश्रित सु आदि विभक्तियों की उपपत्ति नहीं होगी । इस रूप में समस्त समस्त-पद 'अपद' अर्थात् असाधु हो जायेंगी तथा अपद होने के कारण 'अपद न प्रयुञ्जीत' नियम के अनुसार, इस प्रकार के समस्तपदों के प्रयोगों का लोप हो जायेगा । परन्तु ऐसा नहीं होता । अतः लाक्षणिक अर्थवत्ता के आधार पर भी समासयुक्त पदों की प्रातिपदिक संज्ञा उपपन्न नहीं हो पाती, परिणामस्वरूप, समस्त पदों में विशिष्ट शक्ति को स्वीकार करने पर ही लक्ष्यार्थ की प्राप्ति होती है तथा समस्त पदों की प्रातिपदिक संज्ञा उपपन्न होती है ।

यदि प्रातिपदिक संज्ञा विधायक 'अर्थवदधातुर प्रत्यय:प्रातिपदिकम्' यह सूत्र बनाकर 'तिङ् और सुप प्रत्ययान्त भिन्न प्रातिपदिक होता है' ऐसा अर्थ करने पर भी समस्त पदों की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती क्योंकि अर्थवत् पद यहाँ भी मानना पड़ेगा और उसके रहने पर समास के प्रयोगों में प्रातिपदिक संज्ञा का अभाव भी पूर्ववत् बना रहेगा । साथ ही यदि अंतिम प्रातिपदिक म् सूत्र में अर्थवत विशेषण नहीं जोड़ा जाता तो प्रत्येक वर्ण की प्रातिपदिक संज्ञा होने लगेगी [1] और अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी । समास प्रातिपदिक होने के कारण अर्थवान् होता है क्यों कि जो अर्थवान् है वही प्रातिपदिक संज्ञक हो सकता है ।[2] अतः यह स्पष्ट है कि समास प्रयोगों के समुदाय में विशिष्ट शक्ति अथवा अर्थवत्ता होती ही है ।

1- समासे शक्त्यस्वीकारे शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणायाप्य -
सम्भवेन लाक्षाणिकार्थवत्वस्याप्य सम्भवेन सर्वथा-
प्रातिपदिकत्वाभाव एव निश्चितः स्याद् । प॰ल॰म॰ समासादिवृत्य॰

2- समासोऽर्थवान् प्रातिपदिकत्वात् । यत् न अर्थवत् तन्न प्रातिपदिकम् । प॰ल॰म॰ समासादिवृत्यर्थ - विचार

व्यपेक्षावादी आचार्यों की मान्यताएं 'पदार्थ पदार्थ से अन्वित होता है पदार्थ के एक देश से नहीं' तथा 'विशेषण सहित का समास नहीं होता एवं समास-युक्त प्रयोग का विशेषण से सम्बन्ध नहीं होता' एकार्थीभाव पक्ष की स्वतःसिद्ध बातों के ही कहने वाली हैं। वस्तुतः समस्त पद राजपुरुषः के अवयव राज्ञः तथा पुरुषः के अर्थ 'राजपुरुषः' इस विशिष्ट समुदाय के अर्थ में एकीभूत हो गये हैं। इसलिये अनर्थक होने के कारण, बिना किसी नियम का आश्रय लिये स्वतः ऋद्धस्य जैसे विशेषण राज्ञः जैसे अवयवभूत पदों के साथ नहीं लगाये जा सकते। इसी का कथन व्यपेक्षावादियों ने अनेकशः किया है जो कि समास के एकार्थीभाव सामर्थ्य के नियम का पिष्टपेषण ही है। वस्तुतः व्यपेक्षावादियों को अपने पक्ष के दूषणों को दूर करने के लिये ऐसे अनेक अपूर्व नियम बनाने पड़ेंगे जो एकार्थीभाव में स्वभावतः सिद्ध है।

व्यपेक्षावादियों का मान्य नियम 'प्रत्यय समीपस्थ पदार्थ से मिलकर स्वार्थ का बोध कराते हैं'[1] यह मत भी ठीक न होकर भ्रममूलक है। क्योंकि यदि नियम का यही रूप माना जाय तो उसमें व्यभिचार दोष आता है उपकुम्भम्, अर्धपिप्पली, पूर्वकाय इत्यादि समस्त पद के प्रयोगों में विग्रह वाक्य है - कुम्भस्य समीपम्, पिप्पल्याः अर्धम् तथा कायस्य पूर्वम्। स्पष्ट है कि यहाँ षष्ठी विभक्ति के अर्थ सम्बन्ध का अन्वय समस्त प्रयोग उपकुम्भम् अर्धपिप्पली तथा पूर्वकाय के पूर्वपद में विद्यमान उप, अर्ध तथा पूर्व के अर्थ में होता है जो अव्यवहित पूर्व में नह होकर क्रमशः कुम्भ तथा पिप्पली से व्यवहित है। इसलिये इन प्रयोगों में व्यवधान युक्त पद के अर्थ में विभक्त्यर्थ का अन्वय होने के कारण नियमभंग या दूसरे शब्दों में व्यभिचार दोष है।[2]

1- प्रत्ययानां सन्निहित पदार्थगत स्वार्थ बोधकत्व व्युत्पत्तिः।

2- यत्तु सन्निहित पदार्थगत स्वार्थ बोधकत्व
व्युत्पत्तिर् एव कल्प्यते इति तन्न। उपकुम्भम्
अर्धपिप्पली इत्यादौ पूर्व पदार्थे विभक्त्यर्थान्वयेन व्यभिचारात्। वै॰भू॰सार

वस्तुत: प्रत्यय प्रकृत्यर्थ से अन्वित स्वार्थ के बोधक होते हैं ।[1] यही नियम ठीक है । एकार्थीभाव में समस्त प्रकृति का विशिष्ट अर्थ होता है, उसी के साथ अन्वित होकर विभक्ति अपना अर्थ बोध कराती है ।[2]

व्यपेक्षावादी आचार्य समस्त पदों के अर्थ बोध के लिये समास में विशिष्ट शक्ति न मान कर उसका अर्थबोध लक्षणा के माध्यम से करते हैं । किन्तु लक्षणा से सर्वत्र कार्य न हो सकने के कारण समस्त पदों का अर्थ बोध भी लक्षणा के माध्यम से सम्भव नहीं है । राजपुरुष: इस समस्त पद में राज्ञ: पद का अर्थ लक्षणा के माध्यम से भी 'सम्बन्धवान्' नहीं हो सकता, क्योंकि व्यपेक्षावाद में वाक्यार्थ ही समासार्थ होता है ।[3] राजपुरुष: पद का वाक्यार्थ राज्ञ: पुरुष: (राजा का पुरुष) है । इसलिये लक्षणा से राज्ञ: पदगत षष्ठी विभक्ति से सम्बन्ध अर्थ का ही बोध हो सकता है । परन्तु केवल सम्बन्ध में लक्षणा मानने से भी काम नहीं चल सकता क्योंकि सम्बन्ध में लक्षणा करने पर 'राज सम्बन्ध रूप पुरुष' ऐसा असंगत प्राप्त होने लगेगा ।

1- प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थ बोधकत्वम् । प०ल०म० समासादिवृ०

2- प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थ बोधकत्व व्युत्पत्ते: ।
विशिष्टोत्तरम् एव प्रत्ययोत्पत्ते: । विशिष्टस्यैव प्रकृतित्वर्ति । प०ल०म०
समासदिवृत्यर्थविचार

3- राजपुरुष इत्यादिकस्तु तत्पुरुषो न पुरुषे पूर्वपद लक्षितसम्बन्धिन:
तादात्म्येनान्वयबोधक: समासविग्रहयोस्तुल्यार्थकत्व हान्यापत्ते: परन्तु -
राजसम्बन्धस्यैव । अतएव राजपुरुष इत्यादौ पूर्वपदे षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध
लक्षणा इति मणिकृदुक्तमपि संगच्छते । श०श०प्र०का० 34

व्यपेक्षावादी आचार्यों ने 'चित्रगु' जैसे समस्त पदों के अर्थबोध के लिये भी लक्षणा का आश्रय लिया है। परन्तु इस लक्षणा को लेकर इन व्यपेक्षावादी आचार्यों में मतैक्य नहीं है। कुछ आचार्य चित्रगु इस समुदाय की लक्षणा मानते हैं। दूसरे चित्रपद की लक्षणा मानकर गोपद को केवल तात्पर्यग्राहक मानते हैं। तीसरे आचार्य गो पद में लक्षणा मानते हैं तथा चित्र पद को तात्पर्यग्राहक बताते हैं। अन्य आचार्य गोपद से लक्षणा द्वारा 'स्वगो सम्बन्धी' यह अर्थ निकालते हैं तथा इस अर्थ के एक देश गोपद के अर्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध से चित्र पद का अन्वय मानते हैं।[1]

व्यपेक्षासामर्थ्यवादी आचार्यों के इस मतभेद से यही सिद्ध होता है कि लक्षणा का उपाय सरल नहीं है समास में शक्ति मानना ही उचित है। इसी को दृष्टि में रखकर कौण्डभट्ट ने कहा है कि षष्ठ्यर्थ एवं सदाम्यर्थ बहुव्रीहि में किसी

---

1 (अ) (क) चित्रगुरस्तीत्यादौ चित्राभिन्नस्वगोसम्बन्धिप्रभृतीनां प्रतीत्यर्थं न चित्रगु समुदायस्य लक्षणा।

(ख) चित्रपदमेव तत्र चित्राभिन्न गोसम्बन्धि लक्षकम्, गोपदं तु तादृष्यार्थे तात्पर्यग्राहकम्, लक्षणाया निरूढत्वसम्पादकं वा।

(ग) गोपदमेव तादृशगोसम्बन्धिलक्षकम्, चित्रपदं तु तात्पर्यादिग्राहकम्।

(घ) चित्रगुरित्यत्र गोपदं स्वगोसम्बन्धि लक्षकम्, तदेकदेशेच गदि तादात्म्येन। चित्रपदस्य अन्वयः। श॰श॰प्र॰का॰ 43

(ब) चित्रगुरित्यादिषु चित्रगोस्वाम्यादि प्रतीतिर्निबिना शक्तिमुपपद्यते। न च तम लक्षणा। सा हि न चित्रपदे। चित्रस्वामी गौरिति बोधापत्तेः। नापि गोपदे। गोः स्वामी चित्र इत्यन्वय बोधापत्तेः। चित्रादिमात्रस्य लक्ष्यैकदेशत्वेन तत्र गवादेरन्वयायोगात। न च चित्राभिन्न गौरिति शक्त्युपस्थाप्ययोरन्वयबोधोत्तरं तादृश गोस्वामी गोपदेन लक्ष्यत इति वाच्यम् गोपदस्य चित्रपदस्य वा विनिगमनाविरहेण लक्षकत्वा संभवात। वै॰भू॰सार का 34

प्रकार लक्षणा से काम हो भी जायेगा परन्तु द्वितीयार्थक बहुव्रीह में 'प्राप्तोदक: ग्राम:' आदि के अर्थबोधन के लिये अनेक क्लिष्ट कल्पनायें करनी पड़ेगी तथा अनेक प्रचलित सिद्धान्तों को छोड़ना पड़ेगा ।[1] अत: अकल्पित की कल्पना और कल्पित व्युत्पत्ति के त्याग की अपेक्षा समस्त पदों में शक्ति की कल्पना ही उचित है ।[2] प्राप्तोदक: इस पद का विग्रह है 'प्राप्तं उदकं यं स:' यहां पर समासार्थ द्वितीयार्थक अन्य पदार्थ का बोधक है । अत: 'ग्रामकर्मक प्राप्तिकर्तृक अभिन्न उदक' यह विग्रह का अर्थ है । परन्तु समस्त पद का अर्थ है - उदक कर्तृक प्राप्तिकर्मीभूतग्राम । इस अर्थ की सिद्धि के लिये उदक पद का लक्षणा द्वारा उदक सम्बन्धी अर्थ मानने पर भी अभीष्ट समासार्थ सिद्ध नहीं होता । इसके लिये 'प्राप्त' इस कर्तर्थक प्रत्ययान्त पद को कमार्थक मानना पड़ता है । परन्तु समान विभक्तिक नामार्थों का अभेद संसर्ग होता है । इसलिये उदकम् और प्राप्तम् पदों का 'उदकाभिन्न प्राप्तिकर्म' यह अर्थ होगा । यदि उदककर्तृक प्राप्तकर्मक ग्राम ऐसा अर्थ करेंगे, तो नाम और एर्थ का अभेद अन्वय होता है, यह नियम बाधित हो जाता है । इसलिये इन पदों का अर्थ बोध लक्षणा के माध्यम से करना उचित नहीं हो वरन् समास में अतिरिक्त शक्ति मानना ही ठीक है ।

व्यपेक्षावादी आचार्य समस्त पदों तथा उनके विग्रह वाक्यों को समान अर्थ वाला मानते हैं किन्तु व्यवहार में कभी -कभी ऐसा नहीं पाया जाता । यथा- 'रथन्तर' शब्द के विग्रह वाक्य 'रथेन तरति' {रथ + तृ + खच्} से 'रथिक' अर्थ का बोध होता है, इसलिये 'रथन्तर' शब्द से भी 'सामविशेष' के साथ-साथ 'रथिक' अर्थ का भी बोध होना चाहिये किन्तु 'रथिक' अर्थ का बोध नहीं होता । 'रूढ़िर् योगार्थम् अपहरति' इस न्याय के अनुसार रूढ़ि शब्द के यौगिक अर्थ का बाध कर देती है ।

1- अषष्ठ्यर्थ बहुव्रीहौ व्युत्पत्त्यन्तरकल्पना ।
क्लृप्तत्यागश्चास्ति तत्तत् किं शक्तिं न कल्पये: ।। वै॰भू॰सार: 34

2- अक्लृप्तकल्पनां क्लृप्तव्युत्पति यागं चावेक्ष्य
समुदाय शक्तिकल्पनस्यैव युक्तत्वादिति दिति । वै॰भू॰सार॰ का॰ 34 की टीका

फलस्वरूप 'रथन्तर' शब्द की 'सामविशेष' अर्थ में प्रसिद्धि होने के कारण उसका यौगिक अर्थ 'रथिक' बाधित हो जाता है । अतः समस्तपद एवं उसके विग्रह वाक्य को समानार्थक नहीं माना जा सकता । समस्त पदों में विशिष्ट शक्ति की विद्यमानता होने के कारण ही वे विग्रह वाक्यों से भिन्न विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ होते हैं ।

'पंकज' शब्द के अर्थबोध के सन्दर्भ में भी व्यपेक्षावादी आचार्यों की मान्यता है कि इस पद का अर्थ बोध {पङ्• + जन + ड} पङ्• में उत्पन्न होने वाला रूप अवयवार्थों के माध्यम से ही होता है, समुदाय में विशिष्ट शक्ति होने की मान्यता के कारण 'पंकज' शब्द के श्रवण मात्र से कमल पुष्प विशेष का बोध नहीं होता । पंकज शब्द के प्रयोग करने पर अवयवार्थ का ज्ञान होता ही है । इसलिये अवयव में ही अर्थाभिधान की शक्ति मानी जानी चाहिए - विशिष्ट समुदाय में नहीं । किन्तु यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि व्यवहार में हम देखते हैं कि पंकज शब्द से उसके अवयवार्थ 'पंक से उत्पन्न होने वाला' समस्त पंक से उत्पन्न अर्थों को न अभिव्यक्त कर[1] 'कमल' अर्थ में रूढ़ है । अतः मात्र 'कमल' अर्थ का ही बोध कराने के कारण यह मानना पड़ता है कि समुदाय में विशिष्ट शक्ति होती है जिसके माध्यम से समस्त पद विशिष्टार्थ का बोध कराते हैं । साथ ही उक्त उपपन्न प्रश्न व्यपेक्षावादी आचार्यों द्वारा समास को 'जहत्स्वार्थावृत्ति' तक सीमित कर देने के कारण ही उठता है, जबकि समस्त पदों का क्षेत्र जहत्स्वार्था वृत्ति के साथ ही साथ अजहत्स्वार्थावृत्ति के क्षेत्र को भी व्याप्त करता है । अतः इस प्रकार के प्रश्नों की उपस्थापना के लिये अवकाश ही नहीं होता ।

1- पङ्•कजशब्दे योगार्थस्वीकारे शैवालादेरपि प्रत्ययःस्यात् ---------
- - - - तु एकार्थीभावस्वीकाराद् अवयवार्थभावाद् विशेषणाद्ययोगो न्यायसिद्धः ।

इस प्रकार समासों में एकार्थीभाव सामर्थ्य मानने वाले वैयाकरण आचार्य नागेश भट्ट तथा कौण्ड भट्ट व्यपेक्षावादी नैयायिक तथा मीमांसकों के व्यपेक्षा विषयक सिद्धान्त का खंडन कर समस्त पदों के अर्थबोध के लिये समासों में विशिष्ट शक्ति की विद्यमानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं । वाक्यपदीयकार भर्तृहरि इसी सिद्धान्त की स्थापना करते हुए कहते हैं - समासों में पंकज शब्द की भाँति विशिष्ट शक्ति होती है, क्योंकि वृत्तियों के अनेक धर्मों को वचनों के द्वारा सिद्ध करने में बहुत बड़ा गौरव (विस्तार) होगा । अतः एकार्थीभाव सामर्थ्य मानना ही श्रेयस्कर है ।[1]

एकार्थीभाव सामर्थ्यवाद

वैयाकरण आचार्यों ने महर्षि पाणिनि के सूत्र 'समर्थः पदविधिः 2·1·1' पद भाष्यकार पतंजलि द्वारा स्थापित व्यपेक्षा एवं एकार्थीभाव सामर्थ्य युग्म के एक देशी सामर्थ्य एकार्थीभाव को ही समासों में स्वीकार किया है । महर्षि पतंजलि ने स्वयं व्यपेक्षा एवं एकार्थीभाव दोनों पक्षों को प्रतिपादित कर 'समस्त पदों में एकार्थी-भाव सामर्थ्य ही है'[2] यह मत स्थापित किया है । जहाँ पदों का मुख्य अर्थ गौण हो जाता है अथवा किसी दूसरे प्रधान अर्थ का बोधक होने के कारण निवृत्त हो जाता है, वहाँ एकार्थीभाव सामर्थ्य होता है ।[3] इसका तात्पर्य यह है कि वैयाकरण आचार्यों के मतानुसार समास में उसके पदों का पृथक्-पृथक् कोई अर्थ नहीं होता, केवल समुदाय का ही अर्थ होता है । समास में एकार्थीभाव सामर्थ्य होने के कारण समस्त पदों में तत्तदपदार्थ भिन्न विशिष्ट अर्थ की अववोधक विशिष्ट शक्ति होती है जिस कारण समस्त पद विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करते हैं । वस्तुतः 'समस्त पद' मूल प्रकृति

1- समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पङ्कज शब्दवत् ।
बहूनां वृत्ति धर्माणां वचनैर एव साधने ।
स्यान् महद् गौरवंतस्माद् एकार्थीभाव आश्रितः । वै·भू·सार· समासशक्ति निर्णय का·4

2- तत्रेदमपरं द्वैतं भवति - एकार्थीभावो वा सामर्थ्यं व्यपेक्षावेति ।- - - - एकार्थीभावः सामर्थ्यम् । महाभाष्य 2·1·1

3- यत्र पदान्युपसर्जनीभूत स्वार्थानि निवृत्त स्वार्थानि वा प्रधानार्थोपादानाद् व्यर्थानि, अर्थान्तरभिधायिनि वा सः एकार्थीभावः ।
(प्रदीपभाष्य - 2·1·1)

है, अखण्ड है । इन्हें अवयवों का समूह कहना उचित नहीं है । क्योंकि यदि ये संयुक्त पदों के समूह होते तो उक्त पदों के समूह एवं उक्त समस्त पदों में अर्थ साम्य होता किन्तु अवयव साम्य होने पर भी समास एवं वाक्य के अर्थों में भेद होता है, अतः समास पदों का समूह मात्र नहीं है, उनमें पदों के समूह के अतिरिक्त भी कुछ है जिसके कारण वे विशिष्ट शैक्ति का प्रतिपादन करते हैं ।

समस्त पदों में विद्यमान रहने वाले एकार्थीभाव सामर्थ्य को स्पष्ट करते हुए वैयाकरण आचार्य भर्तृहरि, भट्टोजिदीक्षित् कौण्डभट्ट तथा नागेश भट्ट ने 'समास में विशिष्ट शक्ति होती है ।' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । आचार्य भर्तृहरि समस्त पदों को अखण्ड मानते हैं । उनका कहना है कि जब 'डित्थ' और 'पाचक' रूप संज्ञा पदों में धातु कल्पना पूर्णतया अव्यावहारिक तथा विशुद्ध कल्पना मात्र है । तब किसी समस्त पद में अलग-अलग पदों की भागों के रूप में कल्पना अथवा उनमें कुछ अविद्यमान पदों की कल्पना को कैसे उचित ठहराया जा सकता है । अर्थात् समस्त पदों को विभाजित कर उनमें अवयव कल्पना नहीं की जा सकती है ।[1] वस्तुतः यदि कोई पद समास रूप में प्रयुक्त है, तब स्वभावतः उसके तथा कथित अवयवों या खण्डों में विभक्ति वचनादि का कथन वक्ता को अभिप्रेत नहीं हो, यदि उसे ऐसा मान्य होता तो उसका प्रयोग विच्छिन्न रूप में ही होता न कि समस्त रूप में । समस्त पद के अवयवों में प्रत्ययों को लुप्त मानकर उनके द्वारा प्रतीयमान विभक्तिवचनादि को कल्पित करना समस्त पदों के स्वरूप की दृष्टि से समीचीन नहीं है । वस्तुतः समस्त पद एवं उसके अर्थ का बोध कराने वाला वाक्य दो भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं, उनमें कोई साम्य नहीं है । साम्य की कल्पना करना भ्रममात्र है । भर्तृहरि का कहना है कि अर्थ बुद्धि का विषय है बुद्धि उसे सहज और समग्र रूप में ही ग्रहण करती है ।सुविधा की दृष्टि

1- यथैव डित्थे ड्यतिः पाचके पचतिस्तथा ।
ड्यतिश्च पचतिश्चैव द्वावप्येताव लौकिकौ ।। वाक्य पदीय वृ.स.का. 77

से व्याख्याता लोग व्याख्या काल में उसे विभक्त कर 'पूरी तरह' देखने का प्रयास करते हैं, लोग इसी भेद को ही वास्तविक मान लेते हैं तथा समास 'एक पद' को विभक्त समझ लेते हैं,[1] जो उचित नहीं हैं। समास विभाजन की इस प्रक्रिया को असंगत बताते हुए भर्तृहरि ने समस्त पदों का विग्रह करके अर्थ बोध करना केवल अबोध व्यक्तियों का कार्य बताया है।[2] भर्तृहरि की यह मान्यता उन आचार्यों के सिद्धान्त को खण्डित कर देती है जो यह मानते हैं कि 'व्यपेक्षा सामर्थ्य में वाक्य तथा एकार्थीभाव सामर्थ्य में समास होता है। क्योंकि वाक्य और समास एक न होकर पृथक् पृथक् हैं। भाष्यकार पतंजलि ने महाभाष्य में पूर्वपक्ष के रूप में प्रतिपादित किया है कि वाक्य में परस्पर अन्वय की अपेक्षा रखते हुए भिन्नार्थक पद समास में एकार्थीभाव सामर्थ्य से एकीभूत होकर अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं।[3] परन्तु सिद्धान्त पक्ष में इस पूर्व पक्ष का खण्डन करते हुए 'समास में विशिष्ट शक्ति है' इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया है। क्योंकि शब्द स्वभावतः अर्थ का बोध कराने वाला होता है अतः समास में शास्त्रजन्य विभाग कल्पना अर्थ - स्पष्टता के नाम पर, वास्तविकता से बहुत दूर, अपनाया गया उपाय मात्र है। आचार्य भर्तृहरि तथा कैय्यट प्रतिपत्ता के उपायों को ही असत्य मानते हैं।[4]

1- अनुस्यूतेव संसृष्टैरर्थे बुद्धिः प्रवर्तते। व्याख्यातारो विभज्याथ तरं भेदेन प्रचक्षते।।
तदात्मन्य विभक्ते च बुद्धयन्तरमुपाश्रिताः। विभागमिव मन्यन्ते विशेषण विशेष्ययोः।।
वा॰प॰वृ॰स॰कारि॰92,93

2- अबुधान् प्रत्युपायाश्च विचित्राः प्रतिपत्तये
शब्दान्तरत्वादत्यन्तं भेदो वाक्यसमासयोः। वा॰प॰वृ॰स॰कारि॰ 49

3- {अ} पृथगर्थानामेकार्थीभावः समर्थवचनम्। वाक्ये पृथगार्थानि। समासे पुनरेकार्थानि। महाभाष्य 2॰1॰1॰
{ब} व्यवस्थित विभाषा च सामान्ये कैश्चिदिष्यते।
तथा वाक्य व्यपेक्षायां समासोऽन्यत्र शिष्यते।। वा॰प॰वृ॰स॰का॰ 45

4- {अ} अविप्रयोगः साधुत्वे व्युत्पत्तिरनवस्थिता। उपायान् प्रतिपत्तॄणां नाभिमन्येत सत्यतः।।
वा॰प॰वृ॰स॰ 76
{ब} साधुत्वे विषये विविधप्रयोगो नानाविधं प्रतिपादनं नास्ति, स्थितलक्षणस्य शब्दस्योपेयस्योपायभेदेऽप्येकरूपत्वात्। उपाया हि प्रतिपादनाङ्गभूताः प्राप्तावुपेयस्य चरितार्थत्वात् तिरोभवन्तीति न तेषु सत्यताभिमानः कार्यः।
वृ॰स॰कारिक 76 हेलराज की टीका

व्यपेक्षावादी आचार्यों की मान्यता के विपरीत एकार्थीभाव सामर्थ्यवादी वैयाकरण आचार्य समस्त पदों में एकार्थीभाव सामर्थ्य को स्वीकार करते हुए समासों में जहत्स्वार्था एवं अजहत्स्वार्था दोनों ही वृत्तियों को स्वीकार करते हैं । जैसे रथन्तर पद में रथ और तर पद अपने मुख्य अर्थ 'वाहन और तैरने वालों' का परित्याग कर सर्वथा नवीन अर्थ 'सामविशेष' का बोध कराते हैं । इसी प्रकार 'राजपुरूष' आदि समस्त पदों में राज्ञः एवं पुरूषः पदों का प्रत्किं चत् अर्थ 'राज सम्बन्धवान पुरूष' इस एकार्थीभूत अर्थ में भी विद्यमान रहता है । दोनों ही स्थितियों में एकार्थीभाव सामर्थ्य होने के कारण समास प्राप्त है । शब्दशक्तिवादी आचार्य इन्हीं दोनों मतों को जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था के नाम से स्वीकार करते हैं । जहाँ पद अपने अर्थ का परित्याग कर देते हैं वहाँ जहत्स्वार्था वृत्ति होती है, जहाँ पर पद अपने अवयवों के अर्थ का सर्वथा परित्याग नहीं करते [1] वहाँ अजहत्स्वार्था वृत्ति होती है ।[2] रथन्तर तथा राजपुरूषः क्रमशः जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्थावृत्ति के उदाहरण हैं । इन दोनों पक्षों को उपस्थित करके महाभाष्यकार पतंजलि ने 'एकार्थीभाव सामर्थ्य में ही समास है'[3] यह पक्ष उपस्थित किया है । इसका तात्पर्य यह है कि समास में पदों का कोई अर्थ नहीं होता । केवल समुदाय का ही अर्थ होता है । राजपुरूषः, रथन्तरम् आदि स्वतन्त्र प्रकृति है । इन्हें अवयवों का समूह कहना असंगत है । साथ ही समस्त पद विशिष्ट शक्ति की विद्यमानता के कारण विशिष्टार्थ के अवबोधक हैं ।

1- (अ) जहति पदानि स्वार्थं यस्या सा जहत्स्वार्था । कैयट महाभाष्य 2·1·1

(ब) जहति स्वार्थमुपसर्जनपदानि यस्या सा जहत्स्वार्था । हेलाराज वृ·स· 44

(स) जहति स्वानि पदानि यमिति जहत्स्वः, जहत्स्वोऽर्थो यस्या सेत्यर्थ इत्यन्ये । नागेश म·भा· 2·1·1

(द) अवयवार्थ निरपेक्षत्वे सति समुदायार्थबोधिकात्वं जहत्स्वार्थात्वम् । प·ल·म·समास

2- (अ) तद्विपरीता जहत्स्वार्था विपरीता अजहत्स्वार्था । हेलाराज वृ 44

(ब) अवयवार्थ संवलितसमुदायार्थ बोधिकात्वमजहत्स्वार्थात्वम् । प·ल·म· समास

3- एकार्थीभावः सामर्थ्यम् । महाभाष्य 2·1·1

वैयाकरण आचार्यों की मान्यता है कि शब्द अर्थ का अभिधान स्वत: करता है। वे शब्दों के अर्थ प्रतिपादन में किसी वाह्य सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। भाष्यकार पतंजलि का स्पष्ट कथन है कि वैयाकरण शब्द में पूर्व प्रचलित अर्थ का निर्देश मात्र रहता है, किसकी शक्ति है जो शब्द में धातु प्रातिपदिक, प्रत्यय और नियमों के अर्थ का विधान करे।[1]

जो आचार्य यह मानते हैं कि व्यपेक्षा में वाक्य तथा एकार्थीभाव विवक्षा में समास होता है उनकी यह मान्यता भी वाक्य तथा समासों में एकरूपता की स्थापना न कर उनके पृथक् पृथक् अस्तित्व को सिद्ध करती है। क्यों कि ऐसा मानने पर एकार्थी-भाव विवक्षा में समास के लिये पदों के एकीभूत होने पर 'जहत्स्वार्था' वृत्ति को मान्यता मिलती है, जिसके अनुसार पद अपने अर्थ का परित्याग कर सामूहिक रूप से 'समस्तवाद' के अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। जिससे प्रमाणित होता है कि समास में विशिष्ट शक्ति होती है।[2]

भाष्यकार पतंजलि ने सामर्थ्य के एकदेशी के रूप में व्यपेक्षा सामर्थ्य का समर्थन किया है। पदों के अर्थों की परस्पर आकांक्षा ही व्यपेक्षा है।[3] कुछ आचार्य भेद को सामर्थ्य कहते हैं। भेद को सामर्थ्य मानने पर राजपुरुष: पद का अर्थ 'अराजकीय भिन्न पुरुष' है। दूसरे आचार्य संसर्ग को सामर्थ्य मानकर राजपुरुष: पद का अर्थ 'राजसम्बन्धवान पुरुष' करते हैं और कुछ समन्वयवादी आचार्य भेद और संसर्ग दोनों

1- अथैतस्मिन्नेकार्थीभावकृते विशेषे किं स्वाभाविकं शब्दैरर्थाभिधानम्, आहोस्विद् वाचनिकम्। स्वाभाविकमर्थानादेशात्। असम्भव: खल्वप्यर्थानादेशस्य। को हि नाम समर्थो धातुप्रातिपदिक प्रत्यय नियातानामर्था नादेष्टुम्। म०भा० 2·1·1

2- अथ ये वृत्तिं वर्तयन्ति किं त आहु:। परार्थाभिधानं वृत्तिरित्याहु:। अथ तेषामेवं ब्रुवतां किं जहत्स्वार्था वृत्तिर्भवति, आहोस्विद जहत्स्वार्था। जहत्स्वार्था। महाभाष्य 2·1·1

3- परस्पराकांक्षारूपा व्यपेक्षा (कैयट महाभाष्य 2·1·1

को सामर्थ्य मानकर राजपुरूषः पद से 'अराजकीय भिन्न और राजसम्बन्धवान पुरूष' अर्थ करते हैं। व्यपेक्षावादी आचार्य भी समास में समुदाय के अर्थ कोमुख्य तथा अवयवार्थ को गौण मानते हैं। इसीलिये समास के अवयवों से विशेषण और विभक्ति आदि का प्रयोग नहीं होता। क्योंकि राजपुरूष पद में 'राज' पद का अर्थ अवयवार्थ है, समुदायार्थ नहीं।[1] परन्तु इस पक्ष का प्रतिपादन करने के साथ ही इसमें विद्यमान दोषों का प्रत्यक्ष कराकर इस व्यपेक्षा पक्ष को अयुक्त ठहराते हैं। क्योंकि समस्त पदों में विशिष्ट शक्ति मानने पर अवयवातिरिक्त अर्थ भी समुदायार्थ हो सकता है जब कि व्यपेक्षा पक्ष में ऐसा सम्भव नहीं। 'रथन्तर' आदि समस्त पद इसी स्थिति के उदाहरण हैं। वहाँ व्यपेक्षा पक्ष में ऐसे अर्थ का विधान करना पड़ता है जो व्यपेक्षा पक्ष में स्वतः सिद्ध है।[2] कैयट और नागेश ने भाष्य का आशय स्पष्ट करते हुये कहा है कि निष्कौशाम्बिः में क्रान्त अर्थ, गोरथः में युक्त अर्थ, घृतघटः में पूर्ण अर्थ, गुडधानाः में मिश्र अर्थ, केशचूडः में संघात अर्थ, सुवर्णालंकार में विकार अर्थ द्विदशा में आवृत्त अर्थ, सप्तवर्णाः में सप्त अर्थ तथा गोरखरः में जाति अर्थ का विशेष विधान करना पड़ेगा।[3] जब कि

1- अथवा पुनरस्त्वजहत्स्वार्था वृत्तिः। संघातस्यैकार्थान्नावयवसंख्यातः सुबुत्पत्तिः। परस्परव्यपेक्षां सामर्थ्यमेके। सामर्थ्यनाम भेदः संसर्गो वा। भेद संसर्गौ वा सामर्थ्यमिति
महाभाष्य 2·1·1

2- अथैतस्मिन् व्यपेक्षायां सामर्थ्ये योऽसावेकार्थीभावकृतो विशेषः से वक्तव्यः।
महाभाष्य 2·1·1

3 - तथा निष्कौशाम्बिः, गोरथो, घृतघटो, गुडधानाः, केशचूडः, सुवर्णालंकारो, द्विदशः, सप्तपर्णा इत्यादावितरेतर योग-अतिक्रान्त-युक्त-पूर्ण-मिश्र संघात - विकार-सुच्प्रत्यय लोपो वीप्साद्यर्थो वाचनि को वाच्य इत्यति गौरवंस्यादिति।
वै·भू·का· 32

एकार्थीभाव या समास पक्ष में विशेष शक्ति मानने पर इन अर्थों के विधान की कोई आवश्यकता नहीं होगी क्योंकि समास पक्ष में ये विशेष प्रकृति है, अखण्ड है अत: इनका विशेष अर्थ होता है ।[1]

समस्त पदों के अखण्ड तथा मूल प्रकृति होने के कारण उनका विशेष अर्थ होता है अत: किसी भी समस्त पद के एक अवयव के साथ विशेषण नहीं लगाया जा सकता । वस्तुत: न तो सविशेषण पदों का समास ही होता है और न तो समस्त पद के एक अवयव का विशेषण के साथ योग ही होता है । क्योंकि व्यवहार या भाषा में ऋद्धस्य राजपुरूष: जैसे विशेषण युक्त समास का प्रयोग ही नहीं होता है ।[2]

देवदत्तस्य गुरूकुलम् देवदत्तस्य गुरूपुत्रं, देवदत्तस्य दासभार्या इत्यादि में लोक सम्मत प्रयोग होने के कारण सम्बन्धवाचक शब्दों के विद्यमान रहने पर समस्त पदों के साथ विशेषण का प्रयोग किया जा सकता है । इसका कारण यह है कि गुरू, शिष्य, पिता, माता आदि शब्दों का अर्थ सम्बन्ध सापेक्ष ही है ।[3] क्यों कि गुरू

1-(अ) तथाहि निष्कौशाम्बिर्गोरथो घृतघतो गुडधाना: केशचूड: सुवर्णालंकारो द्विदशा: सप्तपर्णो गौरखर इत्यादिषु क्रान्त युक्त पूर्ण मिश्र संघात विकार सुच्प्रत्ययलोपो वीप्सा जाति विशेषाभिधायित्वं च वचनप्रतिपाद्यम् । नित्यदर्शने त्वेकार्थीभावकृत एवायं विशेष इति न किंचित् प्रतिपादनीयम् एवं व्यपेक्षा सामर्थ्ये दोषमभिधायदानीं ये सर्वथा दोषास्तानुदाहरति । कैयट म०भा० 2•1•1

(ब) अथ एतस्मिन् व्यपेक्षायां सामर्थ्ये योऽसौ - 'एकार्थीभाव' कृतो विशेष: स वक्तव्य: 'इत्युक्तम । 'धवखदिरौ' निष्कौशाम्बि: गोरथ:, घृतघट: गुडधाना: केशचूड: सुवर्णालंकार: द्विदशा: सप्तपर्णा: इत्यादौ साहित्य क्रान्त, युक्त पूर्ण मिश्र संघात विकार सुच्प्रत्ययलोप वीप्सा - आद्यर्थो वाचनिका वाच्या: ' इति तद् भाष्याशय: । नागेशभट्ट (प०ल०म० समासादिवृत्यर्थ विचार)

2-(अ) तत्तर्हि वक्तव्यं सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणं न प्रयुज्यते गुरूकुल पुत्रादीनामिति । न वक्तव्यम् । वृत्तिस्तर्हि कस्मान्न भवति । अगमकत्वात् । महाभाष्य 2•1•1

(ब) तुल्यश्रुतित्वात् तत्त्वेऽपि राजादीनामुपश्रिते ।
वृत्तौ विशेषणाकांक्षाऽगम कत्वान्निवर्तते । वा०प०वृ०स० 46

3- हि केचिच्छब्दा: स्वार्थमितरापेक्षनान्तरीयकम भिदधाना: सम्बन्धिशब्द: उच्यन्ते । तद्यथा गुरूशिष्यपितृपुत्रमातृभ्रातादय: । हेलाराज वृ०स० 46

गुरु कहलाने के लिये किसी न किसी की अपेक्षा अवश्य रखता है, बिना किसी अन्य {शिष्य} के गुरु गुरु नहीं हो सकता । इसी प्रकार अन्य सम्बन्ध वाचक शब्दों को भी तत्सम्बन्धी पद की नित्य अपेक्षा रहती है । गुरु का अर्थ शिष्य का गुरु तथा शिष्य का अर्थ गुरु का शिष्य स्वभावत: सिद्ध है । अत: इन शब्दों की सम्बन्ध सापेक्षता समास में भी समाप्त नहीं होती है ।[1] समस्त पदों के सन्दर्भ में भी इन सम्बन्ध वाचक पदों की आवश्यकता अनुभव की जाती है; फलस्वरूप समस्त पद से विशेषण सम्बन्धवाचक पद का योग हो जाता है ।

द्वन्द्व समास के घटपटौ इत्यादि उदाहरणों के विग्रह वाक्य 'घटश्च पटश्च' में सदैव 'च' की विद्यमानता बनी रहती है । समास में एकार्थीभाव सामर्थ्य को न स्वीकार करने वाले व्यपेक्षावादी आचार्यों को द्वन्द्व समास में 'च' की निवृत्ति का प्रयत्न करना पड़ता है, जो कि व्यर्थ का श्रम होता है जबकि एकार्थीभाव सामर्थ्य में उसकी कोई समस्या ही नहीं पैदा होती, अत: इस प्रकार के उदाहरणों में एकार्थी-भाव सामर्थ्य ही सहजग्राह्य है । इसी प्रकार 'प्राप्तोदको ग्राम: ' - प्राप्तमुदकं यं स: प्राप्तोदको ग्राम: जैसे प्रयोगों की सिद्धि के लिये व्यपेक्षा पक्ष में लक्षणा के आश्रय के लिये अनेक कल्पना में करनी पड़ती है, क्योंकि वहाँ पर सीधे लक्षणा नहीं हो सकती, अत: ऐसे समस्त प्रयोगों में भी लक्षणा की कल्पना करना व्यर्थ का प्रयत्न है । वस्तुत: समास में एकार्थीभाव मानना ही न्याय संगत है क्योंकि 'उक्तार्थानाम् अप्रयोग: ' इस न्याय के अनुसार च, इव आदि के प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं रहती, एकार्थीभाव सामर्थ्य के बल पर समास में यह स्वत: सिद्ध है ।[2]

1- सम्बन्धिशब्द: सापेक्षो नित्यं सर्व: समस्यते ।
स्वार्थवत् सा व्यपेक्षास्य वृत्तावपि न हीयते ।।
समुदायेन सम्बन्धो येषां गुरुकुलादिना ।
संस्पृश्यावयवांस्ते च युज्यन्ते तद्वतासह ।। वा॰प॰वृ॰स॰ कारिका 47, 48

2- चकारादि निषेधोऽथ बहुव्युत्पत्तिभंजनम् ।
कर्तव्यं ते न्यायसिद्धं त्वस्माकं तदिति स्थिति: । वै॰भू॰ 33 वीं कारिका

अत: समास में एकार्थीभाव सामर्थ्य मानना ही उचित है क्योंकि एकार्थीभाव सामर्थ्य के मानने से समस्त पदों में विशिष्ट शक्ति की विद्यमानता से समस्त पद विशिष्टार्थ बोध कराने में सक्षम हो जाते हैं । विशिष्टार्थ के अवबोधक होने के कारण ही समस्त पद पंकज शब्द से कमल अर्थ का बोध कराते हैं । अन्यथा पंकज शब्द का अर्थ पंक से उत्पन्न होने वाला शैवाल इत्यादि भी हो सकता है । परन्तु यहाँ पर अवयवार्थरूपता नष्ट हो जाता है और पंकज पद एकीभूत होने से विशिष्टार्थ का अवबोधक होकर कमल अर्थ का बोध कराता है ।[1]

इसी प्रकार समस्त पदों में विशिष्टशक्ति की विद्यमानता स्वीकार करने पर प्राचार्य:, प्रपर्ण: प्रपितामह आदि पदों के अर्थों के विधान की आवश्यकता नही होती क्योंकि प्राचार्य, प्रपितामह, गोरथ: इत्यादि पद विशेष प्रकृति है जिनका अर्थ प्रगत आचार्य, प्रगत पितामह तथा गो युक्त रथ है । वस्तुत: समस्त पद मूल प्रकृति होते हैं ।[2] जिस प्रकार वृक्ष निरवयव प्रकृति उसी प्रकार समस्त पद भी निरवयव प्रकृति हैं ।[3] अत: सप्तपर्ण, रथन्तर, पंकज आदि को रूढ़िशब्द तथा राजपुरुष को यौगिक कहना भी असंगत है ।[4] वास्तविकता तो यह है कि जिस प्रकार शब्द विधान वास्तविक है उसी प्रकार शास्त्र प्रक्रिया भी काल्पनिक ही है ।[5] जब डित्थ और पाचक रूप

1- समासे खलु भिन्नैव शक्ति: पंकज शब्दवत् । बहूनां वृत्तिधर्माणां वचनैरेव साधने ।।
स्यान्महद् गौरवं तस्मादेकार्थीभाव आश्रित: । वै॰भू॰ कारिका 31,32

2-{अ} असमासे समासे च गोरथादिष्वदर्शनात् । युक्तादीनां न शास्त्रेण निवृत्त्यऽनुगम: कृत: /
शब्दान्तरत्वाद युक्तादि: क्वचित् वाक्ये प्रयुज्यते।प्रपर्णं प्रपलाशादौ गतशब्दस्य वृत्तिषु ।।
वा॰प॰वृ॰स॰ 50, 51

2-{ब} प्रपर्णादिविषये वृत्तिष्वेकार्थीभावेषु सत्सु क्वचित्लौकिके वाक्ये प्रगतपर्ण इत्यादौ गत शब्द प्रयुज्यते, शब्दान्तरगत इति समन्वय: ।
हेलराज कृत टीका वा॰प॰का॰5।

3- पदं यथैव वृक्षादि विशिष्टेऽर्थे व्यवस्थितम् ।
नीलोत्पलादपि तथा भागाभ्यां वर्तते विना ।। वा॰प॰वृ॰स॰ 53

4- सप्तपर्णादिवद भेदो न वृत्तौ विद्यते क्वचित् ।
रूढ्यरूढिविभागोऽपि क्रियते प्रतिपत्तये ।। वा॰प॰वृ॰स॰ का 55

5- शब्दा यथा विभज्यन्ते भागैरिव विकल्पितै: ।
अन्वाख्येयास्तथा शास्त्रमतिदूरे व्यवस्थितम् ।। वा॰प॰वृ॰स॰ 74

संज्ञा पदों में धातु कल्पना व्यर्थ एवं अव्यावहारिक है तब किसी भी समस्त पद में अलग-अलग पदों की कल्पना करना अथवा उनमें कुछ अविद्यमान पदों की अधिकल्पना को कैसे मान्य ठहराया जा सकता है । अर्थात् समस्त पदों का विभाजन या विग्रह कथनादि उचित नहीं है ।[1] वस्तुत: समास अखण्ड मूल प्रकृति है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वैयाकरण आचार्य समस्त पदों को अखण्ड एवं मूल प्रकृति मानते हुए उनके विभाजन या विग्रह को असंगत ठहराते हैं साथ ही समास में संयुक्त पदों के एकार्थीभूत हो जाने के कारण समस्त पदों में विशिष्ट शक्ति को स्वीकार करते हैं । वस्तुत: समस्त पदों में विद्यमान विशिष्ट शक्ति ही वह अतिरिक्त सामर्थ्य रखती है जो समस्त पदों में उनके अवयवार्थों से भिन्न अर्थ का बोध कराती है । अत: स्पष्ट है - समासों में विशिष्ट शक्ति होती है तथा इसी विशिष्ट शक्ति के बल पर समस्त पद विशिष्ट अर्थ का बोध कराते हैं । समासार्थ बोध के सन्दर्भ में वैयाकरण आचार्यों द्वारा प्रतिपाद्य एवं स्थापित यही सिद्धान्त है जो समस्त पदों के सम्यक् अर्थबोध में सक्षम है । इस प्रकार वैयाकरण आचार्य समासार्थ बोध के सन्दर्भ में नैयायिक तथा मीमांसक आचार्यों के विपरीत एकार्थीभाव सामर्थ्यवाद की स्थापना करते हैं ।

एकार्थीभाव सामर्थ्यवाद की समीक्षा

वैयाकरण आचार्यों की महर्षि पाणिनि से लेकर कौण्डभट्ट तथा नागेशभट्ट तक की परम्परा तथा कतिपय अन्य आचार्य समासों में एकार्थीभाव सामर्थ्य को स्वीकार करते हुए एक स्वर से समास में विशिष्ट शक्ति स्वीकार करते हैं । उनका मानना है कि समस्त पदों में विद्यमान इसी विशिष्ट शक्ति के द्वारा ही समस्त पदों अर्थात् समासों का शाब्द-बोध होता है ।

1- यथैव डित्थे डयति: पाके पचतिस्तथा ।
डयतिश्च पचतिश्चैव द्वावप्येतावलौकिकौ ।। वा॰प॰वृ॰स॰ का॰ 77

यद्यपि महर्षि पाणिनि ने 'सामर्थः पदविधिः' सूत्र का प्रणयन करते समय पदविधि [समास भी पदविधि ही है] में सामर्थ्य की विद्यमानता को स्वीकार किया है, किन्तु उन्होंने स्पष्ट रूप से एकार्थीभाव सामर्थ्य की समासों में विद्यमानता का उल्लेख नहीं किया । किन्तु वार्तिककार कात्यायन तथा भाष्यकार पतंजलि ने महर्षि पाणिनि के उक्त सूत्र पर लेखनी उठाते समय समासों में एकार्थीभाव सामर्थ्य की निरन्तर रहने वाली स्थिति का उल्लेख किया है । उनका स्पष्ट कहना है कि समासों में एकार्थीभाव सामर्थ्य तथा विशेष शक्ति होती है । उक्त आचार्यों की इसी मान्यता को पूरी वैयाकरण परम्परा ने स्वीकार कर उसे दृढ़ आधार प्रदान किया है । समासों में इसी विशेष शक्ति को स्वीकार करने के कारण ही वैयाकरण आचार्यों ने जहत्स्वार्था एवं अजहत्स्वार्था वृत्ति को स्वीकार किया है । जहत्स्वार्था वृत्ति में समस्त पद के अवयवभूत पद स्वार्थ का परित्याग कर सामूहिक रूप से समस्त पद अर्थ बोध कराते हैं,[1] जब कि अजहत्स्वार्था वृत्ति में अवयवभूत पद अपने-अपने अर्थ से समन्वित होकर समुदाय रूप समस्त पद का शाब्द-बोध कराते हैं ।[2]

1-[अ] जहति पदानि स्वार्थं यस्यासा जहत्स्वार्था । कैयट महाभाष्य 2·1·1

[ब] जहति स्वार्थमुपसर्जनि पदानि यस्या सा जहत्स्वार्था । हेलाराज वृ·स·का· 44 की टीका

[स] जहति स्वानि पदानि यमिति जहत्स्वः । जहत्स्वोऽर्थो यस्या सेत्यर्थ इत्यन्ये । नागेश, उद्योत महाभाष्य 2·1·1

[द] अवयवार्थ निरपेक्षत्वे सति समुदायार्थ बोधिकत्वं जहत्स्वार्थात्वम् । प·ल·म· समासादिवृत्त्यर्थ

2-[अ] तद्विपरीता [जहत्स्वार्था विपरीता] अजहत्स्वार्था । हेलाराज वृ·स· 44 की टीका

[ब] अवयावार्थ संवलिति समुदायार्थबोधिकात्वमजहत्स्वार्थात्वम । प·ल·म·

इन जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था वृत्तियों को लेकर वैयाकरण आचार्यों में दो मत दिखाई देते हैं । प्रथम मत को मानने वाले आचार्यों में भाष्यकार पतंजलि तथा वैयाकरण भूषण के प्रणेता कौण्डभट्ट हैं । ये आचार्य जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था वृत्तियों को क्रमशः एकार्थीभाव सामर्थ्य एवं व्यपेक्षा सामर्थ्य के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं ।[1] दूसरे मत को मानने वाले आचार्यों में नागेशभट्ट, कैय्यट, भर्तृहरि तथा हेलाराज हैं जो इन दोनों वृत्तियों को एकार्थीभाव सामर्थ्य के अन्तर्गत ही स्वीकार करते हैं । नागेशभट्ट ने लघुम जूषा में तथा कैय्यट ने महाभाष्य की प्रदीप टीका में स्पष्टतः उक्त मत का खण्डन करते हुए जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था इन दोनों ही वृत्तियों की दृष्टि से एकार्थीभाव सामर्थ्य की व्याख्या की है तथा दोनों ही वृत्तियों की उपस्थिति में समस्तपद - योजना को स्वीकार किया है ।[2]

अजहत्स्वार्था पक्ष की दृष्टि से 'यत्रपदानि उपसर्जनीभूत स्वार्थानि' तथा जहत्स्वार्थापक्ष की दृष्टि से निवृत्तस्वार्थानि कहा गया है । इन दोनों वृत्तियों के उदाहरण के रूप में रथन्तरं एवं राजपुरुषः पद का उल्लेख किया जा सकता है । 'रथन्तरं' पद जहत्स्वार्था तथा राजपुरुषः अजहत्स्वार्था वृत्ति का उदाहरण है । रथन्तरं पद का अर्थ 'साम विशेष' का बोध उसके अवयवों के अर्थ के परित्याग के बाद ही प्राप्त होता है, जो जहत्स्वार्थावृत्ति का उदाहरण है । राजपुरुष पद का अर्थ बोध उसके अवयवों के अर्थों का परित्याग न कर उन्हें गौण रखते हुये होता है जो

1- समर्थः पदविधिः भाष्यकारैरनेकत्वा उक्तेष्वपि पक्षेषु जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था - पक्षयोरेव एकार्थीभाव व्यपेक्षारूपयोः पर्यवसानं लभ्यते । कौण्डभट्ट वैयाकरण भूषणसार

2- एतेन जहत्स्वार्थतैव एकार्थीभावो भूषणोक्तम् अपास्तम् । अनेन हि एकार्थीभावम् (अ) उपक्रम्योक्तेरस्तस्यैव पक्षद्वयम् इति लभ्यते । नागेशभट्ट - लघुमं जूषा ।

(ब) यत्र पदानि उपसर्जनीभूत स्वार्थानि, निवृत्तस्वार्थानि प्रधानार्थोपादानाद् व्यर्थानि अर्थान्तराभिधायीनि वा स एकार्थीभावः (म॰भा॰प्रदीप,2॰1॰1 कैय्यट

अजहत्स्वार्था वृत्ति का उदाहरण है । उल्लेखनीय है कि रथन्तरं एवं राजपुरूष: दोनों ही समस्त पद हैं अत: जहत्स्वार्था एवं अजहत्स्वार्था दोनो ही वृत्तियों में एकार्थीभाव सम्भव है, एकार्थीभाव होने पर ही 'समास' होता है तथा समास में विशिष्ट शक्ति होने के कारण समास अपने अवयवार्थों के अतिरिक्त विशिष्ट अर्थों के अवबोधक होते हैं । जैसा कि समस्त वैयाकरणों ने माना है ।

भर्तृहरि 'समासो' को अखण्ड तथा मूलप्रकृति मानते हैं तथा उनके विग्रह को अयुक्त प्रतिपादित करते हैं । वे तो इस मत का भी खण्डन करते हैं कि व्यपेक्षा पक्ष में वाक्य तथा एकार्थीभाव विवक्षा में समास होता है । भर्तृहरि ने समासों को तत्वत: अखण्ड सिद्धकर उसके विग्रह की कल्पना को नासमझों का प्रयास बताया है ।[1] साथ ही यह मत व्यक्त किया है कि समस्त पद अपनी विशिष्ट शक्ति के द्वारा ही अर्थबोध कराते हैं । वस्तुत: शब्द स्वयं अर्थ का बोधक होता है वैयाकरण तो उसका निर्देश मात्र करता है । भाष्यकार ने स्पष्ट रूप से कहा भी है कौन ऐसा सामर्थ्यवान है जो प्रत्यय प्रातिपदिक आदि में अर्थ का विधान करे । अर्थात् ऐसा कोई नहीं है । भर्तृहरि ने भी कहा है कि वस्तुत: पद, धातु, प्रत्यय आदि की कल्पना केवल अर्थवत्ता अथवा अर्थ प्राप्ति के आधार पर ही की जाती है । परन्तु, यह कल्पना किसी शरीर में उसके अवयवों की पृथक् स्वीकृति से अधिक महत्व नहीं रखती ।[2] इस प्रकार शास्त्र जन्य विभाग कल्पना अर्थ स्पष्टता के नाम पर अपनाया गया उपयमात्र है, जो वास्तविकता से बहुत दूर की वस्तु है । भर्तृहरि तो प्रतिपत्ता के 'उपायों' को ही असत्य मानते हैं ।[3]

1- अबुधान् प्रत्युपायाश्च विचित्रा: प्रतिपत्तये।
शब्दान्तरत्वादत्यन्तभेदो वाक्यसमासयो: । वृ॰स॰ 49

2- अर्थस्यानुगमं कंचिद् दृष्टवैव परिकल्पितम ।
पदं वाक्ये, पदे धातुर्धातौ भाग्श्च मुण्डिवत् । वा॰प॰वृ॰स॰

3- उपायान् प्रतिपत्तृणां नाभिमन्येत सत्यत: । वा॰प॰वृ स॰

वस्तुत: समास अखण्ड पद है, उसका विग्रह भ्रममात्र है । समास में निहित विशिष्ट शक्ति ही समस्तपदों का अर्थ बोध कराती है । समस्त पद अपने अर्थ बोध के लिये विग्रहादि की अपेक्षा नहीं रखते । उनमें निहित विशिष्ट शक्ति ही उनके अर्थ को प्रकाशित करती है ।

समस्त वैयाकरण आचार्य समासों के अर्थ बोध के लिये एकार्थीभाव सामर्थ्य को आवश्यक मानते हैं । समस्त पदों में उसके अवयवों के एकार्थीभूत होने के कारण उनमें विशिष्ट शक्ति होती है । विशिष्ट शक्ति की विद्यमानता के कारण ही समस्त पद अपने अवयवार्थों के अतिरिक्त अन्य विशिष्ट अर्थ का भी बोध कराते हैं, जो समासों की अपनी विशेषता है । समासों में विद्यमान इसी विशेषता के कारण उन समस्त पदों का अर्थ बोध हो जाता है जो अपने अवयवार्थों से भिन्न अर्थ के वाहक होते हैं । इस प्रकार समास में विद्यमान अर्थ बोधक विशिष्ट शक्ति जहाँ एक ओर यौगिक पदों का अर्थ बोध कराती है वहीं दूसरी ओर रूढ़ि पदों का भी अर्थ बोध कराती है जिनका अर्थबोध कर पाना किसी अन्य माध्यम से सहज एवं ग्राह्य नहीं होता है, जबकि इन रूढ़ पदों का अर्थबोध समस्त पदों में विशिष्ट शक्ति की उपस्थिति मानने पर इसी विशिष्ट शक्ति से हो जाती है ।

अत: समस्त पदों में विशिष्ट शक्ति की उपस्थिति को स्वीकार कर लेने पर समासों का शाब्द बोध संभव हो जाता है । वैयाकरण आचार्य इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर समासों में विशिष्ट शक्ति की उद्भावना को स्वीकार करते हैं तथा समासों के शाब्द-बोध में इसी का आश्रय लेते हैं । इस प्रकार समस्त पदों के शाब्द बोध में मुख्य आधार 'एकार्थीभाव सामर्थ्य' एवं उसमें विद्यमान विशिष्टार्थ अववोधक विशिष्ट शक्ति है, जो वैयाकरण आचार्यों को मान्य है तथा समासों के शाब्द वोध के लिये सर्वथा संगत तथा सक्षम है ।

<u>निष्कर्ष</u> :- समस्त पदों के शाब्द बोध के सन्दर्भ में नैयायिक एवं मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित व्यपेक्षा सामर्थ्यवाद एवं वैयाकरणों द्वारा स्थापित एकार्थीभाव सामर्थ्यवाद के मध्य उतना भेद नहीं है, जितना कि सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रतीत होता है । वस्तुतः दोनों ही सिद्धान्त समासों के शाब्द बोध के सन्दर्भ में पृथक पृथक मार्ग हैं, दोनों का उद्देश्य समस्त पदों के अर्थ की अभिव्यक्ति करना है । वैयाकरण तथा वैयायिक एवं मीमांसक दोनों ही समासों के विशेष अर्थ को स्वीकार करते हैं, परन्तु इस सन्दर्भ में उन दोनों के मध्य कुछ अन्तर है और जो अन्तर है उसका कारण है - 'समस्त पद' के स्वरूप के सम्बन्ध में दोनों की पृथक् पृथक् मान्यता । एकार्थीभाववादी समस्तपद को मूल प्रकृति एवं एखण्ड इकाई मानते हैं जबकि व्यपेक्षावादी समस्त पद को उसके अपने अवयवों का समुदाय मानते हैं । वैयाकरण आचार्य वाक्य को ही भाषा की इकाई मानते हैं । अर्थबोध की दृष्टि से यह उचित भी है क्योंकि वाक्यों में पदों की पदों में अवयवों की तथा अवयवों में वर्णों की कल्पना केवल अबोध व्यक्तियों के लिये है, इस दृष्टि से समस्त पद में अवयवों की कल्पना भी अबोध व्यक्तियों के लिये ही है ।

वास्तव में नैयायिक, मीमांसक तथा वैयाकरण सभी आचार्य समासों के विशिष्ट अर्थ को स्वीकार करते हैं । किन्तु इस विशिष्ट अर्थ की प्राप्ति के सन्दर्भ में दोनों में मत वैभिन्य है । वैयाकरण आचार्य समासों में विद्यमान रहने वाली विशिष्ट शक्ति के माध्यम से समासों के विशिष्ट अर्थ का बोध स्वीकार करते हैं । मीमांसक तथा नैयायिक आचार्यों की मान्यता है कि समस्त पद के अवयवार्थों के परस्पर अन्वय से पदों के सम्बनध रूप विशिष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है व्यपेक्षासामर्थ्यवादी आचार्यों को मान्य यह विशिष्ट अर्थ समासों में ही प्राप्त होता है वाक्य में नहीं यही उनके यहां वाक्य तथा समास में अन्तर है ।

समास में पदों की सत्ता मानने पर भी सदा पदार्थ ही समासार्थ होगा यह नहीं कहा जा सकता । अधिकांश समस्त पदों का अर्थ अवयवार्थों का समूह है किन्तु कुछ समस्त पद ऐसे भी हैं जिनका अर्थ अवयवार्थों से भिन्न विशिष्ट होता है । ऐसे पदों को विशेष प्रकृति मानना अधिक युक्ति संगत है । इस प्रकार जो समास

अपने अवयवार्थों से भिन्न विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करें उन्हें विशेष प्रकृति माना जा सकता है । जैसे किंसखा, किंराजा, मनसागुप्ता, युधिष्ठिर:, पंकज इत्यादि । उक्त उदाहरणों में समस्त पद का विशेष अर्थ पदार्थ सापेक्ष है, परन्तु कुछ पद ऐसे भी होते हैं जहाँ पदार्थों की पूर्ण उपेक्षा की जाती है । यथा - रथन्तर पद में समुदायार्थ नितान्त पदार्थ निरपेक्ष है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि समस्त पदों का अर्थ पदार्थों का समुदाय भी होता है तथा पदार्थ सापेक्ष विशेष तथा पदार्थ निरपेक्ष विशेष भी होता है और इन समस्त अर्थों का बोध समासों में विशिष्ट शक्ति को स्वीकार करने पर ही होता है ।

अत: वैयाकरण आचार्यों की यह मान्यता कि समासों में विशिष्ट शक्ति होती है तथा इसी विशिष्ट शक्ति द्वारा ही समस्त पदों का शाब्द बोध होता है, जिसमें विशिष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है । अत: एकार्थीभाव सामर्थ्य एवं समस्त पदों में विद्यमान रहने वाली विशिष्टार्थ अववोधक विशिष्ट शक्ति ही समस्त पदों के शाब्द बोध का कारण है तथा समासों का शाब्द बोध समस्त पदों में विद्यमान विशिष्ट शक्ति का कार्य है ।

समासों में यह विशिष्ट शक्ति उसके अवयवों के एकार्थीभाव सामर्थ्य के बल पर एकीभूत हो जाने पर,ही सम्भव है । एकार्थीभाव सामर्थ्य समासों का आधार है, समासों में निहित यह सामर्थ्य ही उनक विशिष्टार्थ को प्रकाशित करता है । अत: समासों में एकार्थीभाव सामर्थ्य की ही विद्यमानता उनके अर्थ-बोध की दृष्टि से संगत तथा युक्तियुक्त है ।[1] न्यासकार ने भी 'समर्थ: पदविधि: ' की व्याख्या करते समय

1- सामर्थ्यञ्चात्र न व्यपेक्षा । व्याख्यानात् वक्ष्यमाणदोषग्रासच्च ।
किन्तु एकार्थीभाव: । स च अपृथगुपस्थिति जनकत्वम् । तच्च
विशेषणविशेष्यभावावगाह्यपस्थितिजनकत्वम् । अतएव किं समर्थम् ।
संसर्गतार्थं संसृष्टार्थमिति भाष्ये उक्तम् । वृ॰श॰ शेखर पा॰सू॰ 2॰1॰1

समासों में एकार्थीभाव सामर्थ्य को ही उनके विशिष्टार्थ का प्रकाशक माना है ।[1]

अतः समस्त आचार्यों द्वारा स्वीकृत एवं समर्थित पक्ष 'समासों में एकार्थीभाव सामर्थ्य होता है तथा समस्त पदों के अवयव अपने अर्थों का अभिधान न करके परस्पर एकीभूत होकर एकार्थीभाव सामर्थ्य से विशिष्टार्थ का प्रतिपादन करते हैं' ही स्वीकरणीय है ।

1- समर्थानामित्यनेन वाक्ये व्यपेक्षालक्षणं समर्थ्यमाह । - संसृष्टार्थ मित्यनेन समासे पदानामेकार्थीभावलक्षणं सामर्थ्यं दर्शयति । एकार्थीभावश्च पृथगवस्थितानां भिन्नार्थानां पदानां समासे साधारणर्थानामवस्थाविशेषः । वाक्ये हि साधारणार्थता नास्ति भिन्नार्थत्वात् । अत एव तत्र भेदनिबन्धना षष्ठ्युज्जयते - राज्ञः पुरूष इति वृत्तौ तूभयपदव्यवच्छिन्नार्था भिधानात् साधारणार्थता भवति । एतेनैतदुक्तं भवति, समासे हि विशेषण विशेष्यमनुप्रविशत्येकार्थी भवति, विशेष्येण सह वाक्ये हि विशेषणं विशेष्यात् पृथगवतिष्ठते इति । न्यास (सू॰ 2॰1॰1)

उपसंहार

उपसंहार

भाषा में प्रयुक्त सामासिक पदों का अपना विशिष्ट महत्व है । वे प्रयोग में आकर जहाँ एक ओर वाक्य के शाब्द-बोध में वैशिष्ट्य उत्पन्न करते हैं, वहीं दूसरी ओर भाषा को भी चमत्कारयुक्त बनाते हैं । मानव-प्रवृत्ति ... सौकर्य के कारण भाषा में आये हुए समास भाषा की उत्पत्ति के तत्काल बाद ही व्यवहार में लाये जाने लगे थे, फलस्वरूप विश्व की समस्त भाषाओं में सामासिक पदों का प्रयोग सम्बन्धित भाषा के प्रथम ग्रन्थ में ही पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है तथा परवर्ती रचनाओं में उनके प्रयोग की दिशा में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है । यथा - संस्कृत भाषा में सामासिक पदों का सर्वप्रथम प्रयोग संस्कृत में निबद्ध प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद में मिलता है, तथा परवर्ती साहित्य में उनके प्रयोग में दिनानुदिन वृद्धि होती गयी, जिससे जहाँ ऋग्वेद आदि में मात्र दो पदों का ही समस्त रूप प्रयोग में लाया जाता रहा है वहीं अर्वाचीन साहित्य में सामासिक पदावली का प्रयोग करते हुए लम्बे-लम्बे समासों का प्रयोग होने लगा है । समास प्रयोग में प्रयोक्ता की प्रतिभा, युगधर्म एवं अभ्यास मुख्य हेतु बने, तथा उनके प्रयोग से वाक्यगत पदों में क्रमबद्धता शब्द लाघव एवं पदों में सीमित प्रत्ययों का प्रयोग आदि अनेक प्रयोजन सिद्ध हुए । सामासिक पदों में अनेक गुण हैं जिनमें से उनके प्रयोग से प्रयोक्ता को सीमित पद प्रयोग कर कम श्रम करने पर भी अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति हो जाना प्रमुख है । इसके साथ ही समास प्रयोग का एक सबसे बड़ा दोष है कि उनकी अधिकता से वाक्यार्थ बोध में अत्यधिक कठिनाई आ जाती है । कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि प्रयुक्त सामासिक पदावली सामान्य जनों के लिये तो असम्भव हो ही जाती है , विद्वत्जन भी उसका अर्थबोध बड़ी मुश्किल से कर पाते हैं । किन्तु अर्थबोध में होने वाली कठिनाई को प्रायः

आचार्यगण सामासिक पदों के दोष रूप में न देखकर उनका गुण ही मानते हैं और उसे प्रयोक्ता के पाण्डित्य के मापक के रूप में स्वीकार करते हैं । क्योंकि जो व्यक्ति जितना अधिक समर्थ होगा उतने ही क्लिष्ट [illegible] सामासिक पदों का प्रयोग करेगा तथा प्रतिभासम्पन्न लोग ही उसका अर्थबोध कर सकेंगे । फिर भी यदि अर्थबोध में आने वाली कठिनाई को यदि दोष के रूप में भी स्वीकार लिया जाय तो भी सामासिक पदों के गुणों को देखते हुए उनका यह दोष नगण्य हो जाता है ।

समस्त आचार्य समस्त पदों को विशिष्टार्थ का बोधक तथा सामर्थ्ययुक्त मानते हैं । वैयाकरण आचार्य समासों में रहने वाले सामर्थ्य को एकार्थीभाव सामर्थ्य तथा नैयायिक एवं मीमांसक आचार्य उसक व्यपेक्षा सामर्थ्य मानते हैं । व्यपेक्षासामर्थ्यवादी आचार्यों का मानना है कि समस्त पद में निहित अवयव अपने-अपने अर्थ को अभिव्यक्त करते हुए परस्पर अन्वय द्वारा पदों का अर्थबोध कराते हैं तथा उन पदों के अन्वय से होने वाले अर्थबोध में लक्षणा द्वारा सामासिक पदों में रहने वाले विशिष्ट अर्थ का बोध हो जाता है । किन्तु वैयाकरण आचार्य उक्त मत को न स्वीकार कर पदों में एकार्थीभाव सामर्थ्य की विद्यमानता की बात करते हैं । उनका मानना है कि सामासिक पदों में एकार्थीभाव सामर्थ्य होता है । एकार्थीभाव सामर्थ्य के बल पर ही समस्त पद के विभिन्न अवयव परस्पर एकीभूत हो जाते हैं । उनके परस्पर एकीभूत हो जाने से उनमें विद्यमान एकार्थीभाव सामर्थ्य से ही विशिष्टार्थ की प्राप्ति होती है । समस्त पदों के विशिष्टार्थ बोध के लिये लक्षणा शक्ति को माध्यम मानना उचित नहीं है ।

कुछ वैयाकरण आचार्यों का मानना है कि समस्त पदों में एकार्थीभाव सामर्थ्य तथा वाक्यगत पदों में व्यपेक्षा सामर्थ्य होता है । जो समासों एवं वाक्यों के स्वरूप को देखते हुए उचित है । किन्तु कुछ वैयाकरण आचार्यों ने वृत्ति के अजहत्स्वार्था तथा जहत्स्वार्था रूप मानते हुए जहत्स्वार्था पक्ष अर्थात् जहाँ पद अपने-अपने अर्थों का

परित्याग कर समुदाय के अर्थ का बोध कराते हैं, में समास तथा अजहत्स्वार्था पक्ष अर्थात् जहाँ पद अपने अर्थ का परित्याग नहीं करते हैं वहाँ वाक्य माना है । किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है । क्योंकि हम देखते हैं कि व्यवहार में देखने पर ऐसे अनेक स्थल आते हैं, जहाँ पर समस्त पद के अवयव अपने अर्थ का परित्याग न कर समासार्थ में ही अपने अर्थ को संयोजित किये रहते हैं, फलस्वरूप जहत्स्वार्था एवं अजहत्स्वार्था दोनों ही पक्षों में समास होता है । उसे किसी एक की सीमा में बांधना उचित नहीं है ।

सामासिक पदों का अवयवार्थ कभी-कभी पूर्ण रूपेण तिरोहित हो जाता है जिससे समासार्थ के रूप में पदों के अर्थों से भिन्न सर्वथा नवीन अर्थ की प्राप्ति होती है । यथा - रथन्तर पद का वाच्यार्थ 'रथ को खींचने वाला' होता है किन्तु वह समस्त रूप में 'सामगान' का बोध कराता है जो अवयवार्थ से पूर्णरूपेण भिन्न है । किन्तु कभी-कभी अवयवार्थ लुप्त न होकर गौण रूप में समासार्थ में विद्यमान रहता है, जिससे समासों में निहित रहने वाली विशिष्ट शक्ति के माध्यम से समास में अवयवार्थ गौण रूप में रहते हुए विशिष्ट समासार्थ का बोध कराते हैं । यथा - 'राजपुरुष: ' समस्त पद राज्ञ: पुरुष: ' दो पदों से मिलकर बना है जिनका वाच्यार्थ 'राजपुरुष' के वाच्यार्थ में भी मिलता है । इस प्रकार से स्पष्ट है कि कुछ सामासिक पदों का अवयवार्थ समासार्थ का बोध कराने के पूर्व ही समाप्त हो जाता है, जबकि कुछ में अवयवार्थ गौण रूप से विद्यमान रहते हुए एकार्थीभाव सामर्थ्य से समास के विशिष्टार्थ का बोध कराते हैं, अर्थात् समासार्थ में अवयवार्थ भी विद्यमान रहता है । अत: समासों को जहत्स्वार्था या अजहत्स्वार्था में से किसी एक तक ही न सीमितकर उनके व्यवहार एवं स्वरूप को देखते हुए दोनों पक्षों में मानना उचित है ।

किन्तु जहाँ तक समासों में विद्यमान रहने वाले सामर्थ्य की बात है तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि समस्त पदों में एकार्थीभाव सामर्थ्य ही होता है नैयायिकों तथा मीमांसकों द्वारा मान्य व्यपेक्षा सामर्थ्य वाक्यगत पदों में विद्यमान

रहता है न कि समासों में । यदि समासों में विद्यमान रहने वाले सामर्थ्य को व्यपेक्षा माना भी जाय तो समासार्थबोध में व्यपेक्षा सामर्थ्य के साथ-साथ लक्षणा शक्ति भी माननी पड़ेगी, जिसे वैयाकरण आचार्य स्वीकार ही नहीं करते, फिर जहाँ मात्र एकार्थीभाव सामर्थ्य मानने से ही समासार्थ बोध हो जाता है वहाँ व्यपेक्षा सामर्थ्य के साथ-साथ लक्षणा शक्ति को भी मानने की क्या आवश्यकता है ? एकार्थीभाव सामर्थ्य के स्थान पर व्यपेक्षा सामर्थ्य मानने पर व्यर्थ में गौरव दोष उत्पन्न होगा । अत: समासों में एकार्थीभाव सामर्थ्य को ही स्वीकार करना उचित है ।

संस्कृत भाषा में प्राय: समस्त आचार्यों ने शाब्द बोध की उपपत्ति में पद ज्ञान को करण अर्थात् असाधारण कारण, शब्द वृत्तियों को व्यापार तथा आकाङ्क्षा योग्यता, सन्निधि तथा तात्पर्य को सहकारी कारण माना है । वैयाकरण आचार्य नैयायिक तथा मीमांसक आचार्यों की भाँति ही शाब्द बोध के असाधारण कारण के रूप में पद ज्ञान तथा व्यापार के रूप में शब्द - वृत्तियों को तो स्वीकार करते हैं किन्तु वे आकाङ्क्षादि चारों को शाब्द बोध में सहकारी कारण के रूप में न मानकर मात्र आकाङ्क्षा तथा योग्यता को शाब्द बोध का सहकारी कारण मानते हैं । उनका मानना है कि पद ज्ञान हो जाने के बाद शब्द वृत्तियों के माध्यम से पदार्थ ज्ञान हो जाता है । तदनन्तर वाक्य में स्थित पदों में विद्यमान रहने वाली आकाङ्क्षायोग्यता के बल पर श्रोता या पालक को शाब्द बोध हो जाता है । सन्निधि तथा तात्पर्य को शाब्द बोध के सहकारी कारण के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता । क्योंकि हर वाक्य या हर परिस्थिति में शाब्द बोध के लिये आकाङ्क्षा, योग्यता के साथ-साथ पदों की सन्निधि तथा तात्पर्य की आवश्यकता नहीं होती, कुछ वाक्यों के अर्थबोध के लिये ही तात्पर्य तथा सन्निधि की आवश्यकता होती है और वहाँ भी परिस्थिति आदि का आकलन करने पर शाब्द-बोध उपपन्न हो जाता है । ऐसी स्थिति में शाब्द बोध के सहकारी कारण के रूप में सन्निधि तथा तात्पर्य को मानना उचित या युक्तियुक्त

नहीं है । वस्तुत: शाब्द-बोध को उपपन्न करने के लिये सहकारी कारण के रूप में आकाङ्क्षा तथा योग्यता पर्याप्त है । सन्निधि तथा तात्पर्य को पृथक् से स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है । क्योंकि जब दो आकाङ्क्षा एवं योग्यता से ही शाब्द बोध उपपन्न हो जाता है तो दो के स्थान पर चार सहकारी कारण मानते हुए सन्निधि तथा तात्पर्य को भी उसमें संयोजित कर उनका परिगणन कराना व्यर्थ एवं गौरव दोष पूर्ण कार्य होगा । अत: शाब्द-बोध के सहकारी कारण के रूप आकाङ्क्षा योग्यता, सन्निधि तथा तात्पर्य के स्थान पर मात्र आकाङ्क्षा तथा योग्यता को ही स्वीकार करना उचित है ।

यद्यपि शाब्द बोध की प्रक्रिया के सन्दर्भ में वैयाकरण, नैयायिक तथा मीमांसकों की मान्यताओं में पर्याप्त साम्य है किन्तु उसके स्वरूप को लेकर तीनों में पर्याप्त मतभेद है । नैयायिक तथा मीमांसक आचार्यों का एक वर्ग शाब्द-बोध के सिद्धान्त के रूप में अभिहितान्वयवाद का प्रतिपादन करता है वहीं दूसरा वर्ग अन्विता-भिधानवाद के रूप में शाब्द-बोध सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है । वैयाकरण आचार्य उक्त दोनों मतों से परे हटते हुए ठीक उसके विपरीत जाकर अखण्डवाक्यार्थवाद का प्रतिपादन करते हैं ।

अभिहितान्वयवाद को शाब्द बोध का सिद्धान्त मानने वाले कुमारिल अनुयायी तथा जयन्त भट्ट आदि नैयायिकों का कहना है कि जब पदों के द्वारा प्रतिपन्न अर्थ ही आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि के कारण संसृष्टहोकर शाब्द-बोध उपपन्न करता है जिसे वे अभिहितान्वयवाद के नाम से अभिहित करते हैं । जब कि प्रभाकर मतानुयायी मीमांसक तथा कतिपय नैयायिक अन्विताभिधानवाद को शाब्द बोध के सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करते हैं उनका मानना है कि अर्थ बोध से पूर्व पदार्थ परस्पर अन्वित होते हैं । तत्पश्चात् अभिधादि वृत्तियों के माध्यम से पदों का संयुक्त अर्थ ज्ञात होता है ।जिसे वे अन्विताभिधानवाद का नाम देते हैं ।

वैयाकरण आचार्य उक्त दोनों मतों को न स्वीकार कर अखण्डवाक्यार्थवाद को शाब्द बोध के सिद्धान्त के रूप में मान्यता देते हैं, उनका मानना है कि वाक्य ही भाषा की इकाई है तथा वाक्य अखण्ड होता है । यदि वाक्य को खण्डशः विभाजित कर शब्दों या पदों में देखा जाये तो ऐसी दशा में पदों के साथ-साथ वर्णों या अक्षरों के रूप में भी विभाजित करने की प्रवृत्ति पैदा हो सकती है, जब वाक्य का विभाजन पदों में होता ही है तो वर्णों या अक्षरों में क्यों नहीं हो सकता । ऐसी स्थिति में अव्यवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा साथ ही सम्यक रीति से अर्थबोध भी नहीं हो पायेगा । अतः वाक्य को खण्डशः विभाजित कर पद रूप में देखना उचित नहीं है । वैयाकरणों की स्पष्ट धारणा है कि वाक्य अखण्ड होता है तथा अखण्ड रूप में ही रहकर वह अर्थबोध कराता है । खण्डित वाक्य से पूर्ण अर्थ की कल्पना भी नहीं की जा सकती है । उनका मानना है कि भाषा की इकाई अखण्ड वाक्य अखण्ड रूप में रहते हुए ही अखण्ड वाक्यार्थ काबोध कराता है । यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि कुछ लोग वाक्य का खण्डशः विभाजन कर अर्थ बोध करने का प्रयास करते है और उन्हें अर्थ बोध भी हो जाता है । ऐसी स्थिति में भर्तृहरि प्रभृति वैयाकरणों का मानना है कि यद्यपि वाक्य अखण्ड है तथा अखण्ड रूप में रहकर ही वह वाक्यार्थ बोध कराता है, किन्तु मन्द बुद्धि के लोग अपने ढंग से वाक्यार्थ बोध के लिये वाक्य का खण्डशः विभाजन कर लेते हैं, जो केवल अनुचित ही नहीं वरन् काल्पनिक भी है ।

जहाँ तक सामासिक पदों के शाब्द-बोध की बात है नैयायिक तथा मीमांसक आचार्य अपने ढंग से समासों में व्यपेक्षा सामर्थ्य को स्वीकार करते हुए अन्विताभिधानवाद या अभिहितान्वयवाद के रूपमें समासार्थ बोध को मानते हैं । जबकि वैयाकरण आचार्य नैयायिकों तथा मीमांसकों के सिद्धान्तों को अयुक्तियुक्त ठहराते हुए समासार्थ बोध के सिद्धान्त के रूप में अखण्डवाक्यार्थवाद का प्रतिपादन करते हैं । उनका कहना है वाक्य की ही भाँति समस्त पद भी अखण्ड ही हैं अतः उनका अवयवों में विभाजन करना उचित नहीं है । कुछ लोग समस्त पदों की वृत्ति रूप में व्याख्या करते हैं वह उचित नहीं है, वह काल्पनिक तथा मिथ्या है । वाक्य की ही भाँति समस्त पद भी मूलतः अखण्ड हैं तथा अखण्ड सामासिक पद भी अखण्ड रूप में रहते हुए ही अखण्ड समासार्थ का बोध कराते हैं । यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब वाक्य या समास अखण्ड

है और उनका खण्डशः विभाजन भी नहीं किया जा सकता ऐसी स्थिति में उनसे समासार्थ की प्राप्ति किस प्रकार सम्भव होगी इसका उत्तर देते हुए भर्तृहरि आदि वैयाकरण आचार्य कहते हैं कि प्राणिमात्र में 'प्रतिभा' विद्यमान है जो किसी भी वाक्य या समास का श्रवण कर अर्थ बोध कराती है । प्रतिभा की मात्रा में असमानता होने के कारण अर्थ बोध भी किसी को पूर्णरूपेण तथा सम्यक् रीति से होता है, तो किसी को थोड़ा बहुत ही अर्थ बोध हो पाता है इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे भी मिल जाते हैं जो वाक्य या समस्त पदों का श्रवण करके भी अर्थबोध नहीं कर पाते । अतः अर्थबोध के हेतु के रूप में 'प्रतिभा' को ही स्वीकार करना उचित है । वैयाकरण उसे अर्थबोधक के रूप में स्वीकार भी करते हैं । फलस्वरूप वैयाकरणों का अखण्ड वाक्यार्थ - वाद नामक सिद्धान्त प्रतिभा वाक्यार्थवाद के नाम से भी जाना जाता है ।

प्रायः नैयायिक, मीमांसक तथा वैयाकरण समस्त आचार्य समस्त पदों से प्राप्त होने वाले अर्थ को विशिष्ट मानते हैं । उनका मानना है कि समासों में विशिष्ट शक्ति होती है, जिससे उनसे विशिष्ट अर्थ का ज्ञान होता है । मीमांसक तथा नैयायिक आचार्य इस विशिष्ट अर्थ का माध्यम लक्षणा शक्ति मानते हैं जब कि वैयाकरण आचार्य लक्षणा की अयुक्तियुक्तता का प्रतिपादन करते हुए लक्षणा वृत्ति का ही खण्डन करते हैं । उनका मानना है कि समासों के विभिन्न अवयव परस्पर एकीभूत हो कर समास बनते हैं । ऐसी स्थिति में उनके एकीभूत हो जाने से एकार्थीभाव सामर्थ्य के कारण समासों में ऐसी शक्ति निहित हो जाती है, जो समस्त पदों के अवयवार्थों से भिन्न विशिष्टार्थ की प्रतीति कराती है, और यह विशिष्टार्थ ही समासार्थ होता है जो या तो समस्त पदों के अवयवार्थ से सर्वथा भिन्न या किञ्चित् विशिष्ट होता है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाना गुणों से युक्त तथा अनेकक प्रयोजनों की सिद्धि करने वाले सामासिक पद भाषा के अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग बन गये हैं । ये समस्त पद तत्वत: अखण्ड हैं तथा अखण्ड रूप में ही अखण्डार्थ का बोध कराते हैं । साथ ही कतिपय आचार्योंके द्वारा व्यक्ति विचार से जहत्स्वार्था तथा अतहत्स्वार्था में से मात्र जहत्स्वार्था पक्ष में ही समास होते हैं, अजहत्स्वार्था में नहीं, उचित नहीं है । वस्तुत: समास दोनों पक्षों में होते हैं उन्हें जहत्स्वार्था या अजहत्स्वार्था में से किसी एक पक्ष में सीमित नहीं किया जा सकता । जहाँ तक समस्त पदों में विद्यमान रहने वाले सामर्थ्य का प्रश्न है तो समासों में एकार्थीभाव सामर्थ्य को ही स्वीकार करना उचित है । क्योंकि समासों में एकार्थीभाव सामर्थ्य मानने पर ही समासोंके विशिष्टार्थ की प्राप्ति हो पाती है । वस्तुत: एकार्थीभाव सामर्थ्य ही समासों में विद्यमान रहने वाला सामर्थ्य है तथा वही समासों के विशिष्टार्थ का प्रतिपादक है । समस्त वैयाकरण आचार्यों ने इसी मत को ही मान्यता प्रदान की है । तथा समासार्थ बोध के सन्दर्भ में एकार्थीभाव सामर्थ्य का व्याख्यान किया है । अत: समस्त पदों में विद्यमान रहने वाले सामर्थ्य तथा समासों के विशिष्ट अर्थ का बोध कराने वाले सामर्थ्य के रूप में एकार्थीभाव सामर्थ्य को ही मानना उचित है ।

सहायक सन्दर्भ ग्रन्थ

सहायक सन्दर्भ - ग्रन्थ

	ग्रन्थ का नाम	सम्पादक /लेखक	प्रकाशन
{क}	**वैदिक ग्रन्थ**		
	ऋग्वेद संहिता	सं० विश्वबन्धु	विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर, 1963
	अथर्ववेद	श्रीपाद दामोदर सातवलेकर	वसंत श्रीपाद सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल पारडी जि० बलसाड, 1964
	सामवेद	श्रीपाद दामोदर सातवलेकर	वसंत श्रीपाद सातवलेकर स्वाध्यायमण्डल पारडी, जि० बलसाड, 1964
	तैत्तिरीय संहिता	टी०एन०धर्माधिकारी एवं एस०एन० सान्टेके	वैदिक साम साधना मण्डल पूना - 9, 1972
	ऐतरेय ब्राह्मण	डा० सुधाकर मालवीय	तारा प्रिंटिंग वर्क्स वाराणसी 1983
	अथर्ववेद प्रातिशाख्य	डब्लू० डी० ह्विटनी	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी 1962
	वाजसनेयि प्रातिशाख्य	वी० वेंकटरामा शर्मा	मद्रास यूनिवर्सिटी संस्कृत सीरीज, 1934
	ऋक्तन्त्र	डा० सूर्यकान्त	मेहरचन्द लक्ष्मनदास 2836, कूचा लेन दरियागंज दिल्ली - 6
	व्याकरण-ग्रन्थ:-		
{ख}	महाभाष्य प्रदीप उद्योत	पं० बाहुबल्लभशास्त्री	एशियाटिक सोसायटी 57, पार्क स्ट्रीट कलकत्ता 1909
	महाभाष्य {प्रदीप}	मधुसूदन मिश्र	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1923

ग्रन्थ नाम	सम्पादक / लेखक	प्रकाशन
महाभाष्यम् (तीन भाग)	[illegible] युधिष्ठिर मीमांसक	श्री प्यारेलाल द्राक्षादेवी न्यास दिल्ली, वि॰ सं॰ 2029
अष्टाध्यायी (दो भाग)	एस॰सी॰ बसु	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, 1962
सिद्धान्त कौमुदी (दो भाग)	एस॰सी॰ बसु	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1962
सिद्धान्त कौमुदी	गोपालशास्त्रिनेने	चौ॰सं॰सी॰आ॰ वाराणसी, 1955
सिद्धान्त कौमुदी (समास प्रकरण)	आचार्य जगदीश शास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1979
लघुसिद्धान्त कौमुदी	महेश सिंह कुशवाहा	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1979
वाक्यपदीयम (तीन भाग)	श्री रघुनाथ शर्मा	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, 1979
वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा	नागेश	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, 1977
वैयाकरण सिद्धान्त लघु मञ्जूषा	नागेश	चौ॰सं॰सी॰आ॰,वाराणसी, 1963
वैयाकरण सिद्धान्त परमलघु मञ्जूषा	कपिलदेव शास्त्री	कुरुक्षेत्र वि॰विद्यालय प्रकाशन 1975
वैयाकरण सिद्धान्त परमलघु मञ्जूषा	अलखदेव शर्मा	चौ॰सं॰सी॰आ॰वाराणसी, 1974
वैयाकरण भूषण सार	प्रभाकर मिश्र	श्री रामानुज सं॰म॰विद्यालय मिश्र पोखरा, वाराणसी, 1982
वैयाकरण भूषण सार (धात्वर्थ प्रकरण)	भीमसेन शास्त्री	भीमसेन शास्त्री, 8 537,लाजपतराय मार्केट दिल्ली 1969

ग्रन्थ नाम	सम्पादक / लेखक	प्रकाशन
शब्देन्दुशेखर	नागेश	
लघु शब्देन्दुशेखर	नागेश	आन्ध्र विश्व कला परिषद् कुम्भ घोण, 1941
काशिका वृत्ति	द्वारिका प्रसाद शास्त्री	तारा पब्लिकेशन्श वाराणसी 1966
निरुक्तम् (प्रथम अध्याय)	कपिलदेव शास्त्री	साहित्य भण्डार मेरठ, 1981
निरुक्तम्	छज्जूराम शास्त्री	मेहरचन्द्र लक्ष्मण दास 2736, दरियागंज, दिल्ली, 1963

(ग) मीमांसा ग्रन्थ

ग्रन्थ नाम	सम्पादक / लेखक	प्रकाशन
जैमिनीय सूत्र	जैमिनि	श्री बालाजी गणेश, बड़ा सराफा, इन्दौर वि॰सं॰ 2002
तत्वबिन्दु	वाचस्पति मिश्र	श्री गंगाधर शास्त्री, प्रधानाध्यापक, काशी राजकीय संस्कृत प्रधान पाठशाला काशी, वि॰स॰ 1949
तन्त्रवार्तिक	कुमारिलभट्ट	चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो बनारस 1903 ई०
तन्त्रवार्तिक	कुमारिलभट्ट	आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, पूना, 1931
प्रकरण पंचिका	शालिकनाथ मिश्र	चौ॰ सं॰ बुक डिपो, वाराणसी, 1903
भाट्ट चिन्तामणि	गागाभट्ट	चौ॰सं॰सी॰आ॰, बनारस, 1933
भाट्ट दीपिका	खण्डदेव	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1922
भावप्रकाशन	शारदातनय	ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट बड़ौदा, 1969
मीमांसाकौस्तुभ	खण्डदेव	चौ॰सं॰सी॰आ॰, वाराणसी, 1923

ग्रन्थ नाम	सम्पादक / लेखक	प्रकाशन
मीमांसान्याय प्रकाश	आपदेव	चौ॰ सं॰ सी॰ आ॰ वाराणसी, 1921
मीमांसाबालप्रकाश	भट्टशंकर	चौ॰ सं॰सी॰आ॰ वाराणसी, 1902
मीमांसाशाबरभाष्य (भाग - 1)	शबरस्वामी	सोनीपत, हरियाणा, 1970
वेदान्त परिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र	गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, स्टीम प्रेस कल्याण, बम्बई, सं॰ 1979
शाबरभाष्य	शबरस्वामी	आनन्दाश्रम ग्रन्थालय पूना, 1931
वेदान्त परिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र	चौ॰सं॰सी॰आ॰ वाराणसी, 1954
शाबरभाष्य व्याख्या	प्रभाकरमिश्र	चौ॰सं॰सी॰आ॰ वाराणसी 1956
शास्त्रदीपिका	पार्थ सारथि मिश्र	श्री साधुबेला संस्कृत महाविद्यालय वाराणसी, 1977
श्लोक वार्तिक	कुमारिलभट्ट	चौ॰सं॰सी॰आ॰ वाराणसी, 1940
वेदान्तसार	सन्तनारायण श्रीवास्तव	पीयूष प्रकाशन, इलाहाबाद, 1968
मानमेयोदय	नारायण पण्डित एवं नारायण भट्ट	आड्यार लाइब्रेरी एवं शोध संस्थान 1975
मीमांसादर्शनम्	जैमिनि मुनि	भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1979
तत्वचिन्तामणि	भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी	सम्पूर्णानन्द सं॰ वि॰ विद्यालय, वाराणसी, 1976
सर्व दर्शनसंग्रह	सायण माधव	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1978

ग्रन्थ नाम	सम्पादक / लेखक	प्रकाशन
{घ} न्याय ग्रन्थ -		
न्याय सूत्र	गौतम	पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर, 1883
न्याय कुसुमाञ्जलि	हरिदास भट्टाचार्य	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1962
न्याय मुक्तावली {दिनकरी एवं तरङ्गि-टीका सहित}	हरिराम शुक्ल	चौ॰ सं॰ सी॰ आ॰ वाराणसी 1972
न्याय मुक्तावली {शब्द खण्ड}	अशोक चन्द्र गौड़ शास्त्री	आयुर्य प्राच्य विद्या प्रकाशन संस्थानम्, 1977
न्याय मञ्जरी	जयन्त भट्ट	चौ॰ सं॰ सी॰ आ॰ वाराणसी 1936
शक्तिवाद	गदाधर	हरिदास सं॰ स॰ बनारस 1984
व्युत्पत्तिवाद	गदाधर	चौ॰ सं॰ सी॰ आ॰ वाराणसी 1973
तर्कसंग्रह	पं॰ आनन्द झा	कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय दरभंगा, 1984
तर्कभाषा	केशव मिश्र	साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार मेरठ 1971
तर्कामृतम्	जगदीशतर्कालङ्कार	चौखम्बा विद्याभवन॰ वाराणसी, 1973
न्याय परिशुद्धि	श्री निवासाचार्य	चौ॰ सं॰ सी॰ आ॰ वाराणसी 1918
भाषा रत्न	कणादतर्कवागीश	कलकत्ता संस्कृत साहित्य परिषद् भवन, 1936

ग्रन्थनाम	सम्पादक / लेखक	प्रकाशन
शब्दशक्ति प्रकाशिका	जगदीशतर्कालङ्कार	चौखम्बा सं० सी० आ० वाराणसी 1973
न्याय दर्शन वात्स्यायन भाष्य सहित	गङ्गानाथ झा	चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस 1925
समास शक्ति दीपिका	दीनबन्धु झा	कामेश्वर सिंह विश्वविद्यालय दरभंगा वि० सं० 2023
न्याय वार्तिक	विन्देश्वरी प्रसाद द्विवेदी	ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली 1986

(च) आलोचना ग्रन्थ
(हिन्दी संस्कृत)

ग्रन्थनाम	सम्पादक / लेखक	प्रकाशन
व्यञ्जना विमर्श	डा० रविशंकर नागर	वन्दना प्रकाशन दिल्ली 1977
भर्तृहरि	अनु० डा० रामचन्द्र द्विवेदी	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर 1981
संस्कृत व्याकरण दर्शन	रामसुरेश त्रिपाठी	राजकमल प्रकाशन दिल्ली 1972
व्याकरण की दार्शनिक भूमिका	डा० सत्यप्रकाश वर्मा	मुंशीराम मनोहर लाल नई दिल्ली 1971
अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन	डा० कपिलदेव द्विवेदी	हिन्दुस्तान एकेडेमी, इलाहाबाद 1951
व्याकरण दर्शन प्रतिभा	रामाज्ञा पाण्डेय	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी 1979
व्याकरण दर्शन पीठिका	रामाज्ञा पाण्डेय	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी 1982

ग्रन्थनाम	सम्पादक / लेखक	प्रकाशन
व्याकरण दर्शनेन भूमिका	रामाज्ञा पाण्डेय रा	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी
पदपदार्थ समीक्षा	डा॰ बल्देव सिंह	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र 1969
शब्द-बोध विमर्श:	डा॰ बद्रीनाथ सिंह	डा॰ बद्रीनाथ सिंह गोदौलिया वाराणसी 1971
भूषणसार-परमलघु मञ्जूषयो: सिद्धान्तानां समीक्षा	डा॰ राममनोहर मिश्र	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1983
पाणिनीय व्याकरणे प्रमाण समीक्षा	डा॰ रामप्रसाद त्रिपाठी	वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय 1972
वैयाकरणानामन्येषां च मतेन शब्द स्वरूप तच्छक्तिविचार:	डा॰ कालिका प्रसाद शुक्ल	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी 1979
व्यञ्जनाप्रपञ्च समीक्षा	मुकुन्द माधव शर्मा	चौखम्बा ओरियण्टालिया वाराणसी, 1979
अभिधा विमर्श	योगेश्वरदत्त शर्मा	ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली 1980
निरुक्तमीमांसा	शिवनारायण शास्त्री	इण्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी वि॰सं॰ 2026
ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त	डा॰ भोलाशंकर व्यास	नागरी प्रचारिणी सभा काशी वि॰ सं॰ 2013
संस्कृत काव्यशास्त्र में लक्षणा का उद्भव तथा विकास	ठाकुर दत्त जोशी	राजस्थानी ग्रन्थाकार जोधपुर, 1986

ग्रन्थ नाम	सम्पादक / लेखक	प्रकाशन
(छ) काव्य ग्रन्थ		
शिवराज विजय	पं॰ अम्बिकादत्त व्यास	
वासवदत्ता	सुबन्धु	श्री रङ्गम् 1906
दशकुमारचरितम्	दण्डी	मोतीलाल बनारसीदास प्रेस दिल्ली 1967
कादम्बरी	वाणभट्ट	निर्णयसागर प्रेस बम्बई 1948
हर्षचरितम्	बाणभट्ट	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 1973
अभिज्ञानशाकुन्तलम्	कालिदास	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 1981
(ज) शोध प्रबन्ध		
अभिधा और लक्षणा शब्द वृत्तियों का शास्त्रीय अध्ययन	अविनाशचन्द्र	इलाहाबाद विश्वविद्यालय 1979
संस्कृत चिन्तन पद्धति में लक्षणा का स्वरूप	अनिल कुमार सिन्हा	इलाहाबाद विश्वविद्यालय 1987
प्रमाणों के सन्दर्भ में वेदान्त परिभाषा तथा श्लोक वार्तिक का तुलनात्मक अध्ययन	निवेदिता	इलाहाबाद विश्वविद्यालय 1988
जयन्त भट्ट कृत नारायण मंजरी का शब्द खण्ड - एक आलोचनात्मक अध्ययन	शङ्कर दयाल द्विवेदी	इलाहाबाद विश्वविद्यालय 1981
पाणिनीय व्याकरण पद्धति में स्फोट का स्वरूप	चन्द्रभानु त्रिपाठी	इलाहाबाद विश्वविद्यालय 1981

ग्रन्थ नाम	सम्पादक / लेखक	प्रकाशन
ञ-कोशग्रन्थ		
वाचस्पत्यम्	तारानाथ भट्टाचार्य	चौ॰सं॰सी॰आ॰ वाराणसी 1962
न्यायकोश।	भीमाचार्य	भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना 1978
मीमांसा कोश	केवलानन्द सरस्वती	प्राज्ञपाठशाला मण्डल वई जिला सतारा सन् 1953
अमरकोश	ए॰ए॰ रामानाथन	आड्यार लाइब्रेरी रिसर्च सेण्टर 1971
हलायुध कोश	दयाशङ्कर जोशी	हिन्दी समिति, सूचना विभाग उ॰प्र॰ लखनऊ 1967
ट- काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ		
काव्य प्रकाश	मम्मट	ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी, 1960
साहित्य दर्पण	विश्वनाथ	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली 1970
साहित्यसार	अच्युतराय	निर्णय सागर प्रेस बम्बई, 1906
ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 1963

ठ-पत्र पत्रिकायें

क्वार्टली जर्नल आफ माइथिक सोसाइटी बंगलौर वाल्यूम 1929 - 30

जर्नल आफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी वाल्यूम 82 अक्टू0 - दिसम्बर 1962

जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी लन्दन 1924

द जर्नल आफ आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी 1931